मालवीयजी के लेख

मालवीयजी के लेख

सम्पादक

पं० पद्मकान्त मालवीय

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

दिल्ली

भूमिका

मुझे यह देखकर बड़ी ही प्रसन्नता होती है कि महामना मालवीयजी के शताब्दी-समारोह के अवसर पर मालवीयजी के लेखों का संग्रह प्रकाशित करने का विचार किया गया। जिस प्रकार सरस्वती की वह धारा जो प्रयाग में गुप्त रही और काशी में प्रगट हुई—मालवीयजी की लेखनी से निकली यह सरस्वती भी अभी तक हमसे छिपी रही जो अब प्रकाश में आ रही है।

मालवीयजी को सरस्वती का वरदान ही प्राप्त नहीं था, उनकी वाणी और लेखनी में साक्षात् सरस्वती विराजती थी। इसीलिए उनकी वाणी से जो भी शब्द निकला, जन-मन पर उसका प्रभाव पड़ा और उनकी लेखनी से जो कुछ भी आलेखित हुआ, वह साहित्य की शाश्वत निधि बन गया। मालवीयजी के लेखों के सम्बन्ध में कुछ लिखना व्यर्थ होगा, क्योंकि उनमें मालवीयजी की वाणी स्वयं मुखरित है; उनके शब्दों में मालवीयजी की प्रतिभा प्रकाशित है और उनमें उनके जीवन का अनुभव समाया हुआ है।

देश की स्थिति के अनुसार उस समय उन्होंने राष्ट्रीयता का जो सन्देश हमें दिया है, आज भी हम उससे लाभ उठा सकते हैं। देश के नेता और हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में उन्होंने विद्यार्थियों को जो सीख दी, वह आज भी सभी विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। 'अभ्युदय' के सम्पादक बनकर वे देश और समाज को अभ्युदय की ओर ले गए। एक सच्चे ब्राह्मण के रूप में उन्होंने जो उपदेश दिये, उनमें भारतीय आत्मा और संस्कृति बसती थी।

मालवीयजी का व्यक्तित्व महान् था, उनका पांडित्य भी वैसा ही प्रखर था, किन्तु उन श्वेत वस्त्रधारी महामना मालवीयजी के जीवन में शरद् की चाँदनी जैसी सौम्यता और शीतलता भी थी। मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी शैली में भी स्पष्ट हो जाता है और इन विविध लेखों में भी मालवीयजी के व्यक्तित्व का एक समग्र रूप हमें दिखायी देगा।

मुझे पूरी आशा है कि सभी इस लेख-संग्रह से पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे। मैं तो मालवीयजी की पुण्य स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि ही भेंट कर सकता हूँ।

राष्ट्रपति-भवन,
नई दिल्ली—४

—राजेन्द्रप्रसाद

अप्रैल १४, १९६२
चैत्र २४, १८८४ (शक)

समर्पण

महामना मालवीयजी के प्रियतम शिष्य
सच्चे अर्थों में उनके उत्तराधिकारी
और
उनकी सजीव प्रतिमूर्ति
श्रद्धेय राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन
के कर-कमलों में
उनके प्रातःस्मरणीय गुरु
महामना महर्षि मालवीयजी महाराज
की यह कृति
उनके जन्मशती-समारोह के शुभ अवसर पर
अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक
सादर समर्पित है !
'त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये'
की भावना के साथ

द्रौपदीघाट,
प्रयाग
१३. १२. ६१

—**पद्मकान्त मालवीय**

प्राक्कथन

वसन्त-पंचमी का दिन महामना मालवीयजी महाराज को अत्यन्त प्रिय था। पराधीनता के पतझड़-काल में फिर से वसन्त की बहार लाने के लिए जो-जो भी प्रयत्न किये, जितनी भी साधनाएँ कीं, उनमें से अधिकांश का प्रारम्भ उन्होंने वसन्त-पंचमी के शुभ दिन से ही किया था। वह स्वयं भी तो कामदेव को लजाने वाले ही थे न? काशीजी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना उन्होंने वसन्त-पंचमी के दिन ही की थी। हिन्दू विश्वविद्यालय सम्बन्धी अपने विशालतम यज्ञ की पूर्ति के लिए अपनी आत्मा की आवाज़ सोयी हुई भारतीय जनता के कर्ण-कुहरों तक पहुँचाना ज़रूरी था। और इस महान् आधुनिक व्यास ने अपने देश और जाति के सर्वांगीण अभ्युदय की कामना से अपने महान् पूर्वज व्यासदेवजी के—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

अर्थात्

उठिये, जगिये, होइये, आशु कार्य-संलग्न।
होगा निश्चय राखिये, सदा सफल शुभ यत्न॥

वाले मंत्र को अपना मूल मंत्र बना और उनके स्वर में अपना स्वर मिलाकर वसन्त-पंचमी के शुभ दिवस को आज से चौवन वर्ष पूर्व, सन् १९०७ में, तीर्थराज प्रयाग में हिन्दी-साप्ताहिक 'अभ्युदय' को जन्म दिया था। 'अभ्युदय' उनके विचारों का वाहन बना। माघ-शुक्ल पूर्णिमा, संवत् १९६३ को प्रकाशित होने वाले 'अभ्युदय' के प्रथम अंक के प्रथम लेख "नमो धर्माय महते, धर्मो धारयते प्रजाः" में 'अभ्युदय' शब्द में 'भ' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने उस समय लिखा था :—"इसका दूसरा अक्षर 'भ' हमको सबसे पहले उन्हीं भगवत की भक्ति का स्मरण दिलाता है, जिन्होंने कहा है 'न मे भक्तः प्रणश्यति', और जो भक्ति हमको सबसे अधिक प्रार्थनीय है। फिर हमको यह भूति का, लक्ष्मीजी का, स्मरण दिलाता है और कहता है—'भूत्यै न प्रमदितव्यम्!'

कि जिन बातों से तुम्हारे देश की सम्पत्ति बढ़े, उसके विषय में सचेत रहो ! फिर यह सबको भारत, भगवद्गीता, भागवत, भागीरथी, भारती, भाषा और भारतवर्ष का स्मरण दिला कर आत्मा को आप्यायित करता है और यह उपदेश करता है कि यदि देश का अभ्युदय चाहते हो तो भारत, भगवद्गीता, और भागवत का उपदेश कण्ठ में धारण करो ; भगवान्, भागीरथी, भारती, भाषा, भारतवर्ष में भक्ति करो ; भागीरथी के पवित्र तट पर भारती की उपासना का बडा मन्दिर, एक विश्वविद्यालय बनाओ और संस्कृत एवं भाषा के द्वारा विद्या का प्रचार करो तथा भारतवर्ष के गौरव की पुनः स्थापना के लिए यत्न करो !"

इस दिशा में मालवीयजी ने स्वयं यत्न करना प्रारम्भ किया और 'अभ्युदय' द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने महान् साधना की। भगवान् ने भक्त की पुकार सुनी और वसन्त-पंचमी १६१६ के अंक में 'अभ्युदय' ने "सोने का दिन" लेख द्वारा सारे संसार में 'भागीरथी के पवित्र तट पर भारती की उपासना का बड़ा मन्दिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्थापना' की घोषणा कर अपना दसवाँ जन्म-दिन भी मनाया। हिन्दू विश्वविद्यालय के गगन-चुम्बी विशाल प्रासादों में 'अभ्युदय' का इतिहास हो या न हो, किन्तु 'अभ्युदय' के जराजीर्ण पत्रों में हिन्दू विश्वविद्यालय का इतिहास अवश्य है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय संगमरमर के पत्थर के साथ रक्खे हुए ताम्र-पत्र पर अंकित है—

धर्मं सनातनं वीक्ष्य, कालवेगेन पीडितम्।
भूतले दुर्व्यवस्थं च व्याकुलं मानवं कुलम्॥
काशीक्षेत्रे पवित्रेऽत्र, गंगातीरे महोदया।
शुभेच्छापुण्यसम्पन्ना, संजाता जगदात्मनः॥
संगमय्याथ पाश्चात्याः प्राच्याश्चापि प्रजा निजाः।
तच्छ्रेष्ठानां विधायैकमत्यं सुमतिलक्षणम्॥
विश्वनाथपुरे विश्वजनीनो विश्वभावनः।
विश्वात्मा कारयेद् विश्व-विद्यापीठं व्यवस्थितम्॥
निमित्तमात्रभूतस्तु, समीहायाः परेशितुः।
मालवीयो देशभक्तो विप्रो मदनमोहनः॥
निधाय वाङ्मयं तेजस्तस्मिन्ननुदबोध्य भारतम्।
प्रह्वीकृत्यापि तच्छास्तॄनऽस्मिन्नर्थे व्यधात्प्रभुः॥ इत्यादि

अपने 'अभ्युदय' के जीर्ण पत्रों में इस विप्र मदनमोहन ने स्वयं हर्षित होकर गाया था—

जयतु विश्वविद्यालय काशी !

मातु गंग पय जाहि पियावत, मूल धम सुखराशी ।
पालत विश्वनाथ विद्या-गुरु, शंकर अज अविनाशी ।।
ज्ञान-विज्ञान प्रकाशी !
गंग जमुन संगम विच देवी, गुप्त रही चपला सी ।
ईस-कृपा तें सोई सरस्वति, वाराणसी प्रकाशी ।।
तिमिर-अज्ञान-विनाशी !
ऋषि-मुनि सँग नृपमंडल सोहत, उच्छव परम हुलासी ।
देत असीस फलहु अरु फूलहु, सब विधि भारतवासी ।।
लहहु विद्या-धन-राशी !

(८ जुलाई १६१६)

विश्वविद्यालय तो बन गया; पर वह भी तो उस उद्देश्य-विशेष की प्राप्ति के लिए एक निमित्त-मात्र था, जिस उद्देश्य से 'अभ्युदय' का प्रकाशन प्रयाग के उस तपःपूत ब्राह्मण ने किया था—अर्थात् भारतवर्ष के गौरव का पुनःस्थापन। विश्वविद्यालय की स्थापना-मात्र से तो वह उद्देश्य पूरा होने वाला नहीं था। और फिर मालवीयजी के सपने भी तो महान् थे। 'अभ्युदय' के प्रथम अंक के मुख्य लेख में ही उन्होंने कह दिया था—

"हमारी अभिलाषा मन्द नहीं है। पृथ्वी-मंडल पर जितने पर्वत हैं, उनमें सबसे ऊँचा नगाधिराज हिमालय है। उसका सबसे ऊँचा धवल शिखर पृथ्वी के सब पर्वतों की धवल चोटियों के ऊपर आकाश को शोभित करता है। हमारी प्रार्थना और अभिलाषा है, और परमेश्वर उसको पूरी करेगा, कि हमारे देश का अभ्युदय पृथ्वी के किसी और देश के अभ्युदय से किसी अंश में कम न रहे, वरन् चढ़ा-बढ़ा रहे, जैसे कि हिमगिरि के शिखर अन्य पर्वतों के शिखरों से चढे-बढ़े हैं।"

ऐसे महान् व्यक्ति के ऐसे महान् सपने केवल विश्वविद्यालय की स्थापना-मात्र से तो पूरे होने के नहीं थे। उस महात्मा का तो नारा था—

"सबको रोटी, सबको काज।
अपने देश में अपना राज!"

जो आज सारे देश का नारा बना हुआ है। उनकी अभिलाषा और प्रार्थना तो थी ही, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि परमेश्वर उसे पूरा भी करेगा, कि उनके देश का अभ्युदय पृथ्वी के किसी और देश के अभ्युदय से किसी अंश में कम न रहे वरन् चढ़ा-बढ़ा ही रहे और आज यही सारे देशनिवासियों की अभिलाषा और प्रार्थना है। इस अभिलाषा को पूर्ण करने में ऐसी महान् अभिलाषा रखने वाले महात्मा के ये लेख सहायक होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। कम से कम इनसे

यह तो ज्ञात होता ही है कि उस धर्मात्मा महामना की कामनाएँ क्या थीं, उनके सपने का भारत कैसा था !

'अभ्युदय' मालवीयजी का आत्मा था। सन् १९०७ और १९०८ में उन्होंने स्वयं उसका सम्पादन किया। उस समय उनके सहायक थे राजर्षि बाबू पुरुषोत्तम दासजी टंडन और मालवीयजी के परम मित्र स्वर्गीय पं० श्रीकृष्णजी जोशी के सुपुत्र स्वर्गीय पं० सत्यानन्द जोशी, जिन्होंने १९०९ में मालवीयजी की कार्य-व्यस्तता के कारण उसका सम्पूर्ण सम्पादन-भार भी सँभाला था। सन् १९०९ में विजयादशमी को मालवीयजी ने जब अँगरेज़ी दैनिक 'लीडर' की स्थापना की और जोशीजी को 'लीडर' में जाना पड़ा, तो 'अभ्युदय' का सम्पादन-भार मेरे पूज्य पिता पं० कृष्णकान्तजी मालवीय को सौंपा गया। तब से लेकर बीच के दो-ढाई वर्षों (सन् १९१६-१७ और १८) को छोड़कर, जबकि उसके सम्पादक पं० वेंकटेशनारायणजी तिवारी नियुक्त हुए थे, सन् १९३० तक वही उसके सम्पादक रहे। दिसम्बर सन् १९३० में जब मैं जेल से छूटकर आया उस समय 'अभ्युदय' के सभी पूर्व सम्पादक, (जोशीजी के अतिरिक्त, जो उस समय प्रान्तीय सरकार के सूचना-विभागाध्यक्ष थे) जेल में थे, आदिसम्पादक मालवीयजी समेत। मेरी अवस्था अधिक नहीं थी। मेरा जन्म ६ अगस्त, १९०८ का है। दिसम्बर सन् ३० में २२-२३ वर्ष का तो था ही, पर मजबूरन मुझे ही 'अभ्युदय' का सम्पादन-भार सँभालना पड़ा। तब से सन् १९३४-३५ के छः-छः महीनों को छोड़कर, जब उसका संपादन-भार पूज्य पं० वेंकटेशनारायणजी तिवारी तथा पिताजी के हाथों में था, सन् १९४८ तक अधिकांशतया 'अभ्युदय' मेरे ही हाथों में रहा। पूज्य मालवीयजी जब बहुत प्रसन्न होते थे तो कभी-कभी कह देते थे—"यह गर्व की बात है कि अभ्युदय ने तीन पीढ़ियाँ देख ली।"

'अभ्युदय' मुझे इसलिए सौंपा गया था कि मुझसे आशा थी कि मैं उसे जीवित रख सकूँगा। मुझे लज्जा है कि अपनी अयोग्यता के कारण मैं ऐसा न कर सका और 'अभ्युदय' आज बन्द है। हरि-इच्छा ! शायद ठीक भी हुआ। आज के व्यापारिक युग में एक गरीब ब्राह्मण की बिसात ही क्या ! महामना के शती-समारोह के इस शुभ अवसर पर मैंने अपना धर्म समझा कि और कुछ नहीं, तो कम से कम उनके लेखों का एक संग्रह तो प्रकाशित कर ही दूँ। ये लेख आधी शताब्दी से अधिक पहले के लिखे हुए है, पर इनमें मालवीयजी की आत्मा बोल रही है इसलिए ये चिर-नवीन, शाश्वत और प्रेरणादायक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। इन्हें पढ़कर हम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की अपनी प्रगति का मूल्यांकन कर सकते हैं और आगे के लिए मार्ग-दर्शन भी पा सकते हैं। मालवीयजी की आत्मा को पहचानने के लिए भी इन लेखों का पठन-पाठन, अध्ययन और मनन आवश्यक है।

'अभ्युदय' निजी सम्पत्ति है। इस समय वह मेरे हाथों में है। इस शुभ अवसर पर उसका कुछ अंश जनता-जनार्दन में बाँटते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। मुझे विश्वास है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

अन्त में मैं अपने पूज्य राष्ट्रपति महामहिम डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ कि उन्होंने अपनी रुग्णावस्था में भी लेख-संग्रह की भूमिका लिख देने का कष्ट स्वीकार किया। 'अभ्युदय' पर उनका सदा से स्नेह रहा है। सन् १९३६ में उन्होंने मेरे आग्रह पर 'अभ्युदय' को दिये गए अपने एक संदेश में लिखा था—

"पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीयजी की इतनी कृतियाँ हैं कि उनमें से किसी एक को चुनकर निकालना और उसे गौरव देना कठिन है। उन्हीं में से एक सर्वोत्तम कृति हिन्दी की सेवा है। उसी सेवा-भाव ने 'अभ्युदय' का जन्म आज से तीस वर्ष पहले दिलवाया और उसने बराबर देश और हिन्दी की सेवा की है। हम चाहते हैं कि उसकी दिनों-दिन उन्नति होती जाय और वह अपने देश-सेवा के व्रत को अधिकाधिक योग्यता और सफलता के साथ पूरा करे!"

पूज्य मालवीयजी की एक सर्वोत्तम कृति 'अभ्युदय' के प्रारम्भिक काल के स्वयं मालवीयजी-लिखित सर्वोत्तम लेखों के इस संग्रह की भूमिका लिखने के सर्वोत्तम अधिकारी भी वही हैं—ऐसा मानकर ही मैंने उन्हें यह कष्ट दिया है। मुझे विश्वास है कि मेरे साथ-साथ हमारे पाठक भी उनके प्रति कृतज्ञता अनुभव करेंगे।

इन थोड़े से शब्दों के साथ मैं यह पुस्तक पाठकों के हाथों में रखता हूँ।

श्री कृष्णार्पणमस्तु!

१ पोनप्पा रोड,
द्रौपदी घाट, प्रयाग
१३. १२. ६१

—पद्मकान्त मालवीय

क्रम

१

'नमो धर्माय महते, धर्मो धारयते प्रजाः'

'अभ्युदय' का विज्ञापन जब से प्रकाशित हुआ तब से कई मित्रों ने हम से कहा कि इसका उच्चारण करना कठिन है और इसका अर्थ सब लोग नहीं जानते। यह सच है कि जो हमारे भाई संस्कृत से परिचय नहीं रखते, उनको इसका उच्चारण करना अभी कुछ कठिन मालूम होगा। और हमको निश्चय है कि जिन्होंने अरबी और अंगरेजी के बड़े कठिन शब्दों को शुद्ध रीति से उच्चारण करने में प्रशंसा पायी है उन हमारे हिन्दू भाइयों को इस कोमल संस्कृत-शब्द का उच्चारण करना बहुत समय तक कठिन न मालूम होगा। यह बात निश्चय है कि अंगरेजी के शब्दों का शुद्ध उच्चारण जैसा हिन्दुस्तान के लोग करते हैं वैसा योरुप के अंगरेज़ों से भिन्न जाति के लोग नही कर सकते। अब रहा इसका अर्थ। उसको हमने पहिले ही लेख में स्पष्ट कर दिया है और हमको आशा है कि वह थोड़े ही समय में बहुत लोगों को विदित हो जायेगा।

o o o

हमको विश्वास है कि संस्कृत के प्रेमियों को इस शब्द में विशेष प्रीति होगी। हम जितना ही इस पर विचार करते हैं उतना ही हमको यह सुखमय, कल्याणमय और उपदेशमय प्रतीत होता है।

सुख-समृद्धि का अर्थ तो यह पुकार ही रहा है। देखना चाहिए कि और-और किन-किन अच्छे भावों को यह शब्द उत्पन्न कर सकता है। इसका पहला अक्षर 'अ' अखिल लोक की उत्पत्ति और रक्षा करने वाले, समस्त कल्याणों के निधान, परम कारुणिक, सर्वशक्तिमान् विष्णु भगवान् का सूचक है जिनके स्मरण-मात्र से सब पाप दूर होते हे और मन में पवित्र भाव और मंगलकारी वासनाएँ प्रवृत्त होती हे।

२
अभ्युदय

"अस्तु मे कृष्ण-पद्म-शरणम् ।"

अभ्युदय का अर्थ है सब ओर से उदय—ऊपर उठना । देश के अभ्युदय का अर्थ है—देश का, अर्थात् देश के निवासियों का, सब ओर से उदय । स्थायी सुख-संपत्ति और प्रभाव उसके चिह्न और परिणाम हैं । सुख धन से होता है । धन धर्म से, सदाचार से, विद्या और बुद्धि की वृद्धि से होता है । विद्या और बुद्धि धर्म के आवश्यक अंग हैं । मनु भगवान् के समय से तत्त्वदर्शी इस विषय में एक-मत हैं । इसलिए विद्या और बुद्धि की वृद्धि करना हमारा परम कर्तव्य है । बिना उसके धर्म पूरा नहीं हो सकता, बिना उसके धन नही हो सकता, बिना उसके सुख नही हो सकता ।

देश के थोड़े-से मनुष्यों को सुख प्राप्त होने से देश का अभ्युदय नहीं कहा जा सकता । जब देश के सब सामर्थ्यवान् और पाप से बचे मनुष्यों को सुख प्राप्त हो और वह सुख देश में स्थायी हो, क्षणिक न हो, और प्रभाव के साथ युक्त हो, तभी उस देश के विषय में कहा जा सकता है कि उसका अभ्युदय हुआ है । सुख स्थायी तभी हो सकता है जब वह धर्म से उत्पन्न हो और धर्म से रक्षित हो । अधर्म से उत्पन्न सुख अथवा अधर्म से रक्षित सुख, जैसा अन्याय या अत्याचार से, चोरी वा बरजोरी से पाये हुए धन का सुख, अपने से ही बल वा असहायों पर न्याय-विरुद्ध अधिकार के व्यवहार से उत्पन्न सुख, धर्म वा नीति के विरुद्ध विषय-भोग का सुख, स्थायी नहीं होता है और परिणाम उसका विष से भी अधिक कड़वा होता है । इसलिए अभ्युदय में प्रथम धर्म, द्वितीय बिना धर्म के विरोध के उपार्जित धन, और तृतीय धर्म और अर्थ के विरोध बिना प्राप्त होने वाला काम, अर्थात् विषय-सुख, आवश्यक हैं । इन्हीं तीन को प्राचीन आचार्यों ने त्रिवर्ग कहा है । प्रभाव की इसलिए आवश्यकता है कि

इसका दूसरा अक्षर भ् हमको सबसे पहिले उन्हीं भगवत् की भक्ति का स्मरण दिलाता है जिन्होंने कहा है—'न मे भक्तः प्रणश्यति' ; और जो भक्ति हमको सबसे अधिक प्रार्थनीय है। फिर हमको यह भूति का, लक्ष्मीजी का, स्मरण दिलाता है और कहता है—भूत्यै न प्रमदितव्यम् !—कि जिन बातों से तुम्हारे देश में सम्पत्ति बढ़े, उनके विषय में सचेत रहो। फिर यह सबको भारत, भगवद्गीता, भागवत, भागीरथी, भारती, भाषा और भारतवर्ष का स्मरण दिलाकर आत्मा को आप्यायित करता है; और यह उपदेश करता है कि यदि देश का अभ्युदय चाहते हो, तो भारत, भगवद्गीता और भागवत का उपदेश कंठ में धारण करो, भगवान्, भागीरथी, भारती, भाषा और भारतवर्ष में भक्ति करो, भागीरथी के पवित्र तट पर 'भारती' की उपासना का बड़ा मन्दिर, एक विश्वविद्यालय, बनाओ और संस्कृत एवं भाषा के द्वारा विद्या का प्रचार करो तथा भारतवर्ष का गौरव-स्थापन करने के लिए फिर यत्न करो।

O O O

मिले हुए तीसरे और चौथे अक्षर 'इ' और 'उ' प्रथम अक्षर 'अ' के साथ महेश्वर के प्रथम सूत्र अ इ उ ण् का स्मरण दिलाते यह चेताते हैं कि विद्या के प्रचार ही से तुम्हारा कल्याण होगा और उसके लिए तुमको सब प्रकार से यत्न करना चाहिए कि देश में कोई बालक और बालिका निरक्षर न रहे।

O O O

पाँचवाँ अक्षर 'द' उपनिषद् के 'दाम्यत दत्त दयध्वं' को स्मरण दिलाकर उपदेश करता है कि अपने मन और इन्द्रियों को वश में करो। सत्कार्य के लिए, विद्या की वृद्धि के लिए, दुखियों का दुःख दूर करने के लिए, सत्पात्र को दान दो और सब जीवों पर दया करो।

O O O

अन्त का अक्षर 'य' यज्ञ का स्मरण दिलाता है और उपदेश करता है कि अपने देश के लिए अपना तन, मन, धन जहाँ जिसकी आवश्यकता हो, होम करो। यह यज्ञ-पुरुष परमेश्वर के प्रसन्न करने का उत्तम उपाय है। ये सब विचार हम अपने पाठकों को आज प्रथम भेंट में अर्पण करते है और आशा करते हैं कि इनको वे प्रेम से स्वीकार करेंगे।

(माघ-शुक्ल पूर्णिमा, सं० १९६३)

२
अभ्युदय

"अस्तु मे कृष्ण-पद्म-शरणम् ।"

अभ्युदय का अर्थ है सब ओर से उदय—ऊपर उठना। देश के अभ्युदय का अर्थ है—देश का, अर्थात् देश के निवासियों का, सब ओर से उदय। स्थायी सुख-संपत्ति और प्रभाव उसके चिह्न और परिणाम है। सुख धन से होता है। धन धर्म से, सदाचार से, विद्या और बुद्धि की वृद्धि से होता है। विद्या और बुद्धि धर्म के आवश्यक अंग हैं। मनु भगवान् के समय से तत्त्वदर्शी इस विषय में एक-मत हैं। इसलिए विद्या और बुद्धि की वृद्धि करना हमारा परम कर्तव्य है। बिना उसके धर्म पूरा नहीं हो सकता, बिना उसके धन नहीं हो सकता, बिना उसके सुख नही हो सकता।

देश के थोड़े-से मनुष्यों को सुख प्राप्त होने से देश का अभ्युदय नहीं कहा जा सकता। जब देश के सब सामर्थ्यवान् और पाप से बचे मनुष्यों को सुख प्राप्त हो और वह सुख देश में स्थायी हो, क्षणिक न हो, और प्रभाव के साथ युक्त हो, तभी उस देश के विषय में कहा जा सकता है कि उसका अभ्युदय हुआ है। सुख स्थायी तभी हो सकता है जब वह धर्म से उत्पन्न हो और धर्म से रक्षित हो। अधर्म से उत्पन्न सुख अथवा अधर्म से रक्षित सुख, जैसा अन्याय या अत्याचार से, चोरी वा बरजोरी से पाये हुए धन का सुख, अपने से ही बल वा असहायों पर न्याय-विरुद्ध अधिकार के व्यवहार से उत्पन्न सुख, धर्म वा नीति के विरुद्ध विषय-भोग का सुख, स्थायी नहीं होता है और परिणाम उसका विष से भी अधिक कड़वा होता है। इसलिए अभ्युदय में प्रथम धर्म, द्वितीय बिना धर्म के विरोध के उपार्जित धन, और तृतीय धर्म और अर्थ के विरोध बिना प्राप्त होने वाला काम, अर्थात् विषय-सुख, आवश्यक हैं। इन्हीं तीन को प्राचीन आचार्यों ने त्रिवर्ग कहा है। प्रभाव की इसलिए आवश्यकता है कि

हम अपने सुख की वृद्धि और रक्षा कर सकें और उस पर और लोग आघात करने का साहस न करें; यदि करें तो हम अपनी-अपनी बुद्धि, वीर्य और उत्साह से अपने को उस चोट से बचा सकें। यह धर्म और धन से होता है। जिन उपायों से हमारे देश-बन्धु त्रिवर्ग का साधन कर सकें, जिन उपायों से वे सुखी और सम्पन्न, धनवान् और धर्मवान्, बलवान् और प्रतापवान् हों, उन उपायों के जन्म, स्थिति और वृद्धि में सहायक होना इस पत्र का उद्देश्य है। अभ्युदय इसका नाम इसलिए रक्खा गया है कि जैसा यह ईप्सित अर्थ को प्रकाश करता है, वैसा दूसरा शब्द नहीं करता।

हमारी अभिलाषा मन्द नहीं है। पृथ्वी-मंडल पर जितने पर्वत है, उनमें सबसे ऊँचा पर्वत नगाधिराज हिमालय है। उसका सबसे ऊँचा धवल शिखर पृथ्वी के सब पर्वतों की धवल चोटियों के ऊपर आकाश को शोभित करता है। हमारी प्रार्थना और अभिलाषा है, और परमेश्वर इसको पूरी करेगा, कि हमारे देश का अभ्युदय पृथ्वी के किसी और देश के अभ्युदय से किसी अंश में कम न रहे, वह चढ़ा-बढ़ा रहे, जैसा कि हिमगिरि के शिखर और पर्वतों के शिखरों से चढ़े-बढ़े हैं। हमारा देश नूतन अभिज्ञात, ऐसा देश जिसका कल पता लगा हो, नहीं है। इसके वासी अमेरिका के पश्चिमीय हिन्द के नाम से प्रसिद्ध देश के निवासियों के समान सभ्यता-विहीन नहीं है। हमारा देश प्राचीन है और उस समय में सभ्यता के शिखर को चूम चुका है जब कई और देशों के लोग जंगलों में नगे घूमते थे वा असभ्य रीति से अपना जीवन बिताते थे। कालचक्र की गति में पड़ हम बहुत नीचे गिर गए है—किन्तु अब जब हमको फिर चेतना हुई है और अपने योग्य दशा में पहुँचने की इच्छा हुई है तो हम अपने प्राचीन पुनीत आर्य कुल और अपने पूर्वजों की उन्नत दशा के विचार से, तथा अपने और अन्य देशों के भाइयों की वर्तमान उन्नति की दशा के विचार से, और सबसे ऊपर अपने परम कल्याण के विचार से किसी ऐसे अभ्युदय से संतुष्ट नहीं हो सकते, जो ऊँची से ऊँची उन्नति की दशा से कुछ भी नीचा हो। हम अमेरिका और इंग्लैड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, ग्रीस, इटली आदि देशों की उन्नति का इतिहास पढ़ते हैं।

पुस्तकों के द्वारा और समाचार-पत्रों के द्वारा तथा कहीं-कहीं अपने नेत्रों से हम लोग देख रहे हैं कि हमारे इन देशों के बसने वाले भाई नित्य-नित्य उन्नति के सोपान पर ऊपर से ऊपर चढ़ते चले जाते हैं। जितना ही ये हमसे ऊपर चढ़ गए हैं और चढ़े जा रहे हैं, उतना ही ये हमको नीचे, और नीचे छोड़ते चले जाते हैं। अपने पुरुषार्थ और अपनी उन्नति से वे हमको लजा रहे

है और बड़ी प्रबल रीति से हमको उपदेश कर रहे है कि हम अपनी गिरी दशा से अपना उद्धार करें। ऐसी दशा में यह संभव नही कि हम अपनी वर्तमान दशा में संतुष्ट रहें। हमारे हृदय के भीतर से भी हमको कोई शक्ति प्रेरणा कर रही है कि जो उन्नति उन भाग्यवान् देशों ने की है उसी उन्नति के लिए हम यत्न करें।

उसी उन्नति की हमको अभिलाषा है। इतना ही नही, हम उससे कुछ अधिक भी चाहते है। उन देशों में केवल धन की उन्नति होने से कुछ दोष भी उत्पन्न हुए हैं। हम चाहते हैं कि जिस प्रकार चीनी की चाशनी में दूध के छीटे डालकर उसके मैल को काटते और उसको पवित्र करते है, उसी प्रकार केवल धन की उन्नति के दोषों से अपने देश-बान्धवों को बचाने और उनको मनुष्यत्व के पूरे महत्त्व को पहुँचाने के लिए उनकी सबसे उत्कृष्ट आध्यात्मिक उन्नति भी हो, जिसके द्वारा वे और-और जातियों को भी आध्यात्मिक उन्नति के पथ में अपने साथ लेकर समस्त ससार का असीम उपकार करें। अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान में मनुष्यों को अपने पुरुषत्व की ऊँची से ऊँची अवस्था को पहुँचने के लिए बहुत अवसर और सुभीते हैं। उनको उन देशों में अपने पुरुषत्व के अनेक गुणों को पूरा प्रकाश करने और देश की सेवा करने का पूरा अवसर है। वे स्वच्छन्द है और मर्यादा के अनुसार अपने ऊपर शासन करते हुए अपने देश और जाति का विभव और गौरव बढ़ाते है। हम चाहते हैं कि हमारे देश-बन्धु हमारे इंग्लैंड-निवासी भाइयों के बराबर स्वाधीनता का सुख अनुभव करें और अपने देश में आप शासन करें। वस्तुतः हमारा पूर्ण अभ्युदय तभी होगा, जब हमको उतनी ही स्वाधीनता और सामर्थ्य प्राप्त होगी, जितनी हमारे उन देशों के भाइयों को है।

समुद्र के किसी टापू पर लहरों से फेका हुआ असहाय, अकेला, तन-छीन, बलहीन मनुष्य जो हिमालय के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर पहुँचने का मनोरथ करे तो उसका वह मनोरथ उतना उपहास के योग्य नही मालूम होगा, जितना हमारा अपनी वर्तमान दशा में ऊपर लिखे मनोरथों का प्रकाश करना; किन्तु जैसा हमको विश्वास है कि ईश्वर है, वैसा ही हमको यह निश्चय है कि हमारे ये मनोरथ पूरे हो सकते है और एक दिन पूरे होगे। केवल एक शर्त है कि हम मिथ्या अभिमान को छोड़कर शुद्ध धर्म की बुद्धि से धैर्य के साथ अपने कर्तव्य को करें!

उपायों का विचार

देश के अभ्युदय की अभिलाषा में देशहितैषी सब एकमत हैं; परन्तु उसके सिद्ध करने के क्या उपाय हैं और देश, काल, अवस्था के विचार से हमको किन उपायों का अवलंबन करना चाहिए, इसमें कुछ मतभेद है।

किन उपायों से देश को अभ्युदय प्राप्त होगा, उसके विचार के प्रारम्भ में हमको एक बात स्पष्ट रीति से समझ लेनी उचित है। प्रत्येक देश या जाति का अभ्युदय मूल में उसकी प्रजा के आत्म-पौरुष पर निर्भर है। कोई राजा वा शासन किसी देश की प्रजा को अभ्युदित नहीं कर सकता, जब तक उस देश की प्रजा अपने पौरुष को पूर्ण रीति से काम में न लावे। किन्तु राजा वा शासन प्रजा को अपना अभ्युदय-सम्पादन करने में बहुत सहायता भी दे सकता है और उनके मार्ग में बहुत विघ्न भी डाल सकता है। हमारे मनोरथ बड़े ऊँचे है। उनका पूरा करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है और बहुत समय माँगता है। इसमें सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जितनी शक्तियाँ इस देश में वर्तमान है उन सबसे, जहाँ तक मिल सके, हम धन्यवादपूर्वक सहायता लें। अविवेक वा दुराग्रह से, पक्षपात वा मूर्ख-अभिमान से, यदि हम किसी ऐसी शक्ति को अपने इस पुनीत मनोरथ के पूरा करने में सहायक बनाने में चूकते है वा निष्कारण अपनी विरोधिनी बनाते हैं, तो हम उस अंश में देश के प्रति अपराधी होते है।

इस समय इस देश में दो बड़ी शक्तियाँ है। एक बड़े प्रबंध से बँधी, प्रबल, विस्तृत, गवर्नमेंट की शक्ति जो देश का सौ करोड़ के लगभग कर वसूल करती है और उसका देश-संबंधी कार्यों में व्यय करती है और देश की एक सीमा से दूसरी सीमा तक अपने बनाये नियमों से प्रजा का शासन करती है। दूसरी शक्ति प्रजा की है, जिसकी सत्ता को सोच कर हम आशावान् है और जो हमारे हृदय के बलवान् होने की कारण है, किन्तु जिसको हम अधिक से अधिक वर्णन करें तो उसे अभी माँ की गोद से उतरे हुए बालक की शक्ति से अधिक नही कह सकते, जो अब भी भूख-प्यास मिटाने और अपने को शीत-घाम से बचाने की भी सामर्थ्य नही रखता। हमारी सर्व प्रार्थना और सब यत्न इस बात के लिए हैं और होने चाहिएँ कि वह शक्ति दिन-दिन बढ़े। ईश्वर करे, यह बढ़े! किन्तु इस भाव के साथ हमको यह नही मान लेना चाहिए कि वह दूसरी बड़ी शक्ति अवश्य ही हमारे इन मनोरथों में बाधक और विरोधिनी है। यदि हम निष्पक्ष विचार से देखेंगे तो वर्तमान अवस्था में उसको हम बहुत अंशों में हमारे अभ्युदय की सामग्री एकत्र करने के लिए आवश्यक और सहायक पायेंगे। और

यदि हम बिना अपनी ऊँची अभिलाषा को मंद किये और बिना देश-भक्त सज्जनों को उचित स्वतंत्रता को छोड़े अपनी ओर से गवर्नमेंट के प्रति मित्र-भाव से बरतेंगे तो हम गवर्नमेंट को अपनी उन्नति और अभ्युदय में अब से अधिक सहकारी बना सकेंगे। यह हमारा दृढ़ विश्वास है। परन्तु मान भी लिया जाय कि गवर्नमेंट हमारे इन मनोरथों के पूरा करने में सहायक नही होगी, तो भी हमारा यह धर्म है कि हम निष्कारण ऐसी बातें न करें जिनसे गवर्नमेंट का और हमारा विरोध बढ़े। वह हमारे अभ्युदय में सहायक नही होगा। यदि हमारा कर्तव्य करने में गवर्नमेंट हमसे विरोध माने भी, तो हम केवल उस पर खेद-प्रकाश करेगे, गवर्नमेंट के अविवेक से हम अपने कर्तव्य के करने में शिथिल न होंगे। इसलिए अपने देश की उन्नति और अभ्युदय के उपायों को सोचने और प्रकाश करने में हमारा यह यत्न रहेगा कि गवर्नमेंट और प्रजा इन दोनों की शक्तियों को जहाँ तक अनुकूल और नियुक्त कर सकें, करें। हमको विश्वास है कि इस मार्ग में दृढ़ता-पूर्वक चलते हुए हम अपने देश की उत्तम से उत्तम सेवा कर सकेंगे।

(माघ-शुक्ल पूर्णिमा, सं० १९६३)

३
चेतावनी

बहुकृत्ये निरुद्योगी जागर्तव्ये प्रसुप्तकः ।
विश्वस्तत्वं भयस्थाने हा पुत्रक ! विहन्यसे ॥

अर्थ : काम बहुत करना है, तुम कुछ उद्योग नही कर रहे हो। जागने का समय है, तुम सोते हो। भय का स्थान है और तुम विश्वास किये बैठे हो कि कुछ भय नहीं है। हाय बेटा ! तुम मारे जाते हो।

श्री व्यासदेवजी का यह वचन भारतवर्ष की वर्तमान दशा में पूर्ण रूप से घटित होता है। एक समय था कि भारतवर्ष भूलोक का भूषण था। विद्याओं की उत्पत्ति यहाँ हुई, धर्मों का जन्म यहाँ हुआ, कलाओं की कल्पना यहाँ हुई; इन बातों को विदेशी लोग भी अब मानने लगे है।

विद्याओं की जन्मभूमि

जर्मनी के बड़े विद्वान् डाक्टर टीवो, जो गत वर्ष तक प्रयाग में म्युअर कालेज के अधिभ्राता थे और जो योरुप की विद्याओं में निपुण है और संस्कृत के भी बड़े विद्वान् हैं, उन्होंने सन् १८७५ के एशियाटिक सोसायटी के पत्र में सिद्ध किया है कि रेखागणित का शास्त्र, जिसकी जन्मभूमि योरुप के लोग यूनान देश को मानते थे, यह भारतवर्ष में वैदिक यज्ञों-वेदियों की रचना से उत्पन्न हुआ था, और इसके प्रमाण में उन्होंने शुल्व-सूत्र का निर्देश किया है, जिसको योरुप के विद्वान भी यूनान् के शास्त्रों से बहुत प्राचीन मानते हैं। इसमें कोई विवाद नही है कि यूनान के शास्त्रकारों का जन्म होने से सैकड़ों वर्ष पहले वे सूत्र भी विद्यमान थे और उनसे भारतवर्ष के लोग रेखागणित की शिक्षा और व्यवहार करते थे। ज्योतिष-शास्त्र की जन्मभूमि भी, योरुप के प्रमुख विद्वान् डाक्टर टीवो, भारतवर्ष को ही मानते हैं और उनका सिद्धान्त है कि वैदिक यज्ञों

के समय का निश्चय करने के लिए तारा-मंडल के ज्ञान की आवश्यकता हुई, इससे इस शास्त्र की उत्पत्ति हुई। इस बात को भी अब सब विद्वान् मानते हैं कि जो गणित की रीति और अंक योरुप में प्रचलित हैं, उनका प्रचार वहाँ मुसलमान लोगों ने किया, और मुसलमान मानते हैं कि उन्होंने अंकों को हिन्दुस्तान से सीखा—अंकों का नाम ही मुसलमानों के यहाँ हिन्दसा है। इस बात के प्रमाण भी मिल गए है कि आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ चरक और सुश्रुत संहिताओं का अरबी में उल्था हुआ और मुसलमानों का जिस समय योरुप में राज्य था, उस समय उन्होंने इन संहिताओं के सिद्धान्तों का और क्रियाओं का वहाँ प्रचार किया। सांख्य, न्याय, मीमांसा, व्याकरण इत्यादिक शास्त्रों का जन्म इस देश में होने के विषय में तो किसी को भी संदेह नही हो सकता। इसमें भी कोई संदेह नही है कि रामायण, महाभारत और भागवत के समान अद्भुत ग्रन्थ किसी दूसरे देश में नही रचे गए।

धर्मों की जन्मभूमि

धर्मों में भारतवर्ष के सनातन धर्म के अतिरिक्त मुख्य धर्म बौद्ध, जैन, ईसाई और मुहम्मदी हैं। इनमें से बौद्ध और जैन धर्म तो भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुए और ईसाई धर्म के विषय में अब इस बात के प्रमाण मिलते जाते है कि ईसामसीह के समय में बौद्ध भिक्षुओं के संघ ईसामसीह के देश में विद्यमान थे और ईसामसीह को उनके धर्म के सिद्धान्त और आचार पहुँचे थे। इस विषय का प्रतिपादन श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त ने 'भारत के प्राचीन इतिहास' में ऐसे प्रमाणों से किया है जिसको योरुप के विद्वानों को भी मानना पड़ता है। जिन लोगों ने ईसाई और बौद्ध दोनों धर्मो के ग्रन्थ पढ़े है, वे कह सकते है कि ईसाई और बौद्ध धर्म में कोई अन्तर नही है, और यह कह सकते है कि ईसाई धर्म में कोई उत्तम बात ऐसी नही है जो बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में नहीं मिलती। मुहम्मदी धर्म की उत्पत्ति के समय में ईसाई धर्म भली-भाँति प्रचलित था और मुसलमान लोग ईसाइयों के धर्म की 'तौरेत' नामक संहिता को मानते है, और ईसा-मूसा इत्यादिक नबियों को भी मानते हैं।

कलाओं की जन्मभूमि

योरुप के विद्वान् अब यह भी मानते हैं कि चित्रकर्म, मूर्त्ति-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, आभूषण-रचना, संगीत, नाट्य इत्यादिक शिल्प और कला भारतवर्ष में उन समयों में उच्च कोटि को पहुँचे हुए थे, जब योरुप में विद्याओं

ग्रौर कलाग्रों का ग्रारम्भ भी नहीं हुग्रा था। बम्बई-हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश सर जार्ज बर्डवुड ने एक पत्र में लिखा है कि लोहा-ताँबा इत्यादिक धातु बहुत प्राचीन समयों में कहीं नही थे, उनकी बनाने की विधि का ग्राविष्कार उन ग्रार्य लोगों ने किया, जिनकी कुल-परम्परा में भारत के ऋषि ग्रौर ग्राचार्य हुए।

क्या थे, क्या हो गए !

विचार करने की बात है कि जब गणितविद्या ग्रर्थात् पाटी-गणित, बीज-गणित, रेखागणित ग्रौर लोहा-ताँबा इत्यादिक धातुग्रों की प्रक्रिया विदित न होती तो लोक की क्या ग्रवस्था होती ! कहाँ रेल होती, कहाँ तार होता, कहाँ ग्रौर यंत्र होते ग्रौर कहाँ योरुप-ग्रमेरिका की सभ्यता होती ! इतिहास, काव्य, नाटकादिक इस देश के ग्रंथों से ग्रौर यूनान-चीन ग्रादि देशों के विद्वान् जो इस देश को प्राचीन काल में देख गए, उनके लेखों के पढने से कोई संदेह नहीं रहता कि भारतवर्ष में ग्रतुल सम्पत्ति थी। यहाँ बड़े समृद्ध नगर ग्रौर जनपद थे; बड़े-बड़े प्रासाद, दुर्ग, देवालय, उद्यान, विहार, विद्यापीठ ग्रौर कला-भवन थे। बड़े-बड़े विद्वान्, तपस्वी ग्रौर तेजस्वी ब्राह्मण थे; बड़े-बड़े शूरवीर प्रतापी क्षत्रिय थे; बड़े-बड़े व्यवसायी, ग्राढ्य ग्रौर उदार वैश्य थे; बड़े-बड़े प्रवीण शिल्पी ग्रौर परिश्रमी कृषक थे। जिस देश में यह सब सामग्री हो, वहाँ विभव ग्रौर ऐश्वर्य क्यों न हो !

परन्तु ग्रब एक समय ऐसा ग्राया है कि जिन ब्राह्मणों ने संसार को धर्म ग्रौर विद्या दी, उनकी सन्तानों को रोटी दुर्लभ है। जो क्षत्रिय राज्यों के शासन करते थे, उनकी सन्तानों को जोतने को खेत दुर्लभ है। जो वैश्य राजा-महा-राजाग्रों को ऋण देते थे, उनकी सन्तानों को जीविका दुर्लभ हो गई है। कहार पाँच रुपये महीने मे ढूंढ़ने से मिलता है, ब्राह्मण-क्षत्रिय चार रुपये की जीविका के लिए मारे-मारे फिरते है। ब्राह्मणो को पंखा-कुली का, ठाकुरों को ड्यौढ़ी-वान् का काम ढूंढ़ने से मिलता है। कभी नही भी मिलता। भारतवर्ष दुर्भिक्ष-पीड़ित ग्रौर व्याधिग्रस्त है। जितने मनुष्यों के प्राण देकर जापान ने रूस ऐसे विशाल राष्ट्र को परास्त करके जगत् को चकित कर दिया, उनसे ग्रधिक मनुष्यों के प्राण भारतवर्ष में एक वर्ष के दुर्भिक्ष या प्लेग में जाते हैं। तीस करोड़ प्रजा में से करोड़ों को पेट-भर रूखा ग्रन्न भी नही मिलता। सो क्यों ? क्या भारतवर्ष में इतना ग्रन्न नहीं उपजता कि भारतवासी पेट भर खायें ? उपजता तो है, पर बहुत-सा देशान्तरों को चला जाता है। यह क्यों चला जाता है ?

न जाय तो देशान्तरों से जो कपड़ा चीनी, लोहा, ताँबा, पीतल, काँच, छतरी, जूते, टोपी, औषध इत्यादि अनेक वस्तु आती है वे कैसे आवें ! ये वस्तुएँ क्या भारतवर्ष में नहीं बन सकतीं ? बन सकती है और बना करती थी, कौन-सी वस्तु है जो भारतवर्ष में नहीं बन सकती ? पर भारतवासी तो सोते है, जागें तो बनावें ।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, संवत् १९६३)

४
हमारे ऊपर उठने के उपाय

फ्रांस के प्रसिद्ध सम्राट् नेपोलियन ने कहा है कि जिस पुरुष में जितनी योग्यता है, उससे जो कोई पूरा काम लेना चाहे तो उसके उत्साह को भंग न करे, वरन् वह जितने के योग्य हो उससे अधिक योग्यता उसमें बतलावे। सेना में कायरों से वीरों का काम लेना चाहे तो बार-बार उनसे कहे कि तुम बड़े वीर हो। जिन गुणों को किसी के चित्त में उत्पन्न करना चाहे, तो उससे कहे कि ये गुण तुम में भरे है।

भारतवर्ष की वर्तमान शोचनीय अवस्था के मुख्य कारणों में से एक यह भी कारण है कि सैकड़ों वर्षों तक विदेशी राज्यों के आधीन रहकर हम लोग शक्तिहीन हो गए है और हम लोगों को एक प्रकार का विश्वास-सा हो गया है कि हम बड़े काम करने के योग्य नही रह गए। बार-बार हम लोगों से कहा जाता है कि हम लोगों में शासन करने की शक्ति नही है। शक्ति यदि नही है तो हो कहाँ से? कहा है कि 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'—अर्थात् जैसे हम कार्य करेगे, वैसी ही हमारी बुद्धि भी होगी। यदि एक भाई डाक्टर या वकील हो और दूसरा किसी दफ्तर में एक छोटा क्लर्क हो तो दोनों की बुद्धि और विचारों में बहुत अन्तर होगा। एक की विद्या की तो दिन-दिन उन्नति होगी, उसका उत्साह दिन-दिन बढ़ता जायेगा, और दूसरे की केवल इतनी ही इच्छा रह जायेगी कि मेरे ५० रुपये के ८० रुपये हो जायें। आवश्यकता पड़ने पर आदमी ऐसे काम कर दिखाता है जैसे कामों का उससे होना सम्भव नही दीख पड़ता था। कई युवा पुरुषों का दृष्टान्त देखने में आया है कि जो अपने पिता के जीवन तक घर का कार्य कुछ नहीं कर सकते थे। न तो वे एक पैसे का सौदा लाते थे और न लाना जानते थे। किन्तु अब जब उनके पिता का देहान्त हो गया और सब गृहस्थी का भार उनके सिर पड़ा तो उन्होंने बड़ी उत्तमता के

साथ घर का काम चलाया। एक-दो वर्ष पहले तक हमको मालूम न था कि भारतवर्ष में बिजली की कलें, काँच के बर्तन, फोनोग्राफ की चूड़ियाँ, टेलिस्कोप बन सकेंगे। किन्तु अब ये सब चीजें देखने में आने लगी है और नित्य नई चीजें प्रगट हो रही है। कारण यह है कि लोगों को स्वदेशी चीज़ों के लेने की इच्छा बढ़ी और उसकी आवश्यकता पड़ी; और जब किसी चीज़ की आवश्यकता पड़ती है तो उनको उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है।

आजकल जो हम संसार में सब देशों से सब बातों में पीछे है, उसका यह कारण नहीं है कि हम किसी काम के योग्य नहीं है। कारण यह है कि हमें बड़े काम करने के अवसर नही मिलते। जिस जाति के पूर्वजों ने ऐसे दर्शन लिखे है कि जिनको देखकर मैक्सम्युलर इत्यादि जर्मनी के भारी विद्वान् कहते है कि बुद्धि में चक्कर आने लगता है; जिस जाति में भीम-अर्जुन ऐसे महारथी वीर हो गए है, जिनने इतना धन एकत्र किया कि दूर-दूर देशों से लोग धन के लालच से यहाँ आये; वह जाति क्या कर नही सकती! आवश्यक यह है कि पहले तो हम लोग इस नपुंसक विचार को दूर करें कि हम लोग किसी योग्य नहीं है। इसके स्थान में पुरुष के योग्य यह विश्वास अपने हृदय में दृढ़ करें कि हम भी एक ऊँचे कुल के संतान है। जो कोई अच्छा काम कोई किसी दूसरी जाति का पुरुष कर सकता है, वह हम भी कर सकते है। इस विश्वास से, सच्चे हृदय से अपने पौरुष पर भरोसा कर, काम करना आरम्भ करें। यदि तुरन्त सफलता न हो, तो धीरज न छोड़ें और अपना निरादर न करें। मनु भगवान् ने कहा है—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥

अर्थात् समृद्धि, सुख, सम्पत्ति के लिए यत्न करता ही जाय; और यदि यत्न सफल न हो तो यह न मान बैठे कि हमको समृद्धि हो ही नही सकती। मरने तक समृद्धि के लिए यत्न करता जाये और उसको दुर्लभ न समझे।

इस दृढ़ विश्वास से जब हम अच्छे कामों में उद्योग करेंगे, तब फिर हमारे दिन फिरेंगे और हमारे देश का वैभव और गौरव बढ़ेगा!

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सम्वत् १९६३)

५
मर्यादा के अनुसार आन्दोलन

पिछली एक संख्या में हम लिख चुके हैं कि हम चाहते हैं कि हमारे देश-बन्धु अपने देश में वही सुख-स्वाधीनता और अधिकार पावें जो इंग्लैड के निवासियों को उनके देश में प्राप्त हैं। और हम लिख चुके है कि इस ऊँचे और दु:साध्य मनोरथ की सफलता के लिए यत्न करने में हमको राजा और प्रजा दोनों की शक्तियों से काम लेना चाहिए। कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि हमारी जाति के अभ्युदय में गवर्नमेट हमारी किसी तरह भी सहायक नही हो सकती। इसलिए हमको न केवल उसकी सहायता के भरोसे नही रहना चाहिए, बल्कि उससे किसी प्रकार का संबध नही रखना चाहिए; और जहाँ हम उससे सहायता लेते भी आये हैं वहाँ भी उसके संबंध और सहायता का त्याग करना चाहिए। जो कोई पुरुष पक्षपात छोड़ कर देश की दशा और आवश्यकता पर, गवर्नमेंट के कार्य और क्रम पर विचार करेगा, उसको स्पष्ट हो जायेगा कि यह मत देश के लिए कल्याणकारी नही है। यह आवश्यक है कि हर एक विचारवान् पुरुष इस विषय पर पूरी रीति से विचार करे।

हम चाहते है कि हमको वही स्वाधीनता और अधिकार मिलें और हम अपने देश में वैसा ही शासन करें, जैसा अंगरेज अपने देश में करते है। इसके मिलने के दो ही उपाय हो सकते है। एक तो बल से युद्ध में मर कर और मार कर उसके लिए बाहु-बल, धन-बल, बुद्धि-बल और सेना-बल चाहिए। इंग्लैड के लोग बिना युद्ध के अपना इस देश का साम्राज्य नही छोड़ेंगे। हमारी दुर्बल, दरिद्र, सब प्रकार से दया के योग्य दशा में उसकी चर्चा करना पागलपन और पाप होगा; और सामर्थ्य की दशा में आर्यों का यह धर्म है कि जहाँ तक हो सके युद्ध के शोचनीय परिणामों को सोच कर उससे देश को बचाने का यत्न करें। दूसरा उपाय यह है कि न्याय के अविरुद्ध उन उपायों से, जिनसे अंगरेज़ स्वयं

अपनी देश की गवर्नमेंट से काम कराते हैं, हम अंगरेज़ी गवर्नमेंट से वे सब स्वत्व और अधिकार पावें, जो अंगरेज़ों को प्राप्त है। कुछ लोगों का ख्याल है कि यह अनहोनी बात है। वे कहते है कि जो अधिकार अंगरेज़ों ने इस देश पर जमा रक्खा है उसको वे कभी ढीला या कम न करेंगे और हिन्दुस्तानियों को अपने बराबर स्वतंत्रता न देंगे। औरों का यह विश्वास है कि जिन अधि-कारों को हम चाहते हैं उनमें से कोई ऐसा अधिकार नहीं है जो हम मर्यादा के अनुसार आन्दोलन करके अंगरेज़ों से न पा सकेंगे। उनका विश्वास है कि अंग्रेज़ी गवर्नमेंट धीरे-धीरे, यद्यपि बहुत समय में और बहुत अनिच्छा से, हमको उन सब अधिकारों को देगी जिनको हम चाहते है, यदि हम अपने को उसके योग्य बनावेंगे और उनके पाने के लिए प्रजा की मिली हुई राय का पूरा ज़ोर गवर्नमेंट पर डालेंगे। यह पुरानी कहावत बिलकुल सच है कि हर जाति या क़ौम के लोगों को वह गवर्नमेंट या शासन-प्रणाली मिलती है जिसके लायक वे होते है। जिस समय हम अपने को इस योग्य बना लेंगे कि इंग्लैंड हमको वे सब अधिकार दे जो अंगरेज़ों को प्राप्त है, उस समय इंग्लैंड को हमें वे अधिकार देते ही बनेगा। हमारे योग्य होने का यह अर्थ है कि न केवल हमको उन अधिकारों को ठीक तौर पर काम में लाने की और उनसे देश के हित के कामों को करने की बुद्धि और योग्यता हो, अपितु यह भी कि हमारे हृदय में उनके पाने की ऐसी प्रबल अभिलाषा हो कि बिना उनके पाये हम अपने को सुखी न माने और उनके पाने के लिए जितना सुख और स्वार्थ का त्याग करना ज़रूरी हो, उसके करने को तैयार हों। अपने को, अपने देश के भाइयों को ऐसा योग्य बनाना हमारा काम है। इसमें हमको अपने पौरुष को पूरे तौर पर काम मे लाना चाहिए और उसी का भरोसा करना चाहिए।

जिस देश में प्रजा को बोलने की स्वतंत्रता और सभा-समाज करने की स्वतंत्रता है, उस देश में मर्यादा के अनुसार आन्दोलन के असर की कोई हद नही और अन्त में ज़रूर इसकी जय होती है। अंगरेज़ी राज्य में ये दोनों अधिकार हमको प्राप्त है। ब्रिटिश पार्लमेंट ने और ब्रिटेन की महारानी और महाराजा ने अपने क़ानून और घोषणा-पत्र (प्राक्लेमेशन) में यह अमिट प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि हिन्दुस्तान के लोग जाति या धर्म या रंग के अन्तर के कारण किसी उस अधिकार के पाने से वचित न रक्खें जावेंगे जिसके वे योग्य होंगे।

यह दुःख से पूर्ण सच है कि बर्ताव में इन प्रतिज्ञाओं का पालन अभी तक पूरा नहीं किया जाता और हम लोगों का बहुत अनादर किया जाता है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने देश-भाइयों में उनके अधिकारों का ज्ञान फैलाकर

उनकी मिली हुई राय की शक्ति को जहाँ तक बढ़ा सकें, बढ़ाकर उसका पूरा ज़ोर गवर्नमेंट पर डाल कर इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार काम करावें। इसमें भी हमको फल-सिद्धि सहज में नहीं मिलेगी। माँगते ही हमको अधिकार नहीं मिल जायेंगे। इसके लिए हमको एक कठिन संग्राम करना होगा, और वह संग्राम बहुत दिन करना पड़ेगा। उस संग्राम में हमको अपने पौरुष, अपनी वीरता, अपने धीरज, अपने सत्य और न्याय के प्रेम, अपनी देशभक्ति, अपने स्वार्थ-त्याग और कहीं-कहीं अपने सर्वस्व-त्याग करने की योग्यता को स्थापित करना होगा। कितने यह संग्राम करते-करते गिर जायंगे, कितने कुचल जायंगे। बाप प्रारम्भ करेगा, बेटा उसको जारी रक्खेगा, पोते-परपोते विजय पायेंगे या वे भी संग्राम जारी रखने का भार अपने लड़कों को छोड़ जायंगे। किन्तु वह संग्राम शान्ति का संग्राम होगा। न उसमें हमको न्याय का उल्लंघन करना पड़ेगा, न किसी ओर से अस्त्र-शस्त्र चलेगा और न रुधिर गिरेगा। इस मर्यादायुक्त संग्राम में हमारा पक्ष सदा इस बात से प्रबल रहेगा कि हम सत्य और न्याय पर क़ायम हैं और जिन अधिकारों को हम माँगते हैं, उनके विषय में, जिनसे हम इनको माँगते हैं, अर्थात् अंगरेज़ी पार्लमेंट और अंगरेज़ों के एक से अधिक राजा और रानी यह स्वीकार कर चुके है कि हम उनके अधिकारी हैं। इतना उनका स्वीकार कर लेना हमारी एक अंश जीत है और बाक़ी जीत में बहुत सहायक है। इसका लाभ छोड़कर विरोध-भाव से अपने अधिकारों के पाने का विचार करना घोर मूर्खता होगी और हमको देश के प्रति अपराधी बनावेगी।

कुछ लोगों को यह सुनकर अचरज मालूम होता होगा कि अंगरेज़ यह स्वीकार कर चुके हैं कि हम, हिन्दुस्तान की अंगरेज़ों की प्रजा, उन सब अधिकारों की अधिकारी हैं जो इंग्लैंड में इंग्लैंड के लोगों को प्राप्त हैं। देश-भक्त भारत-संतानों के शिरोमणि पूजनीय दादाभाई नौरोजी ने पिछली कांग्रेस में अपने सभापति के व्याख्यान में इस बात को साफ कर दिया है। उन्होंने यह दिखाया है कि जब अंगरेज़ों ने बम्बई प्राप्त किया था, उस समय जो गवर्नमेंट इंग्लैंड में थी, उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को चार्टर अधिकार-पत्र देने में यह साफ कह दिया था—

Extract from the 'Grant to the First East Indian Company of the island of Bombay, dated 27th March 1669.'

"And it is declared that all persons being His Majesty's subjects inhabiting within the said island and their children and their posterity born within the limits thereof shall be deemed free denizens and natural subjects as if living and born in England."

इसका तात्पर्य यह है—"और यह प्रतिज्ञा की जाती है कि वे सब लोग जो श्रीमान्—ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड के राजा—की प्रजा हों और बम्बई के टापू में बसते हों और उनके बाल-बच्चे और संतान जो उस टापू की सीमा के भीतर पैदा हों, वैसे स्वतंत्र नागरिक और अन्तर्जात प्रजा समझे जायँगे, मानो वे इंग्लैंड में रहते हों और पैदा हुए हों।"

मि० दादाभाई ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस अधिकार-पत्र में यह भी लिखा है कि जो कुछ अधिकार इसमें बम्बई के टापू की प्रजा को दिये गए हैं वे उन सब देशों की प्रजा को पहुँचेंगे जो आगे चलकर अँगरेज़ी गवर्नमेंट के अधिकार में आवेंगे। इस प्रकार से हिन्दुस्तान के लोगों का जब से इंग्लैंड से पहला राजनैतिक संबंध हुआ है तब से अँगरेज लोग यह मानते आये हैं कि इंग्लैंड के अधिकार में आते ही हिन्दुस्तान के लोग उन सब स्वत्वों के अधिकारी हो जाते हैं जिसके इंग्लैंड के स्वतत्र लोग अधिकारी है, ऐसा कि मानो ये इंग्लैंड में रहते हों और पैदा हुए हों।

इसके उपरान्त १८५८ में श्रीमती महारानी विक्टोरिया ने इस देश का राज्य हाथ में लेने के समय जो घोषणा-पत्र प्रकाश किया, उसमें बहुत साफ़ तौर पर कह दिया कि "हम मानती हैं कि हमारे अपने हिन्दुस्तान के राज्य के निवासियों के प्रति वे ही कर्तव्य और धर्म है जो हमारी और सब प्रजा के प्रति है। और इन कर्तव्यों को सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर के अनुग्रह से हम दृढ़ भक्ति और शुद्ध भाव से पूरा करेंगी।" १८७७ में जब श्रीमती रानी विक्टोरिया को महारानी का ख़िताब दिया जाने को था, उन्होंने लार्ड लिटन को एक तार भेजा था। जो भरे दरबार में पढ़ा गया था इसमें महारानी ने कहा था—"हम चाहती हैं कि ऊँचे से ऊँचे से लेकर नीचे से नीचे जो हमारे शासन में रहते हैं, वे ऐसा अनुभव करें कि स्वतंत्रता, समता और न्याय के बड़े सिद्धान्त उनको प्राप्त हैं। अर्थात् कि इन सिद्धान्तों के अनुसार उनसे बर्ताव किया जायगा और इनका लाभ वे उठा सकेंगे। और यह कि उनके सुख बढ़ाना, उनको सम्पन्न करना और उनके कल्याण की वृद्धि करना हमारे साम्राज्य के सर्वदा उपस्थित रहने वाले उद्देश्य और अभिप्राय हैं।"

जब श्रीमान् महाराज एडवर्ड राज-सिंहासन पर बैठे, तब उन्होंने भी कहा है कि "हम श्रीमती महारानी विक्टोरिया के उदार उदाहरण का अनुकरण करेंगे और अपने हिन्दुस्तान की सब श्रेणी की प्रजा के कल्याण के लिए यत्न करेंगे।" फिर १९ फरवरी, सन् १९०६ को श्रीमान् महाराज एडवर्ड ने कहा है कि "हमारी यह गाढ़ आशा है कि इन उपनिवेशों में जैसा कि सर्वत्र हमारे

राज्य-भर में स्वतंत्र विधानों के दिये जाने से हमारी प्रजा में दिन-दिन संपत्ति और राज्य-भक्ति की वृद्धि होगी।" इस विषय का अधिक विस्तार करना ज़रूरी नहीं मालूम होता। जो ऊपर लिखा गया है, उससे हर एक पुरुष को यह निश्चय हो जाना चाहिए कि हिन्दुस्तान की अँगरेज़ी गवर्नमेंट की प्रजा उन सब अधिकारों के पाने की अधिकारी है जो इंग्लैंड के स्वतंत्र जनों को प्राप्त हैं। इनका प्राप्त करना हमारी योग्यता, हमारी एकता, हमारे यत्न और उत्साह पर निर्भर है।

(फाल्गुन-कृष्ण अमावस्या, संवत् १९६३)

६

विद्यार्थी और राजनीति

इस समय जहाँ-तहाँ इस बात की चर्चा हो रही है कि विद्यार्थियों को राजनीति में हाथ डालना चाहिए कि नहीं। इस विषय में इस प्रान्त के एक सम्मानित विद्वान् ने हमको एक पत्र भेजा है जिसको हम और स्थान में प्रकाश करते हैं। उनका यह मत है कि विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहना चाहिए। इस विषय में बहुत दिनों से दो मत चले आते हैं। सन् १८९४ में कांग्रेस के समाप्त होने पर मद्रास में एक बड़ी सर्वसाधारण सभा में इस विषय में विचार हुआ था। बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा कई अन्य सज्जनों ने यह राय प्रकाश की थी कि विद्यार्थियों को राजनीति में हाथ डालना चाहिए। और लोगों का, जिन में मदनमोहन मालवीय भी थे, मत इसके विरुद्ध था। मिस्टर गोखले ने प्रयाग में जो व्याख्यान विद्यार्थियों को दिया, उसमें उन्होंने बहुत अच्छी रीति से उनको उपदेश किया कि उनको राजनीति में हाथ नहीं डालना चाहिए। मि० गोखले ने कहा कि विद्यार्थी का प्रथम धर्म है कि वह विद्याभ्यास में अपने समय और विचार को लगावे। दूसरा धर्म है कि वह अपने चरित्र को बनावे। तीसरा धर्म है कि अपने साथ के पढ़ने वालों में प्रीति बढ़ावे। और चौथा धर्म है कि देश-सम्बन्धी जो बातें देश में हो रही हों, उनमें जी लगावे, उनको समझता जाये और विचारता जाये; किन्तु उनके विषय में राय देने और कर्त्तव्य काम करने का धर्म, समाज के बड़े, अर्थात् अवस्था-प्राप्त, लोगों का है। इसमें विद्यार्थियों को दख़ल नहीं देना चाहिए। जब विद्या पूरी करके गृहस्थ होंगे या संसार में काम करने लगेंगे, तब राजनीति में हाथ डालना उनका धर्म होगा और उसका उनको बहुत अवसर मिलेगा। यही मत ठीक है।

मनु भगवान ने लिखा है :

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।

कि विद्यार्थी को चाहिए उन सब कामों को छोड़ दे जो उसके स्वाध्याय, विद्या-अध्ययन में, विघ्न डालने वाले हैं। और सामान्य दशा में एकाएक यही नियम पालन करना उचित है। दशा-विशेष में, जब देश में कोई ऐसी भारी विपत्ति आ पड़े कि उसके हटाने के लिए तुरन्त उद्योग करना सब धर्मों से बड़ा धर्म हो जाय, उस समय बड़े-बूढ़ों के साथ विद्यार्थी और बालकों को भी अपने सामान्य धर्म को रोककर, उसके लिए उद्योग करना धर्म होगा। सामान्य दशा में विद्या का अभ्यास करना, चरित्र को पुष्ट करना, देश के हित-अनहित की बातों का ज्ञान सब प्रकार से बढ़ाना और अपनी बुद्धि, वाणी एवं शरीर को पुष्ट करना, और इस प्रकार से अपने को देश की सेवा के लिए तैयार करना विद्यार्थी का परम धर्म है। यही उसके लिए आगे चलकर देश की उत्तम से उत्तम सेवा करने का मार्ग है। देशभक्ति और देश की सेवा करने का उत्साह सब दशा और सब अवस्था के लोगों में 'बालक, युवा, जरठ नर-नारी' सब में होना चाहिए। और विद्यार्थियों की शिक्षा का यह एक अंग है कि उनमें दिन-दिन देश-भक्ति और देश की सेवा करने का उत्साह बढ़े। यदि यह उनमें नहीं बढ़ता, तो उनकी शिक्षा दोषी है; और उनके बड़ों का धर्म है कि जिस प्रकार से यह उनमें बढ़े, उसका यत्न करें। किन्तु जब तक वे विद्यार्थी की दशा में है, तब तक उनको उस दशा के धर्मों का उत्तम से उत्तम रीति से पालन करने में ही देश-भक्ति और देश का उत्साह दिखाना चाहिए। और सदा यह भाव चित्त में रखना चाहिए कि हम अपने को ऐसा योग्य बनावें कि हम अपने देश की अच्छी सेवा कर सकें तथा अपनी विद्या, अपने चरित्र और अपनी देश-भक्ति से अपने देश का गौरव बढ़ा सकें।

o o o

हम इसके विरुद्ध नहीं हैं, बल्कि सर्वथा अनुकूल हैं, कि विद्यार्थी अपने नियत अध्ययन से जो समय बचा सकें, उसको अपने देश का इतिहास, अपने धर्म का इतिहास, अपने पूर्वजों के चरित्र, अपने देश की विगत और वर्तमान अवस्था, दूसरे देशों के इतिहास के ग्रंथ, समाचार-पत्र, मैगज़ीनों को पढ़ने और विचारने में लगावें और अपने विद्याभ्यास को हानि न पहुँचाकर समय पावें, तो सभा-समाजों में विद्वानों के व्याख्यानों को भी सुनें। यह हम नौजवानों की शिक्षा का अंग समझते हैं। इससे उनको बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त होगा, जो उनको होना चाहिए और जो उनको आगे चलकर स्वतंत्र और प्रतिष्ठित नागरिक होने में बहुत सहायक होगा। हमारी राय में इससे आगे जाकर विद्यार्थियों का राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना, राजनैतिक सभा-कमेटी कर राजनैतिक बातों

में मत प्रकाश करना या और किसी रीति से राजनैतिक बातों में हाथ डालना, अथवा सामाजिक या धर्म-सम्बन्धी या व्यापार-सम्बन्धी सुधार या उन्नति के लिए उद्योग करना उनके स्वाध्याय का विरोधी है, और उनके तथा देश के लिए अहितकर है। यदि विद्यार्थी लोग अपना विद्याध्ययन-धर्म छोड़कर शक्ति को अन्य कामों में लगावेंगे, तो जब वे इन औरों की अवस्था को पहुँचेंगे, तब अपने उस अवस्था के धर्म करने में अपने को सर्वथा योग्य न पावेंगे और अपने देश की पूरी सेवा करने का सुख और सौभाग्य न पा सकेंगे।

(फाल्गुन-कृष्ण अमावस्या, संवत् १९६३)

७

देशी राज्यों में आत्म-शासन

कुछ दिन हुए, मिस्टर मारिसन ने, जो भारतवर्ष में अलीगढ़-कालेज के बहुत समय तक प्रिन्सिपल रह चुके हैं और जो अब इण्डिया कौंसिल के मेम्बर हैं, यह प्रस्ताव किया था कि आत्मशासन में एक प्रकार की शिक्षा देने के लिए एक ऐसा प्रान्त बनाना चाहिए जहाँ ऊपर से नीचे तक केवल हिन्दुस्तानी ही अफ़सर रहें और वे ही उस प्रान्त का शासन करें। इस प्रस्ताव का गवर्नमेंट पर क्या असर पड़ा है, हम कह नहीं सकते; परन्तु यदि एक बारगी गवर्नमेंट एक नया प्रान्त इस प्रकार का, जैसा मिस्टर मारिसन चाहते है, नहीं बना सकती, तो आत्म-शासन में पहली सीढ़ी बनाने के समान गवर्नमेंट उस प्रस्ताव को अवश्य बर्ताव में ला सकती है जो 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के जनवरी के अंक में एक लेखक ने किया है, अर्थात् यह कि कुछ देशी राज्यों में आत्मशासन का अधिकार बढ़ाने के अभिप्राय से वहाँ के पोलिटिकल एजेण्टों को, जो गवर्नमेंट की ओर से रहते हैं, हटा लिया जाय।

देशी राज्यों में पोलिटिकल एजेण्टों के रखने की आवश्यकता उस समय तक थी, जब तक यह निश्चय नही हुआ था कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का उनके साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए। उस समय में इस बात की आवश्यकता रही होगी कि इन राज्यों में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का राजकीय विषय में मत-प्रकट करने के लिए एक मनुष्य रहे, परन्तु वह आवश्यकता अब नहीं रही; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट और देशी राज्यों का सम्बन्ध अब अच्छी तरह निश्चित है और सभी राजा लोग ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से संधिपत्र (ट्रीटी) के अनुसार बर्तते हैं। ऐसी अवस्था में पोलिटिकल एजेण्टों का रखना राजाओं का रुपया व्यर्थ ही नष्ट कराना और उनके शासन में अनुचित विघ्न डालना है। बड़ौदा, मैसूर, ग्वालियर ऐसे राज्यों के होते यह भी नहीं कहा जा सकता कि बिना पोलिटिकल

एजेण्टों के इन राज्यों का काम नहीं चल सकता; वरन् यह कहना अनुचित न होगा कि कुछ राज्यों का शासन ऐसे उदार भाव के साथ होता है कि हमारी गवर्नमेण्ट भी उनसे शिक्षा प्राप्त कर सकती है। पोलिटिकल एजेण्ट तो प्रायः अवश्य यही कहेंगे कि उनका रहना देशी राज्यों के लिए आवश्यक है; क्योंकि संसार में ऐसे बहुत कम मनुष्य होते हैं जो अधिकार का त्याग पसन्द करें और स्वार्थ को छोड़ सत्य और न्याय ही की दृष्टि से सम्मति दें। परन्तु मिस्टर मार्ली ऐसे उदार और बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ से क्या यह आशा करना बहुत है कि वे पोलिटिकल एजेण्ट या रेज़ीडेंट को हटाकर देशी राजाओं को आत्म-शासन की पूरी स्वतंत्रता देंगे ?

(फाल्गुन-शुक्ल सप्तमी, संवत् १९६३)

*

८

हिन्दू और मुसलमानों में एका

आजकल हिन्दुस्तान में सब ओर उन्नति की पुकार हो रही है, सारे देश में एक हलचल है। पढ़े-लिखे लोग इस चिन्ता में हैं कि कौन ऐसे उपाय किये जायँ जिनसे हमारे देश की बिगड़ी हुई दशा सुधरे और हम संसार की सभ्य जातियों में प्रतिष्ठा पावें। हर एक आदमी अपने-अपने विचार के अनुसार उपाय बताता है। कोई कहता है कि बिना धर्म के सुधार के देश की उन्नति नहीं हो सकती। किसी की राय है कि बिना सामाजिक सुधार के हमारी दशा नहीं बदल सकती। उन लोगों का दल बहुत बड़ा है जिनका यह विश्वास है कि बिना राजनैतिक स्वतंत्रता के हिन्दुस्तान की दशा का बदलना बहुत कठिन क्या, असंभव है। हमारी राय में देश और जाति का उद्धार करने के लिए, इसके सुख-संपत्ति और प्रतिष्ठा पाने के लिए, सब प्रकार की उन्नति धर्म-सम्बन्धी, सामाजिक, व्यापार-सम्बन्धी और राजनैतिक उन्नति ज़रूरी है। ये सब एक-दूसरे की सहायक और एक-दूसरे की अंग हैं। सिर्फ एक प्रकार की उन्नति से हम उस स्थान पर नही पहुँच सकते हैं, जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं। इस सब प्रकार की उन्नति के लिए एकता की ज़रूरत है। लेकिन राजनैतिक और व्यापार-सम्बन्धी उन्नति के लिए हिन्दुस्तान की सब जातियों में परस्पर प्रीति और एकता की बहुत ज़रूरत है। बिना इसके हमारा मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। हम लोगों को इस बात को खूब विचार कर अपने-अपने विश्वासों में जमा लेना चाहिए।

हिन्दुस्तान में अब केवल हिन्दू ही नहीं बसते हैं—हिन्दुस्तान अब केवल उन्हीं का देश नही है। हिन्दुस्तान जैसे हिन्दुओं का प्यारा जन्म-स्थान है, वैसा ही मुसलमानों का भी है। ये दोनों जातियाँ अब यहाँ बसती हैं और सदा बसी रहेंगी। जितना इन दोनों में परस्पर मेल और एकता बढ़ेगी, उतनी ही देश की

उन्नति करने में हमारी शक्ति बढ़ेगी। और इनमें जितना ही वैर या विरोध या अनेकता रहेगी, उतना ही हम दुर्बल रहेंगे। जब ये दोनों एकता के साथ उन्नति की कोशिश करेंगी तभी सब देश की उन्नति होगी। इन दोनों जातियों में और भारतवर्ष की सब जातियों—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी—में सच्ची प्रीति और भाइयों-जैसा स्नेह स्थापित करना हम सबका बड़ा कर्त्तव्य है। इससे देश का बहुत कल्याण होगा। जो हमारी उन्नति नहीं चाहते, वे हमको एक-दूसरे से लड़ाने के लिए यत्न करते हैं और करेंगे। लेकिन हमारे आपस में एक-दूसरे के विचार और भाव शुद्ध रहें तो हमारे किसी बैरी का हमको लड़ाने का यत्न सफल न होगा। यह दुःख की बात है कि हम लोगों में भी कुछ लोग ऐसे हैं जो एक जाति को दूसरी से लड़ाने का यत्न करते हैं। हमको इस बात के कहने में कुछ भी संकोच नही कि जो हिन्दू या मुसलमान ऐसा करता है, वह देश का शत्रु है। इतना ही नही, बल्कि वह अपनी विशेष जाति का भी शत्रु है। हमको सबको उचित है कि सब एक-दूसरे के चित्त को संताप पहुँचाने वाली बीती बातों को भूल जावें, एक-दूसरे का हित और सुख चाहें और एक-दूसरे के हित और सुख के यत्नों में सहायक हों।

माननीय मि० गोखले के स्वागत-सत्कार में हिन्दू और मुसलमान जैसे प्रेम और उत्साह से शामिल रहे है और उन्होंने उनके वचनों को जिस आदर के साथ सुना है, उसी से यह ज़ाहिर है कि यदि हम शुद्ध भाव से यत्न में लगे रहेंगे तो हिन्दू-मुसलमानों का एक-दूसरे की नासमझी का विरोध मिटकर, उनमें देश और जाति का अभ्युदय करने वाली एकता सदा के लिए क़ायम हो जायगी।

(फाल्गुन-शुक्ल त्रयोदशी, सं० १९६३)

९
वसन्त

आयो वसन्त सुन्दर सुवेश !
नव जीवन धारत है स्वदेश !

हिन्दी कविता के प्रेमियों को कवि भ्रम्मर के वे कवित्त, जिनमें उन्होंने वसन्त ऋतु के आगमन का वर्णन किया है, स्मरण होंगे। "वसन्त ऋतु आ गई है, कोकिल बोलने लगे हैं, किन्तु कवि-कोकिल अभी तक शिशिर के प्रभाव से ठिठुरे ही मालूम होते है। हम आशा करते है कि अब वे अपने 'मधुर रस भरे बैन' से हिन्दी के प्रेमियों को सुखी करेगे। प्रकृति ने अपना रंग बदल दिया है। शीत से जो जीव-जन्तु, पेड़-पल्लव ठिठुर रहे थे, जो वृक्ष पत्र-पुष्प से रहित होकर अस्थि-प्राय मनुष्य के समान श्री-विहीन हो रहे थे, जिनमें मालूम होता था कि अब कभी हरियाली की शोभा न आयेगी, वे नया रंग और यौवन धारण कर रहे है। कोई इस बात को भी सोचता है कि इन अनन्त वृक्षों में नये जीवन, नये प्राण, नया बल, नयी शोभा कहाँ से भरती चली आती है! किस शक्ति की प्रेरणा से मनुष्य ही नही, पशु-पक्षी भी इस नये जीवन का आनन्द अनुभव कर रहे हैं!"

क्या हमारे देश, हमारी जाति की वसन्त ऋतु नहीं आती है? नही, आती है। बहुत दिन तक दासत्व और दरिद्रता के भयंकर शीत में पड़े-पड़े हमारे प्राण, बुद्धि, देह सब सिकुड़ गए थे। मन का दीपक बुझ-सा गया था। हमारा रंग-रूप और उत्साह सब घट गया था, प्रायः मिट गया था। असंख्य प्राणी इस दशा में पास-पास पड़े रहें, किन्तु अपने ही अपने दुःख की चिन्ता में मग्न रहें—ऐसी दशा में एक-दूसरे से सहानुभूति कैसी!

किन्तु जिस अनिर्वचनीय शक्ति की प्रेरणा से सूखे पेड़ों में नया जीवन और नये पत्र, फल-फूलों की नयी शोभा आती है, उसी की अपार कृपा से हमारे देश-

बन्धुओं में भी प्राण, चेतना और बल को बढ़ाने वाला देश के प्रेम का, स्वदेश-भाव का पवित्र पवन संचार करने लगा है। इससे हमारे हृदयों में आशा, हमारे मनों में उत्साह, हमारे नेत्रों में नयी ज्योति आती जाती है। स्वदेशी वस्तु-प्रचार की सभाएँ, स्वदेशी वस्तु बनाने के कारखाने, स्वदेशी भाव के बढ़ाने के सब समागम, सूखे वृक्षों में फूटते नये अंकुर और नये पल्लवों के समान हमारे हृदयों को आशा और आनन्द से भर रहे हैं। इनकी शोभा, सम्पत्ति, इनकी सुन्दरता, इनकी शक्ति को वर्णन करने वाले कवि-कोकिल कब जागेंगे ? एक कोकिल कवि का मधुर-मधुर शब्द सच-सच इस समय हमारे कानों में पड़ रहा है। मालूम होता है वह कह रहा है—अब जागेंगे, अब जागेंगे !

(चैत्र-कृष्ण पंचमी, संवत् १९६३)

× × ×

आजकल वसन्त-बहार है—इसके वर्णन में देखिये, हमारे कवि-कुल-गुरु कालिदास क्या कहते हैं—रघुवंश में :

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः,
तदनु षट्पद-कोकिल-कूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधु—
द्रुमवतीमवतीर्य्य वनस्थलीम् ।।

'द्रुमवती (सुन्दर वृक्षों से संकुल) वन-स्थली में अवतीर्ण होकर वसन्त यों यथाक्रम प्रकट हो रहा है—जब पत्ते एक दम वृक्षों से झड़ पड़े हैं तो प्रथम-प्रथम डालियों से फूल ही फूट कर निकल पड़ते हैं—फिर नये-नये अंकुरों से बढ़-बढ़ कर पल्लव भी आगे बढ़ते हैं—जिनमें यथाक्रम फूलों पर भ्रमर-गुंजार और पल्लवों पर कोकिल का किलकार हृदय हरण करते हैं।'

कैसे उत्तम क्रम का वर्णन किया है !

कुसुममेव न केवलमार्तवम्,
नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनाम्
मदयिता दयिता श्रवणार्पितः ।।

'वसन्त ऋतु का—केवल नया अशोक-कुसुम ही स्मर-दीपन नहीं है, प्रत्युत प्रियाओं का श्रवणार्पित किसलय-प्रवाल भी विलासियों को आनन्दप्रद होता है।'

महात्मा माघ कहते हैं :

नवपलाशपलाशवनम्पुरः,
स्फुट-पराग-परागतपंकजम् ।

मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्,
स सुरभिं सुरभिं सुमनो भरैः ॥

'ऐसे पुष्पों के समूह से महा सुगन्धमय वसन्त को आगे देखा कि जिसमें नये पत्र-पुष्प धारण करने वाले पलाश-वन हैं—और कमल खिल रहे हैं और पराग (फूल की धूल) का प्रसार हो रहा है। लताएँ मृदुलतादि गुण धारण किये हुए हैं।'

कुबलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने और एक रंग का श्लोक दिया है :

बालेन्दुवक्राण्यविकासिभावा-
द्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानाम्
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

'फरे फूल नही जाने के कारण द्वितीया के चन्द्र के समान अति लोहित लाल रंग के ये पलाश ऐसे शोभित होते हैं, जैसे तुरन्त ही वसन्त के संयोग से, वन-स्थलियों का जैसे ये नखक्षत हैं।'

पं० विश्वम्भर कवीन्द्र का ऋतु-वर्णन अद्यावधि प्रकाशित नही है। यह यमक कविता में अपना प्रतिस्पर्द्धी नही रखता। एक भी श्लोक बिना कठिन यमक के नही है। न कोई टीका ही है। कठिन इतना है कि जिन विद्वान् को टीका बनाने को दी जाती है···वही 'लकारार्थे समायाते भट्टोजी गवई गतः' की लोकोक्ति चरितार्थ करता है।

डेढ़ सौ वर्ष की पुरानी फटी हुई एक पोथी हमारे पास है। इसमें के कहीं-कहीं दो-दो, चार-चार अंगुल तक के अक्षर चट गए हैं। दूसरी प्रति भी इसकी नहीं मिलती कि भला मूल तो इस पुस्तक का ठीक ग्रंथकार के आशय के अनुसार ठीक हो जावे।

जो कोई महाशय इस पुस्तक की दूसरी प्रति का पता देंगे, उन्हें उचित पुरस्कार भी दिया जायगा।

इस पुस्तक में सम्पूर्ण छहों ऋतुओं का वर्णन आर्य्या छन्द में है। इसका आरम्भ वर्षा-ऋतु से यों होता है :

आयाता घन-पटली-
घन-पटलीनानना सुमुखी ।
सुरभिवनीपवनानाम्
नीपवनानाम्न वीक्षणं कुरुते ॥

ग्रीष्म ऋतु-वर्णन के अन्त में इस ग्रन्थ का अन्तिम पद्य यों है :

विश्वम्भरेणन कविना,
भरेण कविनामकीर्तनतुंमयः ।
ग्रन्थो ऽव्यपेत यमको,
ऽव्यपेतयमकोपहेतुना विहितः ॥

इसके वसन्त-वर्णन का पहला श्लोक यह है :

आगतमधुना मधुना—
मधुना मधुनानमलिवृन्दम् ।
अपि धारयता रयता,
रयता रयताप मध्वजुषाम् ॥

इस श्लोक का अर्थ यदि कोई विद्वान् करके न भेजेंगे तो एक मास के पीछे हम ही इसका अर्थ प्रकाशित करेंगे । यदि किसी ने अर्थ किया तो उन्हीं का अर्थ भी प्रकाशित करेंगे और संस्कृत-काव्य का कोई उपहार भी देंगे ।

ये संस्कृत के महापण्डित और कवि, सरवार (जिला गोरखपुर) के तिवारी लोगों के प्रसिद्ध ग्राम पिण्डी के निवासी थे और मझोली के महाराज रूपनारायण मल्ल के समय में वर्तमान थे ।

"स्मृति-सारोद्धार" नामक एक बड़ा धर्मशास्त्र भी आपका बनाया सरयू-पार प्रान्त में पाया जाता है । दक्षिण में जिस प्रकार 'निर्णय-सिन्धु' और वंग देश में जैसे रघुनन्दन भट्टाचार्य के 'तत्त्व' और मिथिला में जैसे वाचस्पति मिश्र के ग्रंथों का गौरव है—सरवार के 'स्मृतिसारोद्धार' का भी वैसा ही आदर है ।

(चैत्राधिक-शुक्ल द्वादशी, संवत् १९६४)

१०
स्वदेशी भाव

स्वदेशी भाव देश में दिन-दिन ज़्यादा फैल रहा है। देश की भलाई चाहने वालों के दिलों में इसको देखकर आशा और खुशी बढ़ रही है, और उनमें से कितने अपने-अपने बुद्धि-बल के अनुसार इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि यह भाव दिन-दिन बढ़े और नगर-नगर, गाँव-गाँव, घर-घर में फैले। कहीं-कहीं ऐसा मालूम होता है कि कुछ सरकारी अफसर इस हलचल को देखकर कुछ अनमने हो रहे हैं और कोई अचरज की बात नहीं, जो इनमें से कुछ इसको दबाने की भी इच्छा कर रहे हों! गवर्नमेंट और प्रजा दोनों की भलाई के ख़याल से यह ज़रूरी है कि सरकारी अफसर इस हलचल के कारणों को, इसके मतलब को, और इसके बल को ठीक-ठीक समझ लें! ऐसा करने से बहुत-सी ऐसी ना-समझी, जो बचायी जा सकती है, और उससे पैदा होने वाले अनर्थ बचाये जा सकेंगे।

स्वदेशी का अर्थ क्या है—मिस्टर गोखले के शब्दों में स्वदेशी का अर्थ है:

A deep, intense passionate, all-absorbing love of one's country—

गहरा, गाढ़ा, उत्कट, अन्य सब भावों को दबा लेने वाला अपने देश का प्रेम। क्या कोई प्रतिष्ठित अँगरेज़ इसको बुरा कह सकता है ? संसार की सब जातियों में अँगरेज़ अपने देश-प्रेम के लिए नामवर हैं। अँगरेज़ बच्चे अपनी मा के दूध के साथ अपने देश के प्रेम का रस पान करते हैं। अँगरेज़ी धाएँ बच्चों को खिलाते समय देश-प्रेम के गीत सुनाती हैं। अँगरेज़ी स्कूलों में लड़के और लड़कियों को देश के प्रेम का सबक़ पढ़ाया जाता है। अँगरेज़ी क्लब और कमेटियों में, म्युनिसिपल सभाओं में और पार्लमिण्ट में, अख़बारों में और किताबों में, जाति के खेलों में और जाति के गानों में, देश के प्रेम का भाव सबसे ऊपर छाया

रहता है। किसी अँगरेज़ को यह कहना कि वह अपने देश का भक्त नहीं, या उसको अपने देश से प्रेम नहीं, उसको बड़ी बुरी गाली कहना है ! लार्ड चैथम ने अपने देश की बहुत दिन सेवा की और मरने के समय भी 'मेरा देश ! मेरा देश !' यह रटते हुए शरीर छोड़ा; इसलिए आज तक अँगरेज़ उनका नाम आदर के साथ लेते हैं। नेलसन ने ट्रैफ़लगर की लड़ाई के समय अँगरेज़ी सेना को टेर दे दी कि इंग्लैड आशा करता है कि उसका हर एक पुत्र अपना कर्तव्य करेगा। वह टेर आज तक अँगरेज़ों में देश-प्रेम और कर्तव्य के भाव को जगाने के लिए काम में लायी जाती है और नेलसन के नाम को अँगरेज़ लोग आज तक अभिमान के साथ लेते हैं। इंग्लैड के प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के 'रिचर्ड दि सेकण्ड' नाम के नाटक में उन्होंने इंग्लैड के प्रति जो प्रेम का भाव दरसाया है, उसको पढ़कर अँगरेज़ों का रोम-रोम पुलकित हो जाता है। कौन अँगरेज़ है, जिसपर सर वाल्टर स्कॉट की उन पंक्तियों का असर न पड़ा हो जिनमें उन्होने उस आदमी की आत्मा को मुर्दे के समान वर्णन किया है जिसके दिल में अपने देश को देख प्रेम का भाव नही उठता और लिखा है; कि ऐसे मरदूद के मरने पर न कोई उसके नाम पर रोयेगा, न उसकी इज़्ज़त करेगा, न कोई उसका गुन बखानेगा। अन्त में कौन अँगरेज है कि जिसका हृदय अपने जातीय गान National Anthem को सुनकर आनन्द और अभिमान से न धड़कने लगता हो। जहाँ-जहाँ अँगरेज़ी भाषा पढी व बोली जाती है, वहाँ-वहाँ उसके द्वारा यह देश-भक्ति का भाव फैला है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, और अन्य अँगरेज़ी कॉलोनियाँ इसकी उदाहरण है। इतना ही नही, योरुप के और-और देशों में भी अँगरेजों के देश-प्रेम और स्वतंत्रता-प्रेम से भरी भाषा का असर पड़ा है। क्या यह मुमकिन था कि हिन्दुस्तान के रहने वालों के दिल में, जिनके बड़े-बूढ़ों ने हज़ारों बरस तक ऊँचे से ऊँचे दर्जे की उन्नति और साम्राज्य का सुख अनुभव किया था, ऐसी अँगरेज़ी भाषा को पढ़कर भी फिर अपने देश के प्रेम का भाव न जागे और अपने बड़े-बूढों के समान इज़्ज़त और प्रतिष्ठा पाने की इच्छा न हो ! जितने अच्छी तबियत के अँगरेज हैं वे इस बात पर अब तक अफ़सोस ज़ाहिर करते आए हैं कि पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों में देश का उतना गहरा और गाढ़ा प्रेम नहीं दिखायी देता, जिससे वे अपने देश-भाइयों की भलाई के लिए लगातार कोशिश करें। इसका कारण यह था कि बहुत दिनों की गुलामी से हमारे देश के लोगों के दिल ऐसे बुझ गए थे कि उनमें देश के प्रेम की गरमी लाना मुशकिल हो गया था। अब जो कितने ही कारणों से यह देश का प्रेम लोगों के दिल में बढ़ने लगा है, इससे हर एक सच्चे स्वतंत्रता से प्रेम रखने वाले

अँगरेज़ को प्रसन्न होना चाहिए, न कि नाराज़।

योरुप में अगर किसी ऐसी जाति में, जिससे इंग्लैंड का कुछ सम्बन्ध नहीं है, प्रजा लोग देश का प्रेम दिखाती हैं और स्वतंत्रता एवं स्वराज्य पाने के लिए लड़ने और मरने के लिए तैयार हो जाती हैं, तो इंग्लैंड इस बात पर अपनी बड़ी खुशी दिखाता है। फ्रांस, इटली और ग्रीस की कथा तो पुरानी हो गई; अभी रूस में जो प्रजा को राज के प्रबन्ध में अधिकार देने के लिए, पार्लमिण्ट के समान प्रजा के चुने प्रतिनिधियों की एक सभा क़ायम कराने के लिए, प्रजा में हलचल मच रही है, उस पर न सिर्फ लिबरल दल के नायक सर हेनरी केम्बल बैनर्मेन बल्कि और कितने ही अँगरेज़ों ने आम तौर से अपनी खुशी और हमदर्दी ज़ाहिर की है। तो क्या हिन्दुस्तान ही की प्रजा में, जिनके बारे में इंग्लैंड के राजा और पार्लमिण्ट यह बार-बार कह चुके हैं कि वे उन सब अधिकारों के अधिकारी हैं जो अँगरेज़ों को प्राप्त हैं और जिनके बारे में अभी दो साल भी नहीं हुए, इंग्लैंड के एक बड़े लायक बेटे लार्ड कर्ज़न ने कहा था कि :

"Our Indian fellow subjects...are equal with us in the eyes of God and the law."

"हमारे और हिन्दुस्तान के एक ही राजा की प्रजा, परमेश्वर और क़ानून की नज़र में, सम्पूर्ण रूप से समान है।"

भारत के कुछ पढ़े-लिखे, देशभक्त हिन्दुस्तानियों में देश-प्रेम का भाव और स्वतंत्रता और स्वराज की अभिलाषा बढ़ते देख अँगरेज़ अफसर, जो कहते हैं कि हम हिन्दुस्तानियों की भलाई करने के लिए ही हिन्दुस्तान में हैं, ईढ़ और नाराज़ी ज़ाहिर करके अपने बाप-दादों का नाम और अपनी इज़्ज़त गँवावेंगे? हमको यह आशा करने दो कि वे ऐसा न करेंगे।

जापान से इंग्लैंड का पहले कुछ सम्बन्ध न था, अब थोड़े ही दिनों से इन दोनों की मिताई हुई है; लेकिन जापानियों की देश-भक्ति की लाखों अँगरेज़ प्रशंसा करते आए हैं। अँगरेज़ी समाचारपत्र जापानियों के बल-पौरुष, पराक्रम, उत्साह और देश के लिए अपने को बलिदान कर देने के स्वभाव की प्रशंसा करते नहीं अघाते। जापान के एक कवि ने जापानियों की देश-भक्ति का इस प्रकार वर्णन किया है :

"My country, everywhere and always, my heart's first love! My blood, my first thought, and the sweat of my brow will be for thee alone!"

"मेरे देश ! स्वदेश ! सब जगह और सब दिन हृदय का सबसे पहला और सबसे बड़ा प्रेम तेरे अर्पण ! मेरा ख़ून, मेरा पहला ख़याल, और मेरे माथे का पसीना सिर्फ़ तेरे ही लिए होगा !"

जब इस प्रकार से जापान की देशभक्ति का हाल पढ़कर अँगरेज़ उसकी सराहना करते हैं, तो क्यों कोई अँगरेज़ दिल का ऐसा छोटापन दिखावे कि उस हिन्दुस्तान की भूमि में, जो उसको और उसके लाखों देश-भाइयों को विपुल धन-धान्य और सुख दे रहा है और जिसके सम्बन्ध से इंग्लैंड पहले दर्जे की राजशक्ति बन रही है, उस देश के निवासियों में देश के प्रेम का भाव बढ़ता हुआ देखकर खुशी न ज़ाहिर करे। जो ऐसा न कर सकें, तो उनको इतना तो ज़रूर समझ लेना चाहिए कि हिन्दुस्तान के सब पढ़े-लिखे और विचारवान् लोग इस स्वदेशी भाव को बढ़ते हुए देखकर आशा से फूल रहे हैं और ईश्वर का धन्यवाद कर रहे हैं। और दिन-दिन उनका यह जतन होगा कि पढ़े-अनपढ़े, छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष सब में स्वदेश का प्रेम वैसा ही बढ़े जैसा कि हर एक अँगरेज़ बालक के हृदय में होता है, जैसा कि हर एक जापानी के हृदय में होता है। और वे इस बात का यत्न करेंगे कि हर एक भारत-सन्तान अपने देश-धर्म का वही महामंत्र बनावे, जिसको जापानियों ने स्वीकार किया है और जिसको हम अभी ऊपर लिख चुके हैं। इस देश-भक्ति के बढ़ने में यदि वे कोई अनुचित रोक पहुँचाने का साहस करेंगे तो वे उसकी बाढ़ को तो रोक न सकेंगे, किन्तु प्रजा की आँखों में वे गिर जावेंगे; और राजा-प्रजा में जो सद्भाव रहना चाहिए उस को हानि पहुँचावेंगे।

देश का प्रेम हर एक जाति में थोड़ा-बहुत होता है। संजोग अच्छे मिलने से वह बढ़ता और प्रबल हो जाता है और संजोग बुरे इकट्ठा होने से वह घटता और दुर्बल हो जाता है। यह कहना मूर्खता ही होगी कि अँगरेज़ों के आने से पहले हमारे देश में देश का प्रेम था ही नहीं।

सर विलियम वेडर्बर्न के भी हम लोग उतने ही कृतज्ञ हैं। ये तथा और बहुत-से सत्य, न्याय और स्वतंत्रता के प्रेमी अँगरेज़, जो यहाँ रहे हैं उनमें से भी, और जो इंग्लैंड ही में रहे हैं उनमें से भी, हम लोगों में इस देश-प्रेम के भाव को अपनी हमदर्दी और मदद से बढ़ाते आए हैं। पहले और अँगरेज़ इनको गाली देते थे और अपने देश का बैरी कहते थे, लेकिन अब 'पायोनियर' जैसा ऐंग्लोइण्डियन पत्र भी सर हेनरी कॉटन और उनके समान ख़याल के लोगों का इस बात के लिए गुन मानता है। और ज्यों-ज्यों वक्त बीतेगा, त्यों-त्यों और अँगरेज़ों को भी यह समझ में आने लगेगा कि वे ही अँगरेज़ अपने इस देश के राज्य के सच्चे

मित्र हैं जो सच्चे भाव से चाहते हैं कि हिन्दुस्तान के लोगों को वे सब हक़ और अख्तियार मिलें, जो धर्म से उनको मिलने चाहिए और जो इंग्लैंड की और प्रजाओं को मिले हुए हैं। जो अँगरेज़ हिन्दुस्तानियों के साथ अन्याय या उनका अनादर करते हैं, और चाहते हैं कि हिन्दुस्तानी ऊपर न उठें, वे इंग्लैंड और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों की जड़ पर प्रहार कर रहे हैं।

हमको निश्चय है कि इस देश में इस समय भी ह्यूम और वेडर्बर्न, काटन और यूल के समान अनेक उदार-भाव अँगरेज़ हैं जो इस देश की प्रजा में देश का प्रेम बढ़ता देखकर अप्रसन्न नही हो रहे हैं। अनेक ऐसे भी हैं जो इस पौधे को अपनी सहानुभूति से सीच रहे है। हम यही आशा करते हैं कि सब प्रतिष्ठित अँगरेज़ अपने इन उदारचित्त भाइयों के उदाहरणों का अनुकरण करेंगे।

(चैत्र कृष्ण ५, संवत् १९६३)

११

हिन्दुस्तान के आय-व्यय का विचार

बुधवार ता० २० मार्च को हिन्दुस्तान के राज्यकोश के मंत्री माननीय मिस्टर बेकर ने वाइसराय की कौंसिल में १९०७ और १९०८ के आय-व्यय का लेखा पेश किया। २७ मार्च को इस बजट पर बहस होगी। बजट की प्रधान-प्रधान बातें ये हैं। १९०६ और १९०७ का लेखा, जो दुहराया गया है, उसका यह परिणाम है कि पिछले वर्ष में गवर्नमेंट की कुल आमदनी १,१३,४४,०३,५०० रुपया हुई थी और कुल खर्च १,११,४५,१२,००० रुपया हुआ। १,९८,९१,५०० रुपया बचत हुई।

इस बचत से पहला काम गवर्नमेंट ने यह किया है कि नमक का टैक्स डेढ़ रुपया मन से घटाकर एक रुपया मन कर दिया। इससे १९८ लाख रुपये की आमदनी गवर्नमेंट को कम होगी। अर्थात्, इतना रुपया प्रजा को टैक्स में कम देना पड़ेगा। इस टैक्स के घटने से हम बहुत सन्तुष्ट हैं। नमक पर टैक्स लगाना सभ्य गवर्नमेंट के लिए एक बड़ी लज्जा की बात है। चिरस्मरणीय मिस्टर फासेट ने १८७३-७४ मे पार्लियामेण्ट में बड़े ज़ोर से कहा था कि इस टैक्स को उठा देना चाहिए। लेकिन हिन्दुस्तान की ग़रीब रिआया की पुकार जल्द सुनी नहीं जाती। लार्ड रिपन के न्याययुक्त शासन में पहली मर्तबा नमक का टैक्स ढाई रुपया मन से घटाकर दो रुपया मन कर दिया गया था। किन्तु उनके बाद लार्ड डफ़रिन के चरण आये और उन्होंने अन्याय करके बर्मा के राज्य को हिन्दुस्तान में मिला लिया और निरर्थक ही हिन्दुस्तान का व्यय बढ़ा दिया। तब उनको प्रजा पर टैक्स बढ़ाने की ज़रूरत हुई; और बकरी के बच्चे का बलिदान करना चाहिए, इस नीयत से उन्होंने नमक पर, जो ग़रीब से ग़रीब मनुष्य और पशु सबके स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी है, दो रुपये से ढाई रुपये फ़ी-मन टैक्स बढ़ा दिया।

प्रयाग में जो कांग्रेस सन् १८८८ में हुई थी, उसने इस अन्याय की निन्दा की थी। और तब से बराबर कांग्रेस नमक पर टैक्स घटाने की प्रार्थना करती रही है। १८८६ की कांग्रेस ने यह कहा था कि नमक के टैक्स को गवर्नमेंट कम कर दे और उससे गवर्नमेंट को जो नुकसान हो, उसको पूरा करने के लिए विलायत से जो माल आता है, उस पर टैक्स लगा दे। कई बरस तक कांग्रेस का यह कहना जंगल में रोने के समान हुआ। अन्त को १६०३-१६०४ में जब गवर्नमेण्ट का ख़ज़ाना ग़रीब प्रजा से ज़रूरत से ज़्यादा उगाहे गए टैक्सों से उमड़ चला था, तब लार्ड कर्जन ने मिस्टर गोखले तथा और कांग्रेस के नेताओं के बार-बार के आग्रह से नमक के टैक्स को फिर दो रुपये मन कर दिया। और जब दूसरे वर्ष फिर सरकारी ख़ज़ाना उमड़ रहा था, तब १६०५-६ में नमक का टैक्स फ़ी-मन दो रुपये से डेढ़ रुपया कर दिया। आठ आना मन टैक्स घटने पर १६०३ और १६०४ में ६,६८,००० मन नमक ज्यादा खर्च हुआ था। १६०४-१६०५ में १५,६७,००० मन अधिक खर्च हुआ और १६०५-०६ में १३,३२,००० मन अधिक खर्च हुआ, तथा १६०६ और १६०७ के पहले के आठ महीनों में पिछले साल के उन्हीं महीनों से १४,४१,००० मन अधिक ख़र्च हुआ। इन अंकों से यह मालूम होता है कि जब तक नमक पर टैक्स अधिक था, तब तक बहुत-से मनुष्य और पशु दोनों, जितना उनके स्वास्थ्य के लिए नमक मिलना चाहिए था, उतना नहीं पाते थे और हमको अब भी यह विश्वास है कि मनुष्य और पशु दोनों के कल्याण के लिए इस टैक्स को बिल्कुल ही उठा देना चाहिए। मिस्टर मार्ली के पारसाल के कहे हुए वचनों से हमको आशा है कि आगे के वर्षों में यह टैक्स बिल्कुल उठा दिया जायगा।

बचत का दूसरा फल यह हुआ है कि आने वाले अक्तूबर के महीने से चिट्ठी का महसूल कुछ घटा दिया जायगा। आध आने में अभी पौन ($\frac{3}{4}$) तोले तक की चिट्ठी जाती है, अक्तूबर से एक तोले तक की जायगी। एक आने में अभी डेढ़ तोले तक की जाती है, सो आगे तीन तोले तक जाया करेगी। विलायती डाक में, जो ब्रिटिश राज्य के भीतर एक आने में अभी सवा तोला जाता है, आगे ढाई तोला जाया करेगा; और ब्रिटिश राज्य के बाहर नौ पैसे में ढाई तोला जायगा और उससे अधिक हर ढाई तोले पर डेढ़ आना ज्यादा लगेगा। इससे इस वर्ष के पहले छः महीनों में ११,०२,८५२ रुपया गवर्नमेण्ट को कम मिलेगा।

चीन देश के निवासी चण्डू पीने की नाशकारी आदत को छोड़ने का यत्न कर रहे हैं और यह निश्चय है कि थोड़े वर्षों में हिन्दुस्तान से चीन में अफीम

का जाना बन्द हो जायगा। इससे हिन्दुस्तान के राज्यकोश का साढ़े पाँच करोड़ साल का नुक़सान होगा। किन्तु इसमें हम अप्रसन्न नहीं हैं। किसी देश या जाति को हानि पहुँचाकर हम अपने देश का लाभ नहीं चाहते। गवर्नमेण्ट ने आज्ञा दे दी है कि आगे के वर्ष में पोस्त की बोआई कम हो और अफीम की आमदनी में भी ६८ लाख कम कर दिया है।

यह सब करने पर भी सन् १६०७ और १६०८ के बजट के तख़मीने में मालूम होता है कि इस वर्ष में १,१२,५१,६२,००० रु० आमदनी होगी और १,११,४०,२१,५०० रु० खर्च होगा, तथा १,१६,२०,५०० रु० बचत होगी। सेना के व्यय में आगे के वर्ष से ७५,००,००० लाख रु० कम खर्च होंगे, लेकिन यह कमी आगे के सालों में मिट जायगी। जो एक संग खर्च करने का विचार था, वह कई साल में किया जायगा। पुलिस के सुधार और उन्नति के लिए गवर्नमेण्ट ने साढ़े बाईस लाख रुपया दिया है, जिसमें से पाँच लाख पंजाब को मिला है। पुलिस के खर्च में इतनी बड़ी रक़में और किसी प्रान्त को नहीं दी गईं। इन दोनों प्रान्तों में कुपढ़ों की संख्या ज्यादा है, इसीलिए इन प्रान्तों में गवर्नमेण्ट को पुलिस पर ज्यादा खर्च करना पड़ता है। जिन प्रान्तों में विद्या का प्रचार अधिक है, उन प्रान्तों में जुर्म कम होते हैं और पुलिस की कम जरूरत है; फिर भी गवर्नमेण्ट ने अभी विक्टर ह्यूगो के उस प्रसिद्ध उपदेश को दिल में जगह नहीं दी कि "जो एक स्कूल खोलता है, वह एक जेलख़ाना बन्द करता है।"

सारे देश में विद्या-प्रसार की वृद्धि के लिए गवर्नमेण्ट ने इस साल सिर्फ ३३ लाख रुपया अधिक दिया है। जिसमें से ज्यादा हिस्सा बम्बई और मद्रास को गया है। पुरानी कहावत है कि लक्ष्मी लक्ष्मी को खींचती है; पर अब यह भी मालूम होता है कि सरस्वती भी सरस्वती को खींचती है। बम्बई और मद्रास विद्या में हमसे बढ़े हुए हैं। इसलिए उनको, विद्या का अधिक प्रचार बढ़ाने के लिए, अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक सहायता दी जाती है। हम उन प्रान्तों की ईढ़ नहीं करते। उनके लाभ में हम प्रसन्न हैं। हम सिर्फ यह चाहते हैं कि अन्य प्रांतों को भी, विद्या के प्रचार के लिए जितना ज़रूरी है, उतना मिले। लेकिन हमारे अभाग्य से हमको इसकी आशा दूर मालूम होती है।

हमारे देश की सालाना आमदनी कुल १ अरब १२ करोड़ रुपया है। इसमें से कुल मिलाकर गवर्नमेण्ट इस समय ३ करोड़ ४ लाख रुपया देश-भर में विद्या के प्रचार में व्यय कर रही है। सेना के खर्च में कुल मिलाकर ३० करोड़ व्यय कर रही है। इंग्लैंड की सालाना आमदनी २ अरब ३० करोड़

से ऊपर है। उसमें से साढ़े चौबीस करोड़ रुपया विद्या-प्रचार में खर्च होता है और ४३।। करोड़ सेना के व्यय में। ऐसी दशा में क्या आशा हो सकती है कि इस देश में विद्या का उतना प्रचार हो जितना और सभ्य देशों में हो रहा है। जिस देश की रक्षा के लिए गवर्नमेण्ट सेना पर इतना व्यय करती है, उस देश में यदि इसका आधा भी प्रजा को विद्या पढ़ाने और उसकी सुख-संपत्ति तथा पौरुष बढ़ाने में खर्च किया जाय तो देश का दुःख-दारिद्रय और दुर्बलता मिट जाय तथा देश की प्रजा ही गवर्नमेण्ट की बड़ी प्रबल सेना हो जाय। किन्तु इसकी क्या आशा है!

प्रायः सब सभ्य देशों में विद्या बिना फ़ीस के अधिकारपूर्वक पढ़ायी जाती है। इस देश में गवर्नमेण्ट ने इस वर्ष इस बात का प्रस्ताव किया है कि आरम्भिक शिक्षा बिना फ़ीस के दी जाय। इस प्रस्ताव को काम में लाने के लिए प्रान्तीय गवर्नमेण्टों से राय माँगी गई है। वह राय अभी नहीं आयी। इसलिए आरम्भिक शिक्षा की फ़ीस उठा देने की रक़म बजट में अभी नही रक्खी गई। किन्तु यह सन्तोष का विषय है कि मि० मार्ली ने यह वचन दे दिया है कि जिस वक्त प्रान्तीय गवर्नमेण्टों की राय आ जायगी उस वक्त, यद्यपि बजट में रक़म नहीं रक्खी गई तथापि, वे इस खर्च को मंजूर कर लेगे। आशा करने की बात है कि गवर्नमेण्ट अपने इस प्रथम कर्त्तव्य को पूरा करने में अब बहुत अधिक विलम्ब न करेगी। आरम्भिक शिक्षा को बिना फ़ीस के देना ही काफ़ी नहीं होगा, अपितु इंग्लैंड, अमेरिका और जापान की तरह ऐसा क़ानून बना देना चाहिए कि हर एक बालक को छः वर्ष से चौदह वर्ष तक स्कूल-पाठशाला में ज़रूर पढ़ना पढ़ेगा। यही प्रजा की दशा के सुधार का मूल उपाय होगा।

डाक का महसूल जो कम किया गया है, इससे सर्वसाधारण प्रजा को कुछ फ़ायदा नही; इससे केवल विदेशी व्यापारियों को ही अधिकतर लाभ होगा, और उसके घटाने की कोई खास ज़रूरत नहीं थी। हम प्रसन्न होते, यदि गवर्नमेण्ट इस आमदनी का त्याग न करती और उसको देश में टैक्निकल तथा सायण्टिफ़िक विज्ञान और शिल्पकला-सम्बन्धी शिक्षा का एक बड़ा कालेज, जिसके लिए कांग्रेस और सारा देश पुकार कर रहा है, क़ायम करने में लगाती। इस बात को देखकर लाखों प्रजा का दिल दुःखी होगा कि ऐसी शिक्षा के लिए, जो प्रजा को भूखों मरने से बचाने के लिए ज़रूरी है, गवर्नमेण्ट ने अब तक प्रजा के दिये हुए एक अरब के ऊपर रुपयों में से एक-हज़ारवाँ हिस्सा भी शिल्प-शिक्षा का एक बड़ा कालेज स्थापित करने को नहीं निकाला।

सबसे ज्यादा अफ़सोस की बात इस बजट में यह है कि इसमें प्लेग से

मरती हुई प्रजा को बचाने के किसी भी उपाय की चर्चा नही है। बारह वर्ष से कितने ही लाख प्रजा हर साल प्लेग से मर रही है। इस समय सारे हिन्दुस्तान में हर हफ्ते ५८,००० अभागे हिन्दुस्तानी प्लेग की आग में झुलस कर मर रहे हैं। इस भयंकर महा बलिप्रदान की धारा को उमड़ती हुई देखकर लाखों प्राणी शोक और चिन्ता से पीड़ित हो रहे हैं। किन्तु वे इसको रोकने वा तोड़ने में असमर्थ हैं।

प्लेग गन्दी ज़मीन की बीमारी है। नगर और गाँवों में अगर यह बन्दोबस्त किया जाय कि मल-मूत्र जमीन पर न बहें और मकानों के आस-पास साफ़ हवा और धूप रहे, तो प्लेग को फैलने की जगह न रह जाय। दूसरी बात यह है कि प्लेग उन लोगों को जल्द खा जाता है जिनके बदन में ख़ून कम है या जिनके ख़ून में ताक़त कम है। भारतवर्ष में करोड़ों प्रजा पेट के लिए काफ़ी अन्न और तन के लिए काफ़ी वस्त्र न मिलने के कारण ऐसी दुर्बल हो रही है कि उनमें प्लेग का मुक़ाबला करने की ताक़त नहीं है। एक ही दिन में प्लेग के कीड़े उनको खा जाते हैं। यदि प्रजा ऐसी दुर्बल न होती तो कभी इतने हजार प्राणी हर हफ्ते प्लेग से न मरते। यह बहुत दिनों से जो प्रजा में ख़ून कम होता गया है, उसका फल है कि इतने अधिक लोग आज मर रहे हैं।

हम जानते हैं कि इसका इलाज एक दिन या एक वर्ष में नही हो सकता। लेकिन हमको अत्यन्त दुःख इस बात का है कि गवर्नमेण्ट इसका इलाज अब तक प्रारम्भ भी नहीं कर रही है। एक अरब से ऊपर रुपये के बज़ट में, जो इस देश की ग़रीब प्रजा से उगाहा गया है, जिन दशाओं में प्लेग फैलता है, उनको दूर करने के लिए नगरों और गाँवों में स्वास्थ्य और सफ़ाई का प्रबन्ध करने के लिए, ज़मीन पर टैक्स का भार कम करने के लिए और प्रजा को कारीगरी की शिक्षा देकर अधिक धन पैदा करने के लायक बनाने के लिए उतने लाख रुपये भी नहीं रक्खे गए हैं। अगामी वर्ष से रेल का और विस्तार करने के लिए बज़ट में साढ़े तेरह करोड़ रुपया रक्खा गया है। यदि गवर्नमेण्ट एक सभ्य गवर्नमेण्ट के समान इस देश की प्रजा के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना चाहती है तो उसको चाहिए कि थोड़े दिन के लिए रेल के विस्तार से देश की उन्नति और शोभा की फ़िक्र छोड़कर देश की प्रजा की उन्नति में उस रुपये को लगावे। और इसी प्रकार देश की रक्षा के लिए सेना पर जो ३० करोड़ रुपया हर साल व्यय कर रही है, उसका यदि आधा नहीं तो चौथाई हिस्सा कम करके देश की प्रजा को पुष्ट करने और उसको इस बिना शस्त्र के मारने वाले बैरी प्लेग और भयंकर भूख की ज्वाला से बचाने में लगावे। यदि गवर्नमेण्ट ऐसा

नहीं करती है तो वह और जो कुछ चाहे करे, वह सभ्य गवर्नमेण्ट का प्रथम कर्त्तव्य करने में चूकती है और दिन-दिन प्रजा उससे अधिक असंतुष्ट होती जायगी। यदि गवर्नमेण्ट अब भी अपनी वर्तमान नीति को बदल कर प्रजा की उन्नति के उपायों में लगे, तो प्रजा पिछली बातों को भूलकर गवर्नमेण्ट का धन्यवाद करेगी और उसकी वर्तमान सेना से भी अधिक प्रबल प्रजा अपने बल की सहायता से उसको पुष्ट और सदा के लिए अविचल कर देगी।

(चैत्राधिक-शुक्ल १२, संवत् १९३४)

१२

आयुर्वेद वा वैद्यकशास्त्र की आवश्यकता

आजकल जिस प्रकार भारतवर्ष में नाना रंग के रोग प्रचलित हो रहे हैं और इनसे जो-जो हानियाँ हो रही हैं, वे प्राय: सभी विचारवानों के समीप प्रगट हैं।

अब तक मलेरिया ज्वर ही से, अथवा हैज़ा आदि ही से, संसार के सब देशों से अधिक भारतवासी मरते थे। परन्तु अब कोढ़ में खाज के समान, तुला-दान पर लक्ष-भोज के समान, मानो भारत का नाश ही करने के लिए आज बारह वर्ष से यहाँ आकर महाराक्षस-समूह-सा प्लेग भी जन-संहार कर रहा है। इसने कितने घर घाले, कितने गाँव, शहर तथा देश उजाड़े, कितने लाख आदमियों का नाश किया, इसका यद्यपि कुछ ठीक पता नहीं है; तथापि जितने लोग इस प्लेग से अकाल में ही कालकवलित हुए हैं, यदि वे जीवित होते, तो उनसे अमेरिका के समान, कई-एक उजाड़ भूखण्ड, हिन्दुओं के महादेश बस जाते।

इस वर्ष प्लेग का प्रकोप बहुत ही कम है, तथापि २३ फरवरी को समाप्त सप्ताह में २४,२४२ (चौबीस हज़ार दो सौ बयालीस) भारतवासी प्लेग से मरे हैं। यदि वर्ष-भर में प्लेग का दिन २० सप्ताह ही माना जाय तो ४,८४,८४० (चार लाख, चौरासी हज़ार, आठ सौ चालीस) मनुष्य प्रतिवर्ष मरते हैं और ११ वर्ष ही से यदि प्लेग का कोप माना जाय तो ५३,३३,२४० (तिरपन लाख, तैंतीस हज़ार, दो सौ चालीस) आदमी मर चुके। जापान ऐसे छोटे राज्य ने भूमण्डल के सर्वोपरि प्रबल प्रतापी रूस-साम्राज्य से अपनी रक्षा ही नहीं की, बल्कि उसपर विजय भी प्राप्त किया है; भारतवासी यों रोग-दुष्काल आदि से कुत्ते की मौत मरते हैं।

संसार के जितने प्राणी हैं, जब एक छोटे से छोटे क्षुद्र रोग से महा व्याकुल

हो जाते हैं और कितने ही लोग आत्म-हत्या भी कर डालते हैं—हमें पूरा स्मरण है कि एक सबडिवीज़नल ऑफिसर (असिस्टेण्ट मैजिस्ट्रेट) ने सिर्फ सिर के दर्द से बेचैन होकर, बन्दूक द्वारा आत्महत्या कर ली थी—तब कहिये, मामूली लोग, जो कठिन रोगों में आत्महत्या कर डालते होंगे, इसमें कौन सन्देह हो सकता है !

भयंकर पीड़ा से जो लोग व्याकुल हो रहे हैं, (भगवान् न करे, कदाचित् हमारे पाठक भी ऐसी यन्त्रणा का अनुभव कर चुके होंगे, कि यदि कभी इस प्रकार के रोग से काम पड़ा हो) यदि किसी से यों कह दीजिये कि यह वर्ष तुम्हारे लिए बहुत ही अरिष्ट है, मारकेश की पूरी दशा लग गई है, बचना कठिन है, तो उसके होश उड़ जाते हैं।

फिर जो अपने सामने नाचती हुई अपनी मौत देख रहा है, उसके लिए संसार कैसा मालूम होता होगा, सभी विचारशील इसका अनुभव कर सकते हैं। किन्तु यदि इसके ऊपर वेदना हुई, शरीर के किसी भाग में वा सर्वांग में यातना वा घोर व्यथा हुई, तो इसकी बात ही अलग है। संसार की कोई वस्तु उसे आराम नहीं दे सकती है।

ऐसे अवसर पर यदि आप उसे दवा देकर कुछ आराम पहुँचा सकें, या सिर-दर्द से बेचैन हो तो थोड़ा तेल ही लगाकर दर्द दूर कर दें, या पेट के दर्द या वातशूल से छटपटा रहा है, एक गोली खिलाकर शान्त कर सकें; तो कहिये, इसके समान संसार में उस रोगी के लिए कौन उपकारक कृत्य हो सकता है ! आप भी समझिये कि आपके समान उसका हितैषी कौन हो सकता है !

इस प्रकार जो लोग रोगियों की प्राण-रक्षा करते हैं, शास्त्र में इनको सब पुण्यात्माओं से भारी पुण्यात्मा कहा है :

अप्येकं नीरुजं कृत्वा व्याधितं भेषजैर्नरः।
अश्वमेधसहस्रस्य यथार्थफलमश्नुते ॥

अर्थात्, एक रोगी को भी यदि दवा देकर कोई आदमी व्याधि-मुक्त करे तो सत्य ही सहस्रों अश्वमेध यज्ञों का फल उसे (वैद्य को) प्राप्त होता है।

इसमें कारण भी भगवान् चरक ने कहा है कि :

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ॥

अर्थात्, संसार में जितने सत्कर्म और पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

आदि) हैं, सब शरीर पूर्ण आरोग्य रहे, तभी हो सकते है। रोग इनके नाशक हैं और सब कल्याण एवं आयु (ज़िन्दगी) के भी; इसलिए जिसने आरोग्य की रक्षा की उसने—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—सब की रक्षा की; और जिसने आरोग्य का नाश किया उसने—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—सभी का नाश किया।

यही कारण था कि प्राचीन समय में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर धर्मात्माओं और राजाओं के द्वारा रोग-चिकित्सा का पूरा प्रचार था। धर्मात्मा राजा वा धनी लोग वैद्य लोगों को पूर्ण सहायता देते थे। ये वैद्य आजकल की भाँति रोगियों से न तो दवा के मूल्य में एक कौड़ी लेते थे, और न पारिश्रमिक या कोई फीस ही। निःस्वार्थ भाव से रोगियों को दवा दे, आरोग्य कर, भारत के सुयश और आयुर्वेद-विद्या का भूमण्डल में यशोविस्तार करते थे। दवा बेचने की मनाही का यह श्लोक है :

न कुर्य्यादर्थलोभेन चिकित्सापण्यविक्रयम् ।
ईश्वराणां धनवतां लिप्सेतार्थन्तु वृत्तये ।।

अर्थात् धन-लोभ से दवा न बेचें; अपनी वृत्ति के लिए राजाओं से या और बड़े धनवानों से प्रबन्ध करें।

इस समय प्लेग से रक्षा के लिए वा रोग से रक्षा के लिए यद्यपि गवर्नमेण्ट ने प्रबंध किया है और इससे कुछ लाभ भी होता ही है, परन्तु यह भी देखना है कि यह लाभ कितने लोगों को होता है। जो लोग डाक्टरी दवा अशुद्ध समझ नही खाते, अथवा जो लोग अपकारक मानकर नही छूते, उनकी तो बात ही अलग है; परन्तु जो लोग दवा खाते-पीते, उपकार मानते है, उनको यह दवा कहाँ तक समय पर मिलती है! केवल शहर के निवासियों में मुट्ठी-भर लोग दवा से लाभ उठाते है और सम्पूर्ण देहात और ग्रामों की सारी प्रजा बिना औषध आयुरहित कुत्ते की मौत मर रही है।

इनके लिए हम क्या यत्न करते है?

हमारे उदार और देशहितैषी बुद्धिमान् महाशयो, तुम्ही से सब-कुछ आशा है। सब को दवा पाने के लिए वैद्यों की आवश्यकता है। वैद्यों की सख्या नही के समान स्वल्प है। जब तक वैद्यों की संख्या अधिक नही होगी, तब तक भारतवासी यों ही मरते रहेंगे। अतः वैद्यों की सख्या बढ़ाने के लिए वैद्यक की महापाठशालाओं (कालेजों) की ज़रूरत है।

हमारे राजा-महाराजा और दानवीर परोपकारी सेठ-साहूकार कहाँ हैं और अपनी उदारता और पुण्यता को कहाँ छिपाये बैठे हैं? जिस भारत में विदेशी

डाक्टरी के बीसियों कालेज हैं, जो भारत भूमंडल की वैद्य-विद्या व शिक्षा का घर था, उसमें आयुर्वेद वा वैद्यक का एक भी कालेज नहीं ! शहर-शहर में आयुर्वेद के विद्यालय वा कालेज स्थापित करो !

श्री पं० चन्द्रशेखर धर मिश्र, विद्या-धर्म-वर्द्धिनी सभा ने जिस भाँति इस काम में भी तन-मन-धन से श्रम कर आयुर्वेद पाठशाला खोली है, और अकेले कालेज बनाने में असमर्थ होकर भी कालेज बनाने में अविरत श्रम कर रहे हैं, ऐसे ही सभी विज्ञ जन यदि जी-जान से लग जावें तो सैकड़ों वैद्यक कालेज एक मास में ही तैयार हो सकते हैं।

(चैत्राधिक-शुक्ल १२, संवत् १९६४)

१३

प्राणायाम

डाक्टर लौडर ब्रण्टन ने एक अस्पताल के विद्यार्थियों को व्याख्यान देने के समय कहा—'ज्यानिसिस' (वह पुस्तक, जिसमें ईसाइयों के मत के अनुसार संसार की उत्पत्ति हुई) में एक जगह लिखा है—ईश्वर ने आदमी की नाक में प्राण उत्पन्न करने वाली वायु को फूंका और आदमी में प्राण आ गया। आदमी इस बात को भूलकर मुख के रास्ते साँस लेने लगता है, इस कारण वह मर जाता है। नाक के छेद उस नली के हिस्से हैं, जिससे कि साँस बाहर निकलती और भीतर आती है। मुख साँस लेने के लिए नहीं, यह चबाने और निगलने के लिए बनाया गया था।" यह उल्लेख उनके कथन का है जो कि शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के विषय में एक प्रसिद्ध जानकार हैं। इसी उल्लेख के आधार पर यह लेख लिखा गया है। अनुभव से मुझे मालूम हुआ है कि स्वास्थ्य की रक्षा और शक्ति के लिए पहला ध्यान छाती पर देना आवश्यक है। साँस के विषय में तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए—(१) फेफड़ों का मज़बूत करना, (२) नाक द्वारा साँस लेना, और (३) साफ़ हवा। यदि हम पहले साफ़ हवा पर विचार करें तो आश्चर्य होगा कि व्यवसायी, दफ्तरी और स्कूलों के अधिकारी सरकारी लोग इस पर कितना कम ध्यान देते हैं! लोग समझते हैं कि जो लोग हमेशा जहाज़ों में रहते हैं उन लोगों को कभी फेफड़ों की बीमारियाँ (चैस्ट डिसार्डर्स) नहीं होती होंगी, क्योंकि वे हमेशा खुली-साफ़ हवा में रहते हैं; पर ऐडमिरैल्टी की रिपोर्ट से मालूम होता है कि आम लोगों में जितने लोग क्षय-रोग से मरते हैं, उस हिसाब से जहाज़ वालों में तिगुने लोग इस बीमारी से मरते हैं। कमाण्डर डौसन इसका कारण यह बतलाते हैं कि जहाज़ों में सोने के कमरों में बहुत लोग भरे रहते हैं और उनकी चारपाइयाँ छत से एक-आध फुट ही नीचे लटकायी जाती हैं। जो हवा हम साँस द्वारा निकालते हैं, वह गरम रहती है, और गरम

चीज़ हमेशा हलकी होती है। इस लिए गन्दी हवा ऊपर के भाग में जमा हो जाती है। शुद्ध हवा पर सब से पहले ध्यान देना चाहिए, क्योंकि साँस का चलना ही जीवन का प्रथम चिह्न है और इसी का बन्द होना जीवन का अन्तिम लक्षण है। जब कोई आदमी मरता है तो लोग कहते हैं कि उसने अपना अन्तिम श्वास ले लिया है। जिस समय आदमी चुपचाप बैठा रहता है, उस समय वह एक दिन में ५ लाख घनइंच हवा काम में लाता है। और जब वह कोई परिश्रम का काम करता है तो १५ लाख घनइंच हवा काम में लाता है। इससे मालूम हो सकता है कि साँस लेने के लिए कितनी जगह की आवश्यकता है। हवा साफ मिले, इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। जिस हवा से एक बार साँस ले लिया जाता है, उससे दूसरी बार साँस नही लेना चाहिए। जहाँ थियेटर या सभाएँ होती हैं, वहाँ की हवा, साँस लेने और चिराग़ों के जलने से, गरम और गन्दी हो जाती है। ऐसी जगहों से निकलने पर ठंडी हवा एकदम गले और फेफड़े में लगती है, तो इनसे ऐसी-ऐसी बीमारियाँ हो जाती है कि कभी ये प्राण की ग्राहक हो बैठती है। हवा का स्वाभाविक मार्ग नाक़ है और नाक से होकर जाने से हवा छन जाती है और गरम भी हो जाती है। नाक के द्वारा साँस लेने की आदत डालना बहुत ही सहज है। बहुत लोग कहेंगे कि हम नाक द्वारा साँस नहीं ले सकते, क्योंकि वह बन्द हो जाती है; पर यह सब आदत पर निर्भर है। नाक द्वारा साँस लेने का अभ्यास धीरे-धीरे आरम्भ करना चाहिए। नाक द्वारा साँस लेने में पहले जो तकलीफ़ मालूम होती है, वह अभ्यास से दिन-दिन घटती ही जायेगी और एक-आध हफ्ते के बाद तकलीफ़ बिल्कुल ही मिट जायेगी।

तंग छाती को बड़ी बनाने का उपाय

अगर एंजिन के बाइलर की आग राख से ढक जाय, तो आग बुझने लगेगी। स्टीम बनना बन्द हो जायगा और एंजिन रुक जायगा। एंजिन को फिर चलता करने का उपाय सहज है। अगर राख-वग़ैरह निकाल दी जाय और जीवन देने वाली हवा कोयलों में लगने लगे, तो एंजिन फिर चलने लगेगा। एंजिन में जैसे भट्टी है वैसे ही हमारे शरीर में फेफड़े (लँग्स) हैं; और जो एंजिन है वह हमारा हृदय (हार्ट) है। जैसे एंजिन के लिए पानी है, वैसे हमारे शरीर के लिए खुराक है; और एंजिन में जो कल है, वही हमारा शरीर है। हवा में एक गैस है जिसको ऑक्सिजन कहते हैं, उसी से प्राणी जीवित रहते हैं। गन्दी हवा में साँस लेने से न केवल शरीर में ऑक्सीजन की कमी पड़ती है वरन् नसों में विष भी फैल जाता है। इस विष का असर दिमाग़ पर जाकर

पड़ता है, क्योंकि सिर में दर्द मालूम होने लगता है जो हमको यह जताता है कि हम गन्दी हवा में साँस ले रहे हैं या हमें काफ़ी हवा नहीं मिल रही है। जिन लोगों की छाती चौड़ी होती है उनके सिर-दर्द नहीं होता।

फेफड़े में ज्यादा हवा पहुँचाने और उसे साफ़ रखने का उपाय

साधारण अवस्था में प्रत्येक साँस के साथ ३० घनइंच हवा भीतर जाती है। खूब लम्बी साँस लेने से, इतनी लम्बी जितनी ली जा सकती है, १०० घनइंच हवा और भीतर जा सकती है, अर्थात् खूब लम्बी साँस लेने से सब मिलकर १३० घनइंच हवा भीतर जा सकती है। इसी प्रकार पूरी तरह साँस बाहर निकलने से १३० घनइंच हवा बाहर निकल सकती है। इसके सिवाय छाती में बराबर १०० घनइंच हवा रह जाती है, चाहे हम कितनी ही पूरी साँस बाहर निकालें। इससे मालूम हो जायगा कि एक साँस लेने में २३० घनइंच हवा बाहर और भीतर आ सकती है; अर्थात् साधारण तौर पर साँस लेने से जितनी साँस बाहर और भीतर आ-जा सकती है, उससे आठ-गुनी हवा लम्बी साँस लेने से आ-जा सकती है। इससे यह होता है कि फेफड़ा और खून अच्छी प्रकार साफ हो जाते हैं और उसमें ऑक्सीजन भर आता है।

कसरत के फ़ायदे

कसरती आदमी की छाती अपने-आप बढ़ जाती है; पर जिन आदमियों को कसरत का कुछ शौक़ नही है या जिनको समय नहीं है, उनकी छाती तंग बनी रहती है और उनकी तन्दुरुस्ती जन्म-भर ढीली-ढाली बनी रहती है। इस हालत में उन्हें मालूम नहीं होता कि तन्दुरुस्ती और ताक़त क्या चीज है और उसे तरह-तरह की फेफड़ों की बीमारियाँ घेर लेती है।

लम्बी साँस के फ़ायदे

हरेक आदमी इस बात को जानता है कि लम्बी साँस लेने से फ़ायदा होता है। इससे छाती की और हृदय की नसों में खून के चलने में मदद मिलती है। जब किसी आदमी का दिल (हार्ट) खून से भर जाता है तो वह आह भरता है। जब आदमी लम्बी-लम्बी साँस लेता है तो मालूम होता है कि उसके हृदय में कोई विकार है। छाती को खून के भर जाने से बचाने के लिए आह भरना स्वाभाविक उपाय है। समुद्र-यात्रा का सबसे अधिक लाभ यह है कि साफ़ हवा मिलने से खून में ऑक्सीजन अच्छी प्रकार मिल जाता है। जिधर से समुद्र की हवा आती हो, उधर को मुँह करके चलने से चित्त ऐसा प्रसन्न हो जाता है कि

एक प्रकार का नशा-सा छा जाता है। एक प्रसिद्ध डाक्टर ने अपने मरते समय कहा कि मैं तो मरता हूँ पर मुझे इस बात का सन्तोष है कि मैं अपने पीछे दो बड़े डाक्टर छोड़े जाता हूँ, अर्थात् साफ़ हवा और कसरत।

अगर थोड़ी देर तक साँस बिल्कुल बन्द करके नसों के ज़ोर से छाती फुलायी जाय तो छाती, गर्दन तथा कई और अंगों की नसें मज़बूत हो जाती हैं।

ऊपर के लेख को पढ़ने से पाठकों की समझ में आ जायगा कि हमारे शास्त्रों में प्राणायाम की इतनी महिमा क्यों लिखी गई है।

(चैत्राधिक-कृष्ण ४, १९६४)

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाऽथ विद्यया।
देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव॥

मदन मोहन मालवीय।

महामना की हस्तलिपि

१४

बाबू राधाकृष्णदास का स्वर्गवास

अत्यन्त शोक के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और कवि, और नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री और एक स्तम्भ, बाबू राधा-कृष्ण दास ने तारीख ३ अप्रैल को शरीर छोड़ दिया। बाबू साहब का शरीर लगभग पाँच वर्ष से अस्वस्थ रहता था, यद्यपि उनकी अवस्था ४० वर्ष से भी कम थी। तीन वर्ष हुए, आपको लकवा हुआ था। एक सहस्र दिन पूरे होने पर आपने कहा—अब मेरा बचना कठिन है। यह कहने के दो या तीन दिन के पीछे ही लकवा का फिर आक्रमण हुआ और बाबू साहब दुर्बल तो हो ही रहे थे, इस आघात से बच न सके।

बाबू राधाकृष्णदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा नागरी के प्रचार में जो सहायता की है और हिन्दी भाषा के साहित्य का जो कुछ उपकार किया है, वह हिन्दी के प्रेमियों से छिपा नहीं है। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि राधा-कृष्ण दास उन थोड़े-से सज्जनों में से हैं जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा की नींव पर, जो बाबू हरिश्चन्द्र और राजा शिवप्रसाद ने डाली थी, पहली ईंटें जमायी हैं। यदि बाबू राधाकृष्ण दास ने 'राजस्थान-केसरी' और 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की जीवनी' के अतिरिक्त और कुछ भी न लिखा होता, तो भी यही दो पुस्तकें उनके नाम को चिरस्मरणीय बनाये रखतीं। परन्तु बाबू साहब का तो हिन्दी के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि हिन्दी के कार्य में जिस ओर देखा जाय, उनकी प्रतिभा और कार्यपरायणता के चिह्न दिखायी पड़ते हैं। यहाँ पर बाबूसाहब के कार्य की समालोचना करने का अवसर नहीं है, परन्तु इतना हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जब तक हिन्दी भाषा के प्रेमी अपनी मातृभाषा में प्रेम रक्खेंगे और उसके सरस और गम्भीर काव्यों और लेखों

से आनन्द और लाभ उठाते हुए उसके गौरव को न भूलेंगे, तब तक बाबू राधाकृष्ण दास का नाम हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों में गिना जायगा। उनकी इस अकाल-मृत्यु पर हमको बहुत शोक है। उनके चिरजीवी पुत्र और कुटुम्ब के साथ हम सहानुभूति प्रकाश करते हैं।

(चैत्राधिक-कृष्ण १२, संवत् १९६४)

१५

हमारी दशा और हमारा मुख्य कर्तव्य

किसी मनुष्य अथवा किसी जाति की तब तक उन्नति नहीं हो सकती, जब तक वह अपनी वर्तमान दशा से असन्तुष्ट होकर उसे सुधारने का यत्न न करे। वर्तमान अवस्था से असन्तोष और उन्नति की इच्छा, ये दो उन्नति के मूल मन्त्र हैं। जाति की उन्नति तथा अवनति इतने धीरे-धीरे होती है कि वह होती हुई दिखायी नहीं देती। कुछ काल के अनन्तर जाना जाता है कि जाति क्या थी और क्या हो गई। जब कोई वृद्ध पुरुष अपनी युवावस्था और वृद्धावस्था का चित्र देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि मेरी दशा में कितना परिवर्तन हो गया है। प्राचीन भारतवर्ष की अवस्था से देश की वर्तमान अवस्था की तुलना की जाय तो बोध हो सकता है कि हमारी दशा में कैसा भयंकर परिवर्तन हो गया है। पर खेद का विषय है कि हम लोगों को जो शिक्षा मिलती है, उससे हमें अपनी प्राचीन दशा का बहुत कम ज्ञान होता है। हम लोग जीविका के लिए अँगरेज़ी, या फ़ारसी, या दोनों पढ़ते हैं। इस कारण से कि संस्कृत और हिन्दी पढ़ना जीविका के लिए आवश्यक नहीं है, उनकी ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। मुसलमान लोग कुरान का पढ़ना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। अच्छे घरों के मुसलमान अरबी, नहीं तो फ़ारसी, अवश्य पढ़े होते हैं और अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को जानते हैं और उनको काम में लाते हैं। हिन्दुओं में जो पढ़े-लिखे भी हैं उनमें से बहुत-से तो ऐसे हैं, जो संस्कृत तो दूर रही, हिंदी भी इतनी नहीं जानते कि गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा सूरदास के ग्रंथों को भली-भाँति पढ़ लें और समझ लें। ऐसी अवस्था में उनको प्राचीन काल के भारत की महिमा और ऋषियों-आचार्यों के विचारों की गम्भीरता और धर्म के तत्त्वों का गौरव कैसे विदित हो सकता है! वर्तमान समय में हम राजनैतिक, सामाजिक और धर्म-सम्बन्धी कारणों से जितने कष्ट झेल रहे हैं,

उनका पूरी तरह से भी अनुमान नहीं कर सकते ; क्योंकि उनको सहते रहने का हमारा स्वभाव हो गया है। यह मनुष्य की प्रकृति है कि दुःख को सहते-सहते दुःख दुःसह नहीं रह जाता। कहा है :

निर्गुणस्य शरीरस्य एक एव महान् गुणः।
यां यामवस्थामाप्नोति तां तान्तु सहते क्रमात् ॥

अर्थात्—'इस निर्गुण शरीर का एक बड़ा गुण यह है कि यह जिस-जिस अवस्था को पहुँचता है, उस-उसको वह क्रम से सह लेता है।' हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा से जितना खिन्न और असन्तुष्ट होना चाहिए, उतने हम नहीं हैं। हम लोगों को अपने धर्म का ज्ञान नहीं, हमको अपने पूरे-पूरे स्वत्व और अधिकार भी मालूम नहीं हैं, थोड़े-से नेताओं को छोड़कर कोई उनके पाने का भी यत्न नहीं करते। यदि किसी से कोई अधिकार छीन लिया जाय तो वह उसको फिर से लेने का यत्न करेगा। हमारे अधिकार सैकड़ों वर्षों से हमारे हाथ से जाते रहे और हमने अपनी आँखों में अपने पास अधिकार नहीं देखे। जो लोग 'कर' देते हैं उनका सब सभ्य देशों में अधिकार है कि वे अपने धन के व्यय किये जाने के विषय में राय दे सकें और उसे अपने ही हित और लाभ के लिए व्यय करावें। पर हमारे देशवासी लोगों को, जो प्रतिवर्ष एक अरब से अधिक रुपया सरकार को देते हैं, कोई अधिकार नहीं है कि वे उस रुपये को अपने हित के लिए व्यय करावें। कांग्रेस बाईस वर्ष से इस बात की पुकार कर रही है कि गवर्नमेण्ट यह अधिकार हमारे देश के लोगों को दे। किन्तु हमारा यह विश्वास है कि जब तक सारा देश अपने अधिकारों को न जान जायगा और उनको पाने के लिए एक स्वर से अभिलाषा और उत्कण्ठा न दिखावेगा, तब तक ये अधिकार हमको नहीं मिलेंगे। इसलिए हमारा पहला कर्त्तव्य है कि सर्व-साधारण को उनकी अवस्था का ज्ञान करावें, उनको उनके अधिकार बतलावें और उनमें अपने देश के हित के लिए इच्छा और उत्साह उत्पन्न करें। वर्ष या दो वर्ष में एक बार व्याख्यान सुना देने से लोग सदा के लिए नहीं जाग जायँगे। हमारे देश का रोग नया नहीं है कि एक-आध तीव्र मात्रा से अच्छा हो जाय। उसका बल बढ़ाने के लिए कुछ काल तक मृदु औषधि का प्रयोग करना पड़ेगा। यह औषधि 'विद्या' है। सारे देश के लोगों को पण्डित बनाना कठिन है, पर सर्व-साधारण में शिक्षा का इतना प्रचार करना सर्वथा संभव और आवश्यक है कि वे अपने धर्म की मुख्य शिक्षाओं को पढ़ लें और पुस्तक-समाचारपत्रों आदि को पढ़कर अपने देश की दशा और अपने अधिकारों को जान लें। बड़ौदा राज्य में एक नियम बना दिया गया है जिससे लिखना-पढ़ना बिना द्रव्य लिये सिखाया जायगा

ओर राज्य-भर के सब लड़के और लड़कियों को लिखना-पढ़ना अवश्य सीखना पड़ेगा। भूमण्डल की सभ्य जातियों के प्राय: सभी राज्यों में यह व्यवस्था हो गई है। इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी, जापान आदि सब देशों में इस व्यवस्था के अनुसार काम हो रहा है। इस देश में भी इंग्लैंड का राज्य है। इसलिए गवर्नमेण्ट का कर्त्तव्य है कि यहाँ भी इस व्यवस्था का प्रचार करे। हमको उचित है कि हम इस बात का आन्दोलन करें कि गवर्नमेण्ट ऐसा ही नियम यहाँ भी बना दे। यदि गवर्नमेण्ट ऐसा न करे तो देश-हितैषियों का कर्त्तव्य है कि वे गाँव-गाँव और नगर-नगर में पाठशालाओं की स्थापना करने का प्रबन्ध करें। ब्रह्मा के देश में फूंगी लोग, जो कि एक प्रकार के संन्यासी होते है, प्रत्येक गाँव के मठ में उस गाँव के लड़के-लड़कियों को बुलाकर उनको लिखना-पढ़ना सिखाते हैं और भिक्षा-वृत्ति से शरीर-यात्रा करते हैं। इसका परिणाम यह है कि ब्रह्मा देश में लिखे-पढ़े लोग भारतवर्ष के सब प्रान्तों से अधिक है। भारतवर्ष में इसी प्रकार काम हो सकता है। विरक्त और संन्यासी इस देश में बहुत हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पढ़ना-लिखना सिखा सकते हैं। देश-हितकारियों को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि साधुओं से लिखना-पढ़ना सिखाने के काम में सहायता लें। गाँव वालों को प्रेरणा करें कि वे लिखे-पढ़े साधुओं को अपने गाँवों में बसाने का प्रयत्न करें। लिखे-पढ़े गृहस्थों का भी धर्म है कि अपने समय में से घण्टा-डेढ़ घण्टा नित्य बचाकर, अपने पड़ोसियों को विद्यादान करें।

जब लोगों को भली-भाँति लिखना-पढ़ना आ जायगा, तब वे रामायण, भारत, भागवत इत्यादिक ग्रंथों के भाषानुवादों को पढ़कर भारतवर्ष की प्राचीन महिमा को जान सकेंगे और वर्तमान पुस्तकों और समाचारपत्रों से जान लेंगे कि हमारी अब कैसी दशा है। इससे उनको अपने देश की दशा में उचित परि-वर्तन करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होगी और बुद्धिमान् लोग देश की राज-नैतिक, सामाजिक और अर्थ-सम्बन्धी दशा सुधारने के लिए जिन उपायों का निश्चय करेंगे, उनमें सब लोग सहायक होगे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मात्सर्य से रहित विद्वान् और परोपकारी पुरुष देश के कल्याण के लिए उपायों को सोचें और साधारण लोग उन उपायों को अमल में लाने में प्रयत्न करें, तो देश की दशा में स्पष्ट परिवर्तन हो सकता है। अभ्युदय की जो-जो सामग्री इस समय के समृद्ध देशों में है, वह सब इस देश में भी विद्यमान है। हमारे धर्म के उपदेश परम पवित्र और लोकोपकारी हैं। हमारे देश के लोगों में बुद्धि की तीव्रता का अभाव नहीं है। विद्याओं को पढ़ने में इंग्लैंड, जर्मनी, अमेरिका, जापान इत्यादिक देशों के लोगों से यहाँ के लोगों की योग्यता कम नहीं है।

कलाएँ यहाँ के लोगों को सिखायी जायँ तो उनको सीखने के लिए भी यहाँ के लोग समर्थ हैं। वाणिज्य के काम में भारतवर्ष के वणिक् सदा से निपुण रहे हैं और इस समय, यद्यपि उनकी समृद्धि घट गई है तथापि, यथोचित विद्या के अभ्यास से वाणिज्य का काम भली-भाँति कर सकते हैं। खेती के काम में भारत-वासी जितने परिश्रमी और निपुण हैं, उससे अधिक अन्य देशों में थोड़े ही लोग पाये जायँगे। यहाँ भूमि का अभाव नहीं, जल का अभाव नहीं, लकड़ी का नहीं, धातुओं का नहीं; ऐसी अवस्था में जब प्रजा पढ़ी-लिखी हो और प्रजा के प्रमुख विद्वान्, बुद्धिमान्, परोपकारी और स्वार्थ-निरपेक्ष हों, तो कोई कारण नहीं है कि भारतवर्ष समृद्ध से समृद्ध देशों की समता न कर सके। इसके लिए देश-भर में उपकारी विद्या का प्रचार ही आवश्यक है और इस विचार के लिए यत्न करना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य है!

(ज्येष्ठ-कृष्ण ६, संवत् १९६४)

१६

हिन्दुस्तान की वर्तमान अवस्था पर फ्रांसीसियों की सम्मति

सन् १८५७ के ग़दर के समय से पिछले दो महीनों के पहले तक स्वयं इंग्लैंड के निवासियों का और सभ्य संसार की और जातियों का ध्यान हिन्दुस्तान पर कभी उतना नहीं पड़ा था, जितना इन दो महीनों में पड़ा है। इसका कारण स्पष्ट है। ग़दर के समय से आज तक गवर्नमेंट के विरुद्ध कोई हलचल नहीं हुई; और जब तक कोई ऐसी हलचल न हो, या जब तक शान्तिपूर्वक राज्य का प्रबन्ध ऐसे ही चला जाता है, तब तक अन्य विदेशियों की कौन कहे, इंग्लैंड के लोगों को भी हिन्दुस्तान के मामलों में अपना सिर दुखाने से क्या मतलब! अब जब हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के कुछ अँगरेज़ी अख़बारों ने अपने घबराहट पैदा करने वाले और झूठे लेखों से, और हिन्दुस्तान और इंग्लैंड की गवर्नमेण्ट ने अपनी घबराहट से उत्पन्न हुई उग्र कार्रवाइयों और वक्तव्यों से सब सभ्य संसार को यह विश्वास दिला दिया है कि हिन्दुस्तान में राज-विद्रोह की हवा फैल गई है और वह इतनी प्रचण्ड हो गई है कि उसके शान्त करने के लिए गवर्नमेण्ट को अपनी प्रजा में से कुछ लोगों को बिना कानूनी जाँच देश से बाहर निकालना, देश के कुछ भागों में सभा-कमेटियों के होने में रोक डालना, समाचारपत्रों की स्वतंत्रता कम करने का विचार करना इत्यादि उग्र-उग्र उपायों का अवलम्बन करना ज़रूरी हुआ है, तब विदेशी लोगों की दृष्टि भी हिन्दुस्तान की ओर गयी है, तो कोई आश्चर्य नहीं है। और वे स्वभावतः यह सोचने लगे हैं कि सचमुच हिन्दुस्तान की प्रजा अपने देश से अँगरेज़ी गवर्नमेण्ट को निकालने का यत्न करने लगी है।

जापान के दो प्रसिद्ध समाचारपत्रों ने और वहाँ के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने अभी हिन्दुस्तान के विषय में जो कुछ कहा है, उससे मालूम होता है कि जापान भी हिन्दुस्तान की अवस्था पर ध्यान देने लगा है। किन्तु हिन्दुस्तान की

अवस्था की उससे भी अधिक गम्भीर और प्रभावशाली समालोचना फ्रांस देश के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'टेम्स' ने की है। 'पायोनियर' लिखता है कि 'टेम्स' योरुप-भर के पत्रों में एक ऐसा पत्र है जो न सिर्फ अत्यन्त योग्यता से लिखा और चलाया जाता है, अपितु वह फ्रांस की गवर्नमेण्ट का पत्र है। और जब 'टेम्स' ने एक सम्पादकीय लेख हिन्दुस्तान के विषय में लिखा है, तो हम लोगों को उचित है कि उसकी राय को आदर के साथ पढ़ें; क्योंकि जो वह लिखता है, वह फ्रांस के उन लोगों की राय है जो अपने देश का राज-शासन करते हैं और जो शिक्षा के आचार्य हैं—अर्थात् उन लोगों की राय, जिनके हाथ में बात का निर्णय करना रहता है कि फ्रांस का और देशों से राजनैतिक सम्बन्ध कैसा रहेगा। जब 'पायोनियर' ऐसा लिखता है, तो यह आशा करनी चाहिए कि जिस बात को हम हिन्दुस्तानियों के बार-बार निवेदन करने पर भी गवर्नमेण्ट ने नहीं माना, उसे कदाचित् अपने पड़ौसियों, बराबर के भाइयों, के कहने से वह मानेगी। लेकिन अँगरेज़ों के कुछ इस देश के समाचारपत्र और कुछ इंग्लैंड के समाचारपत्र प्रायः यह कहा करते हैं कि अँगरेज़ों ने हिन्दुस्तान को तलवार के ज़ोर से लिया है और तलवार ही के ज़ोर से उसको अपने आधीन रक्खे हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उनकी पहली डींग झूठी है। प्रोफेसर सीली जैसे विद्वान् इस बात को अच्छी तरह दिखा चुके हैं कि अँगरेज़ों ने हिन्दुस्तान को अपनी तलवार की ज़ोर से नहीं जीता, बल्कि हिन्दुस्तानियों ही की तलवार ने हिन्दुस्तान को जीता। भविष्य के विषय में यह कहना, कि तलवार ही के ज़ोर से हम हिन्दुस्तान को अपने आधीन रक्खेंगे, यह न वीरता है न राजनीति। "नहि शूरा विकत्थन्ते" और राजनीति के जानने वाले अपने आधीन लोगों को उनके मन को दुखाने वाली बातों को कहकर उन पर अपने प्रभाव को बढ़ाने की आशा नहीं करते। ऐसे अपमान के वचन नीची दशा में गिरे हुए मनुष्यों के हृदय में भी दुःख के साथ साहस पैदा करते हैं। 'टेम्स' नामक समाचारपत्र ने इस विषय में अँगरेज़ों को बड़ी अच्छी सम्मति दी है। वह लिखता है: "हमारे उत्तम सहयोगी 'टाइम्स' (लन्दन) ने पिछली जनवरी के महीने में लिखा था कि हम लोगों ने हिन्दुस्तान को तलवार से जीता है और अन्त में इस तलवार ही के ज़ोर से उसको हम अपने हाथ में रक्खे हुए हैं। हम लोगों को उन मामलों में, जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, दखल देने की कुछ भी इच्छा नहीं; लेकिन हमको ऐसा नहीं मालूम होता कि 'टाइम्स' की बात बिल्कुल ठीक है। 'टाइम्स' के इस कथन को हम पूरी तौर पर स्वीकार नहीं कर सकते। निस्सन्देह इंग्लैंड को हिन्दुस्तान में प्रबल सेना

रखने की ज़रूरत है, और जब इस बात का ख़याल किया जाता है कि वह देश कितना बड़ा है—तो जो उसकी काम के लायक सेना है, वह बहुत नही मालूम होती। लेकिन इस विचार से तथा अन्य विचारों से सेना की उन्नति करना चाहे कितना ही ज़रूरी हो, केवल सेना की उन्नति काफी नहीं होगी। अँगरेज़ लिबरलों को इस बात की याद दिलाने की ज़रूरत नहीं है कि सेना के बल की बात के सिवाय और भी बातें इस संसार में हैं। हिन्दुस्तान में शिक्षा के प्रचार और शासन के तरीकों में सुधार के प्रश्न हैं, जिनको करने में हमें विलम्ब नही करना चाहिए।"

यह बहुत अच्छी चेतावनी है, यदि अँगरेज़ लोग इस पर ध्यान दें। देश में जो अशान्ति हो रही है, उसका 'टेम्स' ने ठीक निदान किया है। वह लिखता है कि जो अशान्ति कई महीनों से हिन्दुस्तान मे प्रगट हो रही है, उसके कारण को हम लोगों ने बहुत बार सोचा। पहले तो एक विशेष कारण, जो विशेषकर बंगाल प्रान्त से सम्बन्ध रखता है, यह है सितम्बर १९०५ में प्रबन्ध के सुभीते के लिए वह प्रान्त दो हिस्से कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि नये प्रान्त में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से अधिक हो गई। हिन्दुओं को बहुत क्षोभ हुआ। बंगाल की ऐतिहासिक एकता के नाश से भी उतना ही क्रोध उत्पन्न हुआ। विरोध-प्रकाश किया गया, सभाएँ हुई, इनमें से कुछ में उग्रता भी प्रकाश की गई और थोड़े ही दिनों में अँगरेज़ी माल का बायकाट प्रारम्भ हुआ। 'टेम्स' लिखता है कि गवर्नमेण्ट ने बंगाल के विभाजन को क़ायम रखना तो उचित मान लिया, किन्तु प्रजा का क्षोभ मिटाने के लिए फुलर साहब को इस्तीफ़ा देने पर मजबूर कर, वहाँ से हटा दिया। किन्तु इससे आन्दोलन शान्त नहीं हुआ, वरन् बंगाल में भी और उसके बाहर भी, जल में पड़े तेल के समान, बढ़ता गया और अन्त में कहीं-कहीं उपद्रव होने लगे कि जिनको दबाने के लिए मिस्टर मार्ली ने 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' में प्रबल उपायों का अवलम्बन करने का दृढ़ संकल्प प्रकाश किया है। स्पष्ट है कि 'टेम्स' ने पंजाब के उपद्रवों को भी अपने विचार में इन्हीं विशेष कारणों से उत्पन्न उपद्रवों में गिन लिया है। यद्यपि उनका विशेष करके चर्चा नहीं किया। यही बात समस्त हिन्दुस्तान के विचारवान् लोग कहते आये हैं कि बंगाल और पंजाब की अशान्ति और उपद्रव के विशेष कारण हैं और उनके दूर करने के लिए यही आवश्यक है कि वे विशेष कारण दूर किये जायँ।

किन्तु 'टेम्स' ने बहुत ठीक लिखा है कि देश में अशान्ति होने का दूसरा कारण इससे अधिक विस्तृत और साधारण है, और जितनी जातियाँ दूसरी

जातियों पर अधिकार रखती हैं, उनको उस साधारण कारण का थोड़े दिन में, या देर से, विचार करना पड़ेगा। यदि एक जाति का दूसरी जाति पर अधिकार रखना किसी प्रकार से उचित कहा जा सकता है, तो वह इसी कारण से कि ऐसे अधिकार के द्वारा उन जातियों में, जो सभ्यता में यूरोप के पीछे हैं, योरोपीय विचार और योरोपीय सभ्यता के द्वारा उनको उन्नति करने का अवसर देना है। इंग्लैंड से और हिन्दुस्तान से जो सम्बन्ध हुआ है, उसका भी यही फल हुआ है। अँगरेज़ी ख़यालात के सम्पर्क से हिन्दुओं में अपनी शक्ति का ज्ञान पैदा हुआ है। ऐसा ही ईजिप्ट (मिस्र) में भी हुआ है। हिन्दुओं को राजनैतिक स्वतंत्रता का चसका लग गया है और उनमें उसकी चाह बढ़ गई है। वे इस बात को मानना नहीं स्वीकार करते कि जो अधिकार और स्वीकार इंग्लैंड ने और-और जातियों को दे रक्खे हैं, उसको वह उन्हें देने से न्यायपूर्वक इन्कार कर सकता है। संक्षेप यह कि वे गवर्नमेण्ट के वर्तमान शासन के क्रम में उलट-फेर चाहते हैं।

'टेम्स' पूछता है कि क्या वह सुधार असम्भव है? वह लिखता है— यद्यपि लार्ड कर्ज़न की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, तो भी वे लार्ड क्रोमर के समान पुराने स्कूल-अधिकारी थे। वह पूछता है कि क्या वह समय नहीं आ गया कि अब एक नया क्रम जारी किया जाय? जिस सुधार की तुरन्त ज़रूरत है, वह बुद्धि और हृदय से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्, वह विचार और भाव का सुधार है; और वह इस तरह हो सकता है कि अब तक जो अँगरेज़ लोग हिन्दुस्तानियों पर हुकूमत की नीति से चलते आये हैं, उसको छोड़कर, अब हिन्दुस्तानियों को अपने शासन में शामिल करने की नीति का अवलम्बन करें। इसके लिए पहली बात यह ज़रूरी है कि अँगरेज़ अफसर अपने कुछ खयालात को बदलें। अभी तक सर बैम्फील्ड फुलर के समान वे उसी पुरानी नीति पर चलते हैं कि लोगों को आपस में लड़ा दो और उन पर राज्य करो। मुसलमानों को वे हिन्दुओं से लड़ाते है। लेकिन यह चाल बहुत थोड़े दिन चल सकी है। वस्तुतः हिन्दुस्तान के मुसलमान, और मुसलमानों से अलग नहीं हैं। वे एशिया तथा अफ्रीका, और विशेषकर मिस्र में अपने मत के भाइयों से बराबर व्यवहार रखते हैं और यदि इस समय अँगरेज़ अफ़सर उनको राज-भक्त पार्टी मानते हैं तो मानें; किन्तु यह समझना भूल होगी कि गवर्नमेण्ट सब दिन उनको प्रजा को दबाने की पालिसी में सहायक पावेगी। इसलिए 'टेम्स' लिखता है कि "जो नीति अँगरेज़ों को हिन्दुस्तान में अवलम्बन करनी चाहिए वह स्वतन्त्रता और शिक्षा-प्रसार की नीति है।" वह लिखता है कि "जो नीति उसने ट्यूनिसिया

के लिए, जो फ्रांसीसी गवर्नमेण्ट के अधिकार में है, उचित बतायी है, वही उन सब देशों के लिए ठीक है, जिनमें कि एक अधिक सभ्य जाति ने एक अपने से सभ्यता में गिरी हुई जाति की उन्नति का भार अपने हाथ में लिया है। 'मूल में शान्ति और शिखर पर स्वराज्य', यही उस नीति का सच्चा मन्त्र है जिसका अपने आधीन जातियों के साथ बर्ताव में अवलम्बन करना चाहिए। यदि सच-सच यह इच्छा है कि वह नीति जिनके ऊपर शासन किया जाय और जो शासन करें, उन दोनों को परस्पर लाभ पहुँचाकर ऐसी हो कि स्वयं उसी से उसके स्थायी और अटल रहने का निश्चय हो।"

ये उदार राजनीति-विशारदों के वचन हैं। और इंग्लैंड तथा हिन्दुस्तान में उन अँगरेज़ों को, जिनका हिन्दुस्तान के शासन से कुछ सम्बन्ध है, हम इन्हें अर्पण करते हैं। जो अधिकारी मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग रखकर या लड़ाकर हिन्दुस्तानियों की उन्नति में विलम्ब करना चाहते हैं, उनको इस पक्षपातहीन विमलदृष्टि लेखक के वचनों को पढ़कर लज्जा और ज्ञान होना चाहिए। यदि इंग्लैंड का राज्य हिन्दुस्तान में रहना चाहिए और रह सकता है, तो इसी उदार नीति के अवलम्बन करने से, जिसको 'टेम्स' ने संक्षेप में बड़ी योग्यता से वर्णन किया है। अँगरेज़ लोग इस नीति से अपरिचित नही हैं। बल्कि वे ही इसके प्रथम आचार्य है। योरुप और अमेरिका की और जातियों ने इस उदार नीति का प्रथम उपदेश अंगरेज़ों से ही लिया है। स्वयं हिन्दुस्तान के शासन के विषय में पार्लमेण्ट के 'स्टेट्यूट', विशेषकर महारानी विक्टोरिया के प्रसिद्ध 'घोषणापत्र' में यही उदार नीति उस समय लिखी गई थी जब कि हिन्दुस्तानियों ने अपने स्वत्वों के विषय में आन्दोलन करना भी नही सीखा था। इसी नीति के पालन में लार्ड रिपन ने इस देश में स्थानीय आत्मशासन की प्रणाली जारी की थी। इसी के अनुकरण से सन् १८६२ में कौंसिलों में प्रजा के प्रतिनिधियों के नियत किये जाने का क्रम जारी किया गया था। इसके पूरी रीति से काम में न लाने ही की शिकायत है।

अँगरेज़ी शासन और अँगरेज़ी नीति की यही बड़ी प्रशंसा है कि जब से पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों ने आन्दोलन प्रारम्भ किया है, तब से आज तक वे यही प्रार्थना करते आये हैं कि पार्लमेण्ट के 'स्टेट्यूट' और महारानी विक्टोरिया के 'घोषणापत्र' के अनुसार उनको उनकी दशा के योग्य उचित अधिकार दिये जायँ। बाईस वर्ष से कांग्रेस के द्वारा देश के उत्तम से उत्तम विद्वान् और राजा और प्रजा के हितैषी एक स्वर से यही पुकारते चले आये हैं कि उनको उनके देश के प्रबन्ध में उचित अधिकार दिये जायँ; किन्तु गवर्नमेण्ट ने कांग्रेस

की प्रार्थना पर अब तक बहुत उचित ध्यान नहीं दिया है। यही मूल कारण उस असन्तोष और अशान्ति का है, जो देश में दिन-दिन बढ़ती चली जाती है। यह असन्तोष उग्र उपायों के अवलम्बन से नहीं दबेगा, चाहे वे कैसे ही उग्र क्यों न हों। यह प्रजा को, उसके शासन में, उचित अधिकार देने ही से दबेगा। हम हिन्दुस्तानियों के कहने का गवर्नमेण्ट ने अब तक बहुत आदर नहीं किया है। देश के कल्याण के लिए शासक और शासित दोनों के हित के लिए हम आशा करते हैं कि 'टेम्स' की इस बुद्धिमानी और उदारता से भरी चेतावनी को पढ़कर हमारे शासक अपने उदार सिद्धान्तों के अनुसार इस देश की प्रजा के साथ बर्ताव करेंगे। यदि वे हमारा विश्वास और आदर करेंगे, तो हम उनका विश्वास और आदर करेंगे, और दोनों परस्पर प्रीतिपूर्वक साथ रहेंगे। यदि वे हिन्दुस्तानियों के प्रति अविश्वास और अनादर की घृणित नीति को न छोड़ेंगे, तो दिन-दिन प्रजा में अधिक असन्तोष बढ़ता जायगा और उसका फल दोनों के लिए शोचनीय होगा।

(ज्येष्ठ-शुक्ल ७, संवत् १९६४)

१७

स्वराज्य अथवा प्रतिनिधि शासन-प्रणाली

न्याय और धर्म की बात यह है कि प्रत्येक देश और जाति के लोग अपने देश में स्वाधीन हों और अपने ऊपर स्वयं राज करें। पुराने समय में जब कभी एक देश के लोगों ने दूसरे देश पर हमला किया है और वहाँ अपना अधिकार जमाया है तो वह केवल स्वार्थ और लोभ के कारण। तैमूर और चंगेज़, महमूद और बाबर, ये हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तान का भला करने के प्रयोजन से तो नहीं आये थे। वे असभ्य थे और उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि यह बात सपने में भी उनके ध्यान में नहीं आयी थी कि वे हिन्दुस्तानियों के लाभ के लिए हिन्दुस्तान पर आक्रमण करें और वहाँ अपना राज्य क़ायम करें। एक जाति के दूसरी जाति पर इस प्रकार के आक्रमण या अधिकार को कोई सभ्य, स्वतंत्रता का प्रेमी अच्छा नहीं कहता। इसके विपरीत हर एक स्वतंत्रता-प्रेमी न्यायवान् प्राणी यही चाहेगा कि जितना शीघ्र वैसे अधिकार का अन्त हो, उतना ही अच्छा। किन्तु इसके अतिरिक्त एक जाति का दूसरी जाति पर, एक दूसरी रीति का, अधिकार होता है। जब एक सभ्य जाति काल के चक्र में पड़ कर अपनी ऊँची दशा से गिरकर स्वतंत्रता खो बैठती है, जब उसमें उसके पूर्व पुरुषों के समान उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, तेज, प्रभाव, तथा पौरुष नहीं रह जाता, जब वह दूसरी जाति के आधीन होकर दासत्व की दुर्दशा भोगते-भोगते ऐसी दुर्बल और दरिद्रमन हो जाती है कि उसको अपने-आप ऊपर उठने का साहस और सामर्थ्य नहीं रह जाता, उस समय दैवी प्रबन्ध से कभी-कभी उस जाति से अधिक बल और पुरुषार्थयुक्त जाति, जो शासन की योग्यता और अपनी जाति के योग्य सभ्यता में, उस गिरी हुई जाति से उस समय श्रेष्ठ होती है, उसके उद्धार के लिए उसके ऊपर अधिकार पा जाती है। हमारी समझ में अँगरेज़ों का इस देश पर जो अधिकार है, वह कुछ ऐसे ही

दैवी प्रबन्ध से हुआ है। इन्होंने इस देश को अपने बाहु-बल से जीतकर नहीं लिया। सामान्य रीति से हिन्दुस्तान के लोगों की अयोग्यता और अपनी प्रबन्ध करने की योग्यता का लाभ उठाकर, इन्होंने हिन्दुस्तानियों की ही सहायता से, हिन्दुस्तान में अपना पैर जमाया और अधिकार क़ायम किया। आधुनिक समय में अँगरेज़ जाति और सब जातियों से अधिक स्वतन्त्रता की प्रेमी रही है। इसका किसी दूसरी जाति पर अधिकार जमाना उस स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। प्रारम्भ ही से, जब से अँगरेज़ जाति ने किसी जाति पर अपना अधिकार जमाया है, तो यही कहा है कि उसने उस जाति की भलाई और उद्धार के लिए ऐसा किया है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जब से अँगरेज़ों ने इस देश में अपना राज्य क़ायम किया, तब से प्रायः बड़े-बड़े अधिकारी और राजनीतिज्ञ अँगरेज़ यह कहते आये हैं कि हम लोग हिन्दुस्तानियों ही के लाभ के लिए हिन्दुस्तान में राज्य करते हैं। इस भाव को लार्ड नार्थब्रुक ने बहुत अच्छे शब्दों में प्रकट किया था। उन्होंने कहा था :

"There is one simple test which we may apply to all Indian questions : let us never forget that it is our duty to govern India, not for our own profit and advantage, but for the benefit of the Natives of India."

इसका अर्थ यह है कि "हिन्दुस्तान-सम्बन्धी सब मामलों को हमको एक सीधी जाँच से जाँचना चाहिए। हमको यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हमारा यह धर्म है कि हिन्दुस्तान का शासन हम अपने लाभ और सुभीते के लिए न करें, किन्तु हिन्दुस्तान के निवासियों के लाभ के लिए करें।"

जब १८३३ का प्रसिद्ध ऐक्ट पार्लमेंट में पेश था, उस समय भी ऐसे ही भाव प्रकट किये गए थे और ये ही भाव बहुत पूर्णता से महारानी विक्टोरिया के १८५८ के घोषणापत्र में प्रकट किये गए थे। कंज़र्वेटिव और लिबरल, दोनों दलों के अनेक अँगरेज़ राजनीतिज्ञ आज तक यह कहते आये है कि हम हिन्दु-स्तान में हिन्दुस्तानियों के लाभ के लिए शासन ही करते हैं। यदि उन सबों के वचन यहाँ उद्धृत किये जायँ तो बहुत स्थान घिर जायगा। इसलिए हम केवल मि० मार्ली की पिछली बजट-स्पीच का हवाला देते हैं जिसमें उन्होंने यह कहा कि हम लोग हिन्दुस्तान का प्रबन्ध इसलिए करते हैं कि हिन्दुस्तानी स्वयं अपने देश का प्रबन्ध एक सप्ताह भी नही कर सकते। और ऐसा करने में जो कुछ संकट, उपद्रव और डर की बातें आ पड़ें, उनका हम लोग शुद्ध आत्मा से मुक़ाबला करेंगे, इसलिए कि "We know we are not doing it for our

own interest, but for the interest of the millions committed to us." हम जानते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं वह हम अपने लाभ के लिए नहीं कर रहे हैं, किन्तु उन करोड़ों मनुष्यों की भलाई के लिए, जो हमारे सुपुर्द किये गए हैं।" मि० मार्ली जानते हैं कि सामान्य दशा में एक जाति का दूसरी जाति को अपने आधीन रखना अन्याय है। इसलिए उन्होंने मिल का यह वचन अपनी स्पीच में उद्धृत किया है, "एक प्रबल जाति का एक दूसरी जाति पर शासन करना वैसा ही उचित है, जैसा कि और कोई शासन यदि उस दूसरी जाति की वर्तमान सभ्यता की अवस्था में उसको उससे ऊँचे दर्जे की सभ्यता में चढ़ने के लिए वह शासन सहायक हो—" किन्तु उसी के साथ उन्होंने मिल का ही वचन उद्धृत कर यह भी दिखाया कि "यदि शासन करने वाली जाति अपने आधीन जाति को सब प्रकार से सभ्यता में ऊँचे चढ़ाने का उद्योग न करे, तो वह अपने बड़े भारी कर्तव्य न करने के दोष की भागी होगी।"

इस सबसे यह स्पष्ट है कि अँगरेज़ राजनीतिज्ञों के वचनों के अनुसार वे हमारे देश में हमारे ही कल्याण के लिए शासन करते हैं, अपने लाभ के लिए नहीं; और उनका यह धर्म है कि वे हमको अपने देश का आप शासन करने के योग्य बनावें। यदि उनके ये वचन उनके सच्चे अभिप्राय को प्रगट करते हैं तो अँगरेज़ी राज्य का उद्देश्य यह कभी नहीं हो सकता कि अँगरेज़ लोग समय के अन्त तक हिन्दुस्तानियों के मामलों का प्रबन्ध आप ही करते रहें; वरन् यही हो सकता है कि जब तक हिन्दुस्तानी स्वयं अपने देश का प्रबन्ध नहीं कर सकते, तभी तक अँगरेज़ प्रबन्ध करें। अब हमको यह विचारना चाहिए कि हिन्दुस्तान के वर्तमान शासन का क्रम कहाँ तक ऊपर-लिखे सिद्धान्तों के अनुकूल है, और यदि नहीं है तो उसमें क्या परिवर्तन करना चाहिए। समस्त सभ्य संसार इस बात में एकमत है कि जो लोग सभ्य और बुद्धिमान् हैं वे जैसा अपने मामलों को आप समझते हैं और जैसा अपना प्रवन्ध आप कर सकते हैं वैसा दूसरे लोग नहीं। ६५० वर्ष हुए, इंग्लैंड में किंग जॉन राजा था। वह अत्याचारी था। राज्य के प्रबन्ध में मनमानी करता था। प्रजा उसके पापों और अत्याचारों से व्याकुल थी। उसको न्याय के मार्ग में लाने के लिए इंग्लैंड में श्रीमन्तों ने उससे युद्ध किया और उसको परास्त कर मैग्नाकार्टा (प्रजा के अधिकारों का बड़ा प्रपत्र) प्राप्त किया। उस समय से उस देश में प्रजा का अधिकार आरम्भ हुआ और कुछ वर्ष बाद साइमन डिमांटफर्ट के समय में पार्लमिण्ट के द्वारा प्रजा की सम्मति से शासन की प्रणाली इंग्लैंड में स्थापित हुई। उस समय इंग्लैंड में देशभक्तों का एक गीत गाया जाता था, जिसका

अभिप्राय यह था :

"Let the community of the realm advise and let it be known what the generality to whom their own laws are best known think on the matter. They who are ruled by the laws know those laws best, they who make daily trial of them are best acquainted with them, and since it is their own affairs which are at stake, they will take more care, and will act with an eye to their own peace." "It concerns the community to see what sort of men ought justly to be chosen for the weal of the realm."

"देश के निवासियों को अपनी राय देने दो, और यह प्रकट होने दो कि सर्व साधारण, जो कि अपने क़ानून को औरों की अपेक्षा बहुत अच्छी तरह जानते हैं, इस विषय में क्या सम्मति रखते हैं। क़ानून के द्वारा जिनका शासन किया जाता है वे ही इस क़ानून को उत्तम रीति से समझते हैं, जो नित्य क़ानून की जाँच करते हैं वे ही उससे भली प्रकार परिचित होते हैं, और जब उन्हीके कामों पर उनके लाभ और हानि का दारमदार है, तब वे उनकी ओर अधिक ध्यान देंगे। और वे अपने देश की शान्ति की ओर दृष्टि रखते हुए काम करेंगे। यह प्रजा का काम है कि वे इस बात पर ध्यान रक्खें कि देश की भलाई के लिए किस प्रकार के लोग उचित रीति से चुने जाने चाहिए।" जो सिद्धान्त इस गीत में प्रकट किया गया था, उसकी दिन-दिन विजय होती आई है। इसी सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैंड में, और उसकी देखा-देखी योरुप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया में, प्रजा के प्रतिनिधियों की सम्मति से शासन का क्रम, सबसे उत्तम क्रम समझकर जारी किया गया है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सर हैनरी बैंबेल बैनमैन ने कहा है—

"Good government could never be a substitute for government by the people themselves."

—"सुराज्य (अर्थात् अच्छा राज्य) उस राज्य (अर्थात् स्वराज्य) के समान नहीं हो सकता, जिसमें प्रजा स्वयं अपने ऊपर आप शासन करती है।"

इसी सिद्धान्त को ठीक मानकर हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे विचारवान् लोग बाईस वर्ष से स्वराज्य, अर्थात् प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा राज्य, की प्रणाली के जारी करने के लिए गवर्नमेण्ट से प्रार्थना करते आये हैं। इण्डियन नेशनल कांग्रेस का पहिला अधिवेशन १८८५ में बम्बई में हुआ था। उसका तीसरा प्रस्ताव यह था कि "इस कांग्रेस की राय में वाइसराय की और प्रान्तीय गवर्नमेण्टों की क़ानून बनाने वाली कौंसिलों का सुधार और प्रजा के चुने हुए

मेम्बरों की एक अच्छी संख्या नियत किये जाने के क्रम से उनकी वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है। कांग्रेस की राय में कुल आमद-खर्च के बजट इन कौंसिलों के सामने विचार के लिए पेश होने चाहिए। और उनके मेम्बरों को अधिकार होना चाहिए कि कर्मचारियों से शासन के सब विभागों के विषय में सवाल पूछ सकें। गवर्नमेण्ट के कर्मचारियों को यह अधिकार रहे कि जब वे उचित समझें, इस कौंसिल के अधिक संख्या के मेम्बरों की राय को न मानें; किन्तु हाउस ऑफ कॉमन्स की एक स्थायी कमेटी नियत की जाय कि जिसमें, जब गवर्नमेण्ट के कर्मचारी अपने इस अधिकार को काम में लावें और कौंसिल के अधिक संख्या के मेम्बर उस पर अपना विरोध प्रगट करें, तो वह कमेटी उस पर विचार करे।" इस प्रस्ताव को चिरस्मरणीय मित्र काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ने, जो पीछे बम्बई-हाईकोर्ट के जज नियत हुए थे, पेश किया था; माननीय सर (तब मिस्टर) सुब्रह्मण्य अय्यर ने, जो अब मद्रास-हाईकोर्ट के स्थानापन्न चीफ़ जस्टिस है, और माननीय दादाभाई नौरोजी ने समर्थन दिया था। उस वर्ष से प्रतिवर्ष कांग्रेस इस बड़े सुधार के लिए प्रयत्न करती आई। सन् १८८९ में कांग्रेस का निमंत्रण स्वीकार कर मि० ब्रैडला पाँचवीं कांग्रेस में बम्बई में आये, और कांग्रेस का तीन दिन तक कार्य देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुए। उन्होंने जो स्पीच कांग्रेस के अन्त के दिन दी, उसमें उन्होंने काग्रेस का उद्देश्य बहुत ठीक रीति से प्रकट किया था। वह यह था कि :

"To win within the limits of the constitution the most perfect equality and right for all."

अर्थात् अँगरेज़ी साम्राज्य की मर्यादा के भीतर रहकर हिन्दुस्तान के सब निवासियों के लिए पूरी से पूरी बराबरी और अधिकार हासिल करना (जिसमें हिन्दुस्तानी होने के कारण कोई किसी जाति या देश के मनुष्य से किसी अंश में नीचा न समझा जाय, न किसी हक़ से वंचित रक्खा जाय)। मि० ब्रैडला ने इंग्लैंड लौटकर कौंसिलों के सुधार और उन्नति के लिए पार्लमिेण्ट में एक बिल पेश किया। उस बिल के समर्थन में हिन्दुस्तान के प्रत्येक प्रान्त से लाखों हस्ताक्षर सहित कितने ही मैमोरियल पार्लमिेण्ट में भेजे गए थे। ऐसी दशा में इंग्लैंड की गवर्नमेण्ट ने यह उचित समझा कि अपनी ओर से एक बिल पेश करे, और मि० ब्रैडला ने गवर्नमेण्ट के अनुरोध से अपने बिल को वापस लिया। गवर्नमेण्ट का बिल सन् १८९२ में पास हो गया और उसके अनुसार कौंसिलों का सुधार हो गया। यद्यपि जैसा अधिकार कांग्रेस चाहती थी, वैसा अधिकार प्रजा के प्रतिनिधियों को इन कौंसिलों में नहीं मिला; तथापि यह समझकर कि

यह सुधार का प्रथम चरण है और इनके कुछ दिन तक ठीक रीति से चलने के उपरान्त हमको और अधिकार माँगने में दृढ़ता होगी, कांग्रेस के नेताओं ने इस सुधार को उस समय स्वीकार कर लिया। तब से सुधारी हुई कौंसिलों में प्रजा के चुने हुए कुछ प्रतिनिधि नियत होते हैं और उनके द्वारा कौंसिलों में प्रजा के हित-अनहित की वार्ता पर अधिक विचार होता है; किन्तु इन कौंसिलों का सुधार होने पर भी, वह प्रतिनिधि शासन-प्रणाली या स्वराज्य, जिसके लिए कांग्रेस ने यत्न प्रारम्भ किया था, अब तक हमको नहीं प्राप्त है। प्रजा के प्रतिनिधियों की राय से राज्य का शासन नहीं होता। और जब तक यह नहीं होगा, तब तक हिन्दुस्तान का वर्तमान दुर्दशा से उद्धार नहीं होगा।

(आषाढ़-कृष्ण १४, संवत् १९६४)

१८

स्वराज्य अथवा प्रतिनिधि शासन-प्रणाली—२

पिछले लेख में हम यह दिखा चुके हैं कि प्रजा के प्रतिनिधियों की राय से राज्य करने का क्रम सब सभ्य संसार में शासन का उत्तम क्रम समझा गया है। तथा यह कि हिन्दुस्तान के विचारवान् लोग भी इसी क्रम को उत्तम समझकर बहुत दिनों से गवर्नमेण्ट से यह निवेदन करते आए हैं कि वह इस देश में प्रतिनिधि-शासन का क्रम जारी करे। सन् १८५८ में जो ग़दर हुआ था, उससे अँगरेज़ और हिन्दुस्तानी दोनों का ध्यान शासन के क्रम के सुधार की ओर गया था। सन् १८५८ में सर सैयद अहमद खाँ ने 'हिन्दुस्तान के बग़ावत के कारण' इस नाम की एक पुस्तक लिखी थी उसमें उन्होंने अपना यह विश्वास प्रगट किया था कि गवर्नमेण्ट और प्रजा दोनों के कल्याण के लिए यह ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान में पार्लमिण्ट का क्रम जारी किया जाय। उन्होंने लिखा था कि 'मैं यहाँ पर इस बात की बहस में नहीं पड़ना चाहता कि हिन्दुस्तान के अजान और अपढ़ लोग क़ानून बनाने वाली कौंसिल में किस तरह भरती किये जायँ, या कि वे अँगरेज़ी पार्लमिण्ट के तरह की एक सभा अपनाने के लिए किस तरह पर चुने जायँ। ये सब टेढ़े मामले हैं। यहाँ पर हम इतना ही साबित करना चाहते हैं कि ऐसा करना सिर्फ मतलब की ही बात नहीं है, किन्तु हर तरह से ज़रूरी है और यह कि जो ग़दर हुआ, वह ऐसा क्रम जारी न करने का फल है।"

तीन बरस पीछे सन् १८६१ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' पास हुआ। उसके अनुसार कुछ हिन्दुस्तानी वाइसराय की कौंसिल के मेम्बर मुक़र्रर हुए। सन् १८६४ में गाज़ीपुर में सर सैयद ने एक बड़ी ज़ोर की स्पीच दी थी। इसमें उन्होंने कहा था : "हिन्दुस्तानियों का वाइसराय की कौंसिल में मेम्बर मुक़र्रर किया जाना हिन्दुस्तान के इतिहास में एक स्मरण रखने लायक़ बात

है। मैं विश्वास करता हूँ कि वह दिन बहुत दूर नहीं है और जब आवे तो मेरे वचनों को याद करना, जब कि उस कौंसिल में हर कमिश्नरी या ज़िले से प्रतिनिधि मुक़र्रर किये जायँगे, और यह कि इस तरह, वह कौंसिल, जो क़ानून जारी करेगी, वे सारे देश की राय से बने हुए क़ानून होंगे।"

१८८३ में लार्ड रिपन ने जब स्थानीय आत्मशासन की प्रथा जारी की, उस समय भी वाइसराय की कौंसिल में सर सैयद अहमद ने अपना बड़ा हर्ष प्रकाश किया था। उन्होंने कहा था :

"To that noble scheme (of local-self government) I am proud to give my hearty, though humble support ; for rejoice to feel that I have lived long enough to see the inauguration of the day when India is to learn at the hands of her rulers those principles of self-help and self-government which have given birth to representative institutions in England and have made her great among the nations of the world."

अर्थात्, "उस स्थानीय आत्म-शासन प्रणाली का मैं अभिमान के साथ हृदय से समर्थन करता हूँ, क्योंकि मुझको यह सोचकर आनन्द होता है कि मैं इतने दिन जिया हूँ कि मैं उस दिन का प्रारम्भ देखता हूँ जब कि हिन्दुस्तान अपने शासकों के द्वारा आत्म-साहाय्य और आत्म-शासन के उन सिद्धान्तों को सीखेगा, जिनसे इंग्लेड में प्रतिनिधि-शासन के समाज पैदा हुए है, जिन्होंने इंग्लैंड को संसार की जातियों में बड़ा बनाया है।"

उसी अवसर पर उन्होंने यह भी कहा था—

"The principle of self-government by means of representative institutions is perhaps , the greatest and noblest lesson which the beneficence of England will teach India."

अर्थात् "प्रतिनिधियों से बने समाजों के द्वारा आत्म-शासन का सिद्धान्त शायद सबसे बड़ा और सबसे उत्तम उपदेश है जो इंग्लैड की उदारता हिन्दुस्तान को सिखावेगी।"

हिन्दू-मुसलमान सब इस विषय में एकमत थे। राजा शिवप्रसाद ने भी, वहीं, वाइसराय की कौंसिल में, कहा था :

"As to the self-government scheme the whole country, from the Himalaya as to Cape Comorin, has responded in term of unqualified approval."

अर्थात्, "आत्म-शासन की प्रणाली का हिमालय से कन्याकुमारी तक सारे

देश में बिना विशेषण के अनुमोदन प्रकाश किया है।"

यह सन् १८८३ की बात है। इसके उपरान्त जब सन् १८८५ में कांग्रेस का जन्म हुआ, तब से हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों में जो वृद्ध से वृद्ध और प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित रहे हैं वे प्रजा के चुने प्रतिनिधियों के द्वारा आत्म-शासन की वृद्धि करने के लिए प्रार्थना करते आए हैं। मि० दादाभाई नौरोजी, राजा राजेन्द्रलाल मित्र, राजा सर टी० माधवराव से लेकर प्रायः सब प्रान्तों के और सब जातियों के प्रतिष्ठित विद्वान् कांग्रेस में एकत्र होकर एक स्वर से इस बात की प्रार्थना करते आए है। सर सैयद अहमद ने १८८८ में एक शोचनीय प्रभाव के वश, मोह में पड़कर, कांग्रेस का विरोध किया था और उनके प्रभाव से बहुत से पढ़े-लिखे मुसलमान भी कांग्रेस से अलग रहे आये हैं। किन्तु उनमें भी मि० जस्टिस तैयबजी और मद्रास के नवाब सैयद मुहम्मद ऐसे गम्भीर बुद्धि और स्वतंत्र विचार के विद्वान् बराबर कांग्रेस के साथ रहे है।

इस पुरानी कथा के कहने से हमारा इस बात को दिखाने का प्रयोजन है कि जब से हिन्दुस्तान में पिछला बड़ा राजविद्रोह हुआ तथा जब से इंग्लैंड की महारानी और पार्लमिण्ट ने हिन्दुस्तान के शासन का भार अपने ऊपर लिया, तब से आज तक हिन्दुस्तान के बड़े से बड़े राजभक्त और देशहितैषी, राजा और प्रजा, दोनों के कल्याण के लिए प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा आत्म-शासन की प्रणाली जारी करने की प्रार्थना करते आए है। इसी को उन्होंने शासन का सबसे उत्तम क्रम समझा है। उनके इस मत का इंग्लेंड के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ और गवर्नमेण्ट के अधिकारी वचन से और कर्म से बराबर समर्थन करते आए है।

सन् १८६१ से गवर्नमेण्ट के क़ानून बनाने वाली कौसिलों में हिन्दुस्तानियों को अपनी ओर से चुनकर मेम्बर मुक़र्रर करना प्रारम्भ किया। सन् १८८२ से कांग्रेस की प्रार्थना को मानकर प्रजा को उन मेम्बरों को चुनने का अधिकार दिया। फिर कांग्रेस की प्रार्थना को मानकर लार्ड मिण्टो और मि० मार्ली उन कौंसिलों मे मेम्बरों की संख्या और उनके अधिकार बढ़ाने का विचार कर रहे हैं, और दोनों महाशय कह चुके है कि यह सुधार शीघ्र जारी किया जायगा। इससे कह स्पष्ट है कि चाहे सुधार कितना ही धीरे-धीरे हो, उसका प्रवाह प्रजा को बढ़ता हुआ आत्म-शासन का अधिकार देने की ओर ही चल रहा है। और इसी में राजा और प्रजा के लिए कल्याण है कि सुधार इसी मार्ग में बढ़ता जाय और अन्त को हिन्दुस्तानियों को आत्म-शासन का पूरा अधिकार—अर्थात स्वराज्य—प्राप्त हो।

कांग्रेस का इतिहास देखने से दो बातें स्पष्ट हैं : एक यह कि जिस बात पर कांग्रेस ने पहले से अपनी दृष्टि रक्खी है, वह यह है कि हिन्दुस्तानियों को प्रतिनिधि-प्रणाली से सच्चे आत्म-शासन का वैसा ही पूर्ण अधिकार प्राप्त हो, जैसा कि इंग्लैंड के आधीन और आत्म-शासन करने वाले उपनिवेशों को प्राप्त हुआ है। यह बात कांग्रेस के नेताओं के प्रारम्भ के समय के लेखों और कथनों से बिल्कुल स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि कांग्रेस के नेताओं ने बहुत बुद्धिमानी से पहले से ही यह सिद्धान्त मान्य कर रक्खा है कि यद्यपि देश आत्म-शासन का पूरा अधिकार पाने के योग्य भी है, तथापि हम लोग धीरे-धीरे अधिकार पाने से भी सन्तुष्ट रहेंगे, जिसमें गवर्नमेण्ट को, विदेशीय होने के कारण, जो यह शंका होती है कि कदाचित् ऐसे अधिकार देने से कोई हानि हो, उसका भी निराकरण होता जाय। यही कारण है कि कांग्रेस ने कौंसिल के अत्यल्प सुधारों को भी मानकर, जब कई वर्ष तक गवर्नमेण्ट देख चुकी कि कौंसिल में प्रजा के चुने हुए मेम्बरों के नियत होने से लाभ हुआ न कि हानि, तब यह प्रार्थना फिर उठायी कि अब उनकी संख्या भी बढ़ा दी जाय और उनको कुछ सच्चे अधिकार भी दिये जायँ। १६०४ की कांग्रेस में नवाँ प्रस्ताव इसी विषय का था। सन् १६०५ में काशी की कांग्रेस में माननीय मि० गोखले ने इस बात की याद दिलायी थी कि :

"The goal of the Congress is that India should be governed in the interests of the Indians themselves, and that in course of time a form of government should be attained in this country similar to what exists in the self-governing Colonies of the British Empire."

अर्थात्, "कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि हिन्दुस्तान का शासन हिन्दुस्तानियों के लाभ के लिए ही किया जाय और कुछ काल के अनन्तर इस देश मे उसी प्रकार का शासन प्राप्त किया जाय जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के आत्मशासनाधिकारी उपनिवेशों (सैल्फ़गवर्निंग कॉलोनीज़) में है।

सन् १६०६ की कांग्रेस में शिक्षित हिन्दुस्तानियों के मुकुटमणि श्रीमान दादाभाई नौरोजी ने अपनी सभापति-पद की वक्तृता में इन दोनों बातों को बहुत अच्छी रीति से स्पष्ट कर दिया था। इंग्लैंड के राजाओं की और पार्लमेंट की प्रतिज्ञाओं से अनेक युक्ति और प्रमाणों से यह दिखाकर, कि जो कोई मनुष्य अँगरेज़ी गवर्नमेण्ट के झंडे के नीचे आ जाता है, वह उसी समय से वैसा ही स्वच्छन्द ब्रिटिश नागरिक माने जाने के योग्य हो जाता है, मानो वह इंग्लैंड

का ही निवासी हो और वहीं उसका जन्म हुआ हो। उन्होंने कहा :

"We do not ask any favours, we want only justice. Instead of going into any further divisions or details of our rights as British citizens, the whole matter can be comprised in one word—'self government' or Swaraj like that of the united kingdom or the Colonies."

अर्थात्, "हम लोग कोई अनुग्रह नही माँगते। हम लोग केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश नागरिक होने से हमारे जो हमारे स्वत्व या अधिकार हैं उनके सब विभाग या तफ़सील के वर्णन में न पड़कर हमारा मनोरथ एक शब्द से प्रकट कर दिया जा सकता है। आत्म-शासन या स्वराज, जैसा कि इंग्लैड में या उसके उपनिवेशों (कालोनीज़) में है।"

इससे अधिक कोई स्वतंत्रता का प्रेमी क्या चाह सकता है! वक्तृता में आगे चलकर श्रीमान् दादाभाई ने कहा था :

"It is no good telling us, therefore, that a good beginning cannot be made now in India for what Mr. Gladstone called a 'living representation.' The only thing needed is the willingness of the Government. The statesmen at the helm of the present government are quite competent and able to make a good beginning such a systematic beginning that it may naturally in no long time develop itself into full legislatures of self government like those of the self governing Colonies."

अर्थात् यह कि "हम लोगों से इस बात के कहने से कुछ लाभ नहीं है कि हिन्दुस्तान में अब भी सच्चे क्रम की प्रतिनिधि-प्रणाली, जिसको मि० ग्लैडस्टन ने 'सजीव प्रतिनिधित्व' कहा था, उसका आरम्भ नहीं किया जा सकता। इसके लिए एक ही बात, जिसकी ज़रूरत है, वह यह है कि गवर्नमेंट इसको जारी करने का मन करे। जो राजनीतिज्ञ पुरुष इस समय की गवर्नमेंट के प्रधान हैं, वे इस मार्ग में एक अच्छे क्रम का आरम्भ कर सकते हैं—ऐसा क्रम-युक्त आरंभ कि वह सहज में थोड़े ही समय में बढ़कर आत्म-शासन करने वाली, पूरा क़ानून बनाने वाली कौंसिलों का रूप धारण कर ले, जैसा आत्म-शासन करने वाली कॉलोनीज़ में (उपनिवेशों) में स्थापित है।"

इसी अभिप्राय का एक प्रस्ताव भी पिछली कांग्रेस में पास हुआ था, जिससे यह स्पष्ट है कि कांग्रेस अन्त में आत्म-शासन करने वाली कॉलोनीज़ के सामन आत्म-शासन का पूरा अधिकार पाना चाहती है; किन्तु इस अधिकार को धीरे

धीरे पाने में संतुष्ट है।

एक बहुत बड़ी बात, जो इस प्रसंग में ध्यान देने लायक है, यह है कि श्रीमान् दादाभाई नौरोजी के उस प्रसिद्ध व्याख्यान में, जिससे हमने ऊपर के वचन उद्धृत किये हैं, एक शब्द भी ऐसा नहीं है जो इस बात को सूचित करे कि वे अँगरेज़ी राज्य उलटकर, या हटाकर, अपने देशवासियों (भारतीयों) का स्वराज्य स्थापित करना चाहते है। इसके विपरीत उनके व्याख्यान में स्थान-स्थान पर यह स्पष्ट है कि वे अँगरेज़ी साम्राज्य में ही रहकर अँगरेज़ी गवर्नमेंट से यह स्वराज्य चाहते हैं—और जो अधिक गौरव की बात है, उसके पाने की आशा रखते हैं। जब से कांग्रेस हुई, तब से आज तक कांग्रेस में दी गई, प्रधान और अप्रधान कुल वक्ताओं की वक्तृताओं से और कांग्रेस के प्रस्तावों से भी यही स्पष्ट है कि वे अँगरेज़ी साम्राज्य के अधिकार में ही आत्म-शासन का अधिकार चाहते है। इस बात को हम इतना स्पष्ट इसलिए कर रहे हैं कि कुछ दिनों से हमारे कुछ देशबन्धु, प्रजा की पुकार पर गवर्नमेंट के ध्यान न देने से खिन्न होकर, अधीरता और अदूरदर्शिता से, इंग्लैंड का सम्बन्ध तोड़कर भारत में 'स्वराज' स्थापित करने की चर्चा करने लगे हैं और अपने वचनों से अपक्व बुद्धि के नवयुवकों और अल्प विचार के मनुष्यों को भ्रम में डाल रहे हैं। देश की वर्तमान अवस्था में हम उनके इस प्रलाप को अत्यन्त अहितकारी समझते हैं। इस प्रकार के प्रलाप से उनको उस प्रकार का स्वराज तो कभी प्राप्त ही न होगा, जिनकी वे चर्चा करते हैं; किन्तु उस साध्य स्वराज के विषय में भी, जिसके लिए दादाभाई से लेकर समस्त विचारवान् देशभक्त प्रार्थना कर रहे हैं, मति-भ्रम और विरोध उत्पन्न होगा और उसके साधन के यत्नों में कठिनाइयाँ बढ़ जायँगी। इसलिए विवेकशील देशप्रेमियों का यह कर्तव्य है कि पहले सब छोटे और बड़ों में विचार में यह बात स्पष्ट कर दें कि जो आत्म-शासन प्रणाली वा स्वराज्य दादाभाई नौरोजी और उनके अनुयायी माँगते हैं, उसी स्वराज से उनका पूरा कल्याण होगा—वही साध्य है; उसी को गवर्नमेंट से प्राप्त करने के लिए दादाभाई के उपदेश किये हुए मर्यादानुकूल मार्ग से यत्न करना चाहिए। दूसरे प्रकार के 'स्वराज्य' की चर्चा न केवल व्यर्थ अपितु अहितकारी है—यह हमको अपने भूले हुए देश-भाइयों को समझाना है। इसी के साथ अर्ल पर्सी और 'लंदन टाइम्स' के विचार के संकुचित-दृष्टि अँगरेजों को भी यह समझा देना है कि उनका यह ख़याल करना मूर्खता है कि हिन्दुस्तान के निवासी अपनी कुल प्राचीन और नवीन सभ्यता और शिक्षा और मनुष्यत्व के रहते अब केवल 'स्वराज्य' से सन्तुष्ट रह सकते हैं। उनको और उनके विचार के सब अँगरेज़ों को

यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि हिन्दुस्तानी बिना उस स्वराज्य के पाये, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं, सन्तुष्ट और सुखी न होंगे, और न्याय के अनुकूल जो कुछ यत्न और उपाय वे उसके पाने के लिए कर सकते हैं, उनको अवश्य करेंगे। स्वराज्य ही उत्तम से उत्तम सुराज है। उससे न्यून किसी क्रम में पूरा सुराज का सुख और लाभ हो ही नहीं सकता।

(आषाढ़-शुक्ल ६, संवत् १९६४)

१९

स्वराज्य की योग्यता और उसके साधन

इससे पहले लेख में हम स्पष्ट रीति से लिख चुके है कि स्वराज्य से हमारा अर्थ है—प्रजा के चुने प्रतिनिधियों के द्वारा प्रजा की सम्मति से राज्य के प्रबन्ध का अधिकार। हम यह भी लिख चुके हैं कि यह अधिकार हम अँगरेज़ी साम्राज्य के भीतर अँगरेज़ी साम्राज्य का एक अंग होकर माँगते हैं। और हम यह दिखा चुके हैं कि यह स्वराज्य हम धीरे-धीरे पाने में संतुष्ट है। अब प्रश्न यह है कि हम इसके योग्य हैं अथवा नहीं। हम बिना संकोच के कहते हैं कि हम पूर्ण रूप से इसके योग्य हैं। जो लोग कहते हैं कि हम इसके योग्य नही, वे या तो अज्ञान से ऐसा कहते हैं, या दुर्भाव से। जिनको हमारी सच्ची दशा विदित नहीं हैं, जिन्होंने कभी हमारी विद्या, हमारा नियमों के पालन का स्वभाव, हमारी कुलीनता, हमारे इतिहास से परिचय नही किया, वे यदि कहते हैं कि हम स्वराज्य के योग्य नहीं, तो उनका कहना उतने ही गौरव के योग्य है जितना किसी ऐसे पुरुष का, जो अँगरेज़ी भाषा से परिचय नही रखता, यह कहना कि अँगरेज़ी कविता ऐसी अश्लील है कि वह कुलवती स्त्रियों के पढ़ने के योग्य नहीं। जिस बात को मनुष्य जानता ही नही, उसके विषय में उसकी सम्मति का क्या मान हो सकता है! दूसरे वे योरोपीय लोग है जिनमें यह दुर्भाव समाया है कि प्रतिनिधि-शासन प्रणाली के चलाने की योग्यता विशेषकर यूरोपीय जातियों ही को है, एशिया की जातियों को नहीं। जापान की उन्नति और उसकी प्रतिनिधि-शासन के क्रम में सफलता को देखकर वे लाचार होकर कहते हैं कि जापानी अपवाद हैं, उनके कारण सामान्य नियम ग़लत नहीं समझा जा सकता। चीन और फ़ारस में पार्लमेण्ट के जारी होने का हाल सुनकर वे कहते है कि थोड़े दिन बाद यह मालूम होगा कि यह क्रम चीन और फ़ारस में नहीं चल सकेगा।

जिन योरोपियनों में जातीय अभिमान और जातीय पक्षपात समाया है, वे कभी दूसरी जाति के गुणों को नहीं स्वीकार करेंगे; और जो अँगरेज़ यह चाहते हैं कि हिन्दुस्तान के लोगों पर सदा-सर्वदा उनका वैसा ही अधिकार बना रहे, जैसा आज है, उनकी आँखों में हिन्दुस्तान के लोग समय के अन्त तक इस योग्य नही होंगे कि उनको देश के शासन में कुछ अधिकार दिया जाय। किन्तु जिन अँगरेज़ों के विचार उदार हैं, जो पक्षपात से रहित हैं, विशेषकर वे, जो हमारे देश में रहकर हमारे बीच में चल-फिरकर हमारा सब कच्चा और सच्चा हाल समझे हुए हैं, जिन्होंने हमारी विद्या, हमारी योग्यता का अनुभव किया है, हमारे चरित्र को जाँचा है, हमारी मान-मर्यादा, हमारे शील-स्वभाव को समझा है, वे मुक्त कण्ठ से यह कहते है कि हम लोग स्वराज्य पाने के योग्य हैं; यद्यपि वे यह भी कहते हैं कि गवर्नमेण्ट अपने संतोष के लिए हमको यह अधिकार धीरे-धीरे थोड़े-थोड़े करके दे। ऐसे उदार अँगरेजों में सबसे अधिक आदरणीय, कांग्रेस के जन्मदाता मि० ए० ओ० ह्यू म, सर विलियम बेडर्बर्न, सर हेनरी कॉटन, चिरस्मरणीय मि० जॉर्ज यूल, मि० डिग्घी और अनेक सज्जन थे, और है। इन दो मतों से कौन-सा मत सही है, इसके जाँचने के लिए प्रत्यक्ष सबसे बड़ा प्रमाण है। जो लोग कहते हैं कि हम स्वराज्य के योग्य नही, उन्होंने स्वराज्य की योग्यता का क्या प्रमाण माना है? क्या उनको यह मालूम है कि जब साइमन डी० माण्टफर्ड ने १२६५ में प्रजा की पहली अँगरेज़ी पार्लामेण्ट एकत्र की थी, उस समय अँगरेज़ों की सभ्यता की क्या अवस्था थी? उनमें कितने लोग पढ़े-लिखे थे? उनमें से कितने अपना काम छोड़कर सर्वसाधारण के काम में समय लगाने को तैयार थे? क्या उनको यह नही मालूम कि कुछ दिनों तक पार्लामेण्ट में, मेम्बरों को हाज़िर करने के लिए वारण्ट जारी किये जाते थे। जो दशा उस समय अँगरेज़ों की थी उससे, और जो दशा आज हिन्दुस्तानियों की है उससे, क्या कोई तुलना की जा सकती है?

प्राय: यह कहा जाता है कि स्वराज्य या प्रतिनिधि-शासन प्रणाली के जारी करने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार हो जाय। सर्वसाधारण में शिक्षा के प्रचार को सभी उन्नति का मूल समझते हैं और अनेक लाभों के लोभ से हम उसको हृदय से चाहते हैं। प्रतिनिधि-शासन के क्रम में यह सहायक होगा। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि बिना इस शिक्षा के प्रतिनिधि-शासन का क्रम जारी नहीं किया जा सकता, अथवा चल नहीं सकता। बीस वर्ष हुए, चिरस्मरणीय मि० यूल ने प्रयाग की १८८८ की कांग्रेस में बहुत अच्छी रीति से प्रतिपादन किया था कि इंग्लेंड में भी पार्लामेण्ट

के मेम्बरों के चुनने का अधिकार पाने के लिए जो एकमात्र योग्यता देखी जाती थी, वह यह थी कि जिसको यह अधिकार दिया जाय, उसकी कुछ संपत्ति देश में हो। चार सौ वर्ष तक यह हक़ उनको दिया जाता था, जिनके पास चालीस शिलिग (अर्थात् उस समय की दर के अनुसर २० रुपया) साल की आदमनी की ज़मीन रहती थी। अब यह हक़ उनको दिया जाता है कि जो किसी मकान में रहते हैं और कुछ सालाना टैक्स देते हैं। अब वहाँ लोगों को क़ानूनन् पढ़ना पड़ता है, इसलिए वोट देने वाले प्रायः पढ़े-लिखे होते हैं। किन्तु ब्रिटिश राज्य में कभी यह बात आवश्यक नहीं समझी गई कि पार्लमेंट के मेम्बरों के लिए वही पुरुष वोट दे सके जो पढ़ा-लिखा हो। लेकिन मान भी लिया जाय कि ऐसा ही है, तो भी यह देखा जाता है कि इस विषय में सौ वर्ष पहले इंग्लैंड की जो दशा थी, उससे आज हिन्दुस्तान की दशा बहुत अधिक अच्छी है। हिन्दुस्तान में अब हर ९ आदमियों में से एक लिख-पढ़ सकता है। प्रोफेसर राजर्स अपनी 'ब्रिटिश सिटीज़न' नामक पुस्तक में लिखते है कि "मैं नहीं विश्वास करता कि (इंग्लैड में) १०० वर्ष पहले दस पुरुषों में से एक और बीस स्त्रियों में से एक से अधिक पढ-लिख सकते थे। जब मै हैम्पशायर नामक गाँव में बाल्यावस्था में था, तब किसानों में चालीस वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले पुरुषों में मुश्किल से एक-दो ही पढ़-लिख सकता था? एक या दो सदी और पहले इंग्लैड के निवासी, पुरुष और बालक, ऊँचे और नीचे, कुछ मुट्ठी-भर आदमियों को छोड़कर, घोर अज्ञान में डूब रहे थे और तब भी इंग्लैड में हाउस ऑफ कॉमन्स था।"

१८२१ तक इंग्लैड में सिर्फ १८,४६७ स्कूल थे और उनमें केवल साढ़े ६ लाख विद्यार्थी पढ़ते थे। बढ़ते-बढ़ते १८८१ में १,२२,००० के लगभग स्कूल हुए और उनमें ३३ लाख के क़रीब विद्यार्थी पढ़ने लगे। इतने ही स्कूल और विद्यार्थी हिन्दुस्तान में १८८८ मे थे और मि० यूल ने बहुत ठीक कहा था कि विद्या की योग्यता के विचार से भी हिन्दुस्तान में इतने लोग उस योग्यता और गुण के रखने वाले थे जितने दो-तीन पुश्त पहले इंग्लैड में थे, जो मर्यादा-बद्ध शासन में अच्छी रीति से शामिल किये जा सकते थे। पिछले बीस वर्षों में देश में विद्या की और अधिक उन्नति हुई है। पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई है। कालेजों से सुशिक्षित लोग निकलकर पब्लिक सर्विस में, वकालत में, डाक्टरी में, इंजीनियरी में, बड़े और छोटे व्यापारों में, साहित्य में, अध्यापक-वृत्ति में, समाचार-पत्रों के लिखने में, अपनी विद्या और योग्यता का अच्छा परिचय देकर यश और धन पैदा करते आये है। जिस विभाग में गवर्नमेण्ट ने

हिन्दुस्तानियों को भरती किया है, उसीमें उन्होंने अपनी योग्यता दिखायी है और अपने देशवासियों की प्रतिष्ठा बढ़ायी है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सब जाति के हिन्दुस्तानियों ने अपनी विद्या, विवेक और सुचरित्र से अपने देश की प्रतिष्ठा बढ़ायी है। युद्ध मे और शान्ति मे, क़ानून बनाने वाली कौंसिलों में और सर्वसाधारण प्लेटफार्मों पर, हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस तथा कमिश्नर और कलेक्टर के पदों पर, बड़े अस्पतालों के चार्ज में और बड़ी इमारतों के बनाने में, बैंकों का प्रबन्ध करने और देशी-विदेशी व्यापार में, देशी राज्यों में मंत्रियों के पदों पर और रियासतों का प्रबन्ध करने में, जहाँ-जहाँ पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों को अवसर दिया गया है या उन्होंने अपना रास्ता आप काटकर निकाला है, वहाँ उन्होंने साथ में काम करने वाले अँगरेज भाइयों के मुकाबिले मे तारीफ के साथ काम किया है। हिन्दुओं की निज की सभ्यता कई सहस्र वर्ष की प्राचीन सभ्यता है। मुसलमानों की सभ्यता भी १५०० सौ वर्ष की पुरानी सभ्यता है। पारसियों की सभ्यता भी बहुत प्राचीन है। ये तीनों जातियाँ बहुत दिनों तक ऊँची श्रेणी की सभ्यता और प्रभाव का स्वाद चख चुकी हैं। उनकी सन्तानों ने अँगरेज़ी शिक्षा पाकर अँगरेज़ी सभ्यता का गुण ग्रहण कर अपने को उत्तम से उत्तम सभ्य मनुष्यों के योग्य काम करने के अधिक योग्य बनाया है। केवल उनके पराधीन होने के बड़े पाप के कारण आज न सिर्फ लार्ड कर्ज़न, अपितु मि० जॉन मोर्ली ऐसे उदार अँगरेज़ भी यह कहते हैं कि हम आत्म-शासन के अधिकार पाने के योग्य नही।

सर हेनरी मेन ऐसे विद्वान् लिख चुके हैं कि हिन्दुस्तान में ग्राम-पंचायतों का क्रम बहुत पुराने समय से जारी था। हिन्दुस्तान के लोगों को पंचों को चुनने और उनकी राय के अनुसार काम करने का बहुत पुराना अभ्यास चला आता है और अब तक है। इसके अतिरिक्त सन् १८८३ में, जब उदारहृदय शासक लार्ड रिपन ने लोकल सैल्फ गवर्नमेण्ट जारी किया, उस समय से हर साल हज़ारों पुरुष नगर-नगर और ज़िले-ज़िले म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बरों को नियम के अनुसार चुनते है। सन् १८९३ से म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर लेजिस्लेटिव कौसिलों के मेम्बर चुनने के लिए अपना-अपना प्रतिनिधि मुक़र्रर करते हैं और वे प्रतिनिधि कौंसिलों के मेम्बरों को नामज़द करते हैं। प्रान्तीय कौसिल के मेम्बर वाइसराय की कौसिल के लिए मेम्बर चुनते हैं। इस सब के अतिरिक्त देश के एक छोर से दूसरे छोर तक २२ वर्ष से, बिना गवर्नमेंट की किसी प्रकार की सहायता के, कही-कहीं गवर्नमेण्ट के अफसरों का विरोध होने पर भी, प्रजागण नगर-नगर में राष्ट्रीय महासभा (नेशनल कांग्रेस) के लिए

सर्वसाधारण सभा कर अपने प्रतिनिधि नियत करते है, और कभी पाँच सौ, कभी हज़ार, कभी पन्द्रह सौ, कभी दो हज़ार के करीब सब जाति और सभी श्रेणी के ऐसे प्रतिनिधि कांग्रेस में एकत्र होकर अनेक-अनेक समाचारपत्रों के रिपोर्टरों के सामने उनको अपनी बहस सुनने का अवसर देकर, पार्लमेण्ट के क्रम पर नियमपूर्वक देश के सर्वसाधारण के हित-अनहित की बातों पर ज्ञान, विवेक और शिष्टता के साथ विचार करते हैं तथा अपने प्रस्तावों को सर्वसाधारण और गवर्नमेण्ट के जानने के लिए प्रकाश करते हैं। क्या ये सब बातें इस बात को साबित नहीं करतीं कि हिन्दुस्तानी स्वराज्य, अर्थात् सच्ची प्रतिनिधि-शासन प्रणाली, पाने योग्य हैं ? क्या गवर्नमेण्ट स्वयं उनको इस बात की शिक्षा नहीं देती आई है ? क्या कोई निष्पक्ष पुरुष इन बातों को देख और समझकर यह कह सकता है कि हिन्दुस्तान के लोग अभी ऐसे सभ्य नहीं हुए कि उनको आत्म-शासन का अधिकार दिया जाय ? कोई भी पुरुष, जो सच और न्याय का प्रेमी है, ऐसा नहीं कह सकता। हर एक न्यायवान् पुरुष को यह स्वीकार करना होगा कि हिन्दुस्तानी अपनी सभ्यता से इस योग्य है, उनको अपने हित-अनहित का इतना विवेक है कि उनकी सम्मति से उनके देश का शासन किया जाय। इंग्लैंड को उनको इस अधिकार के देने में विलम्ब करना अन्याय है। यदि वह उदारता से हिन्दुस्तानियों को उनका अधिकार देगा, तो इससे उसका प्रभाव हिन्दुस्तान में दृढ़ होगा न कि दुर्बल, और उससे उसका यश और हिन्दुस्तान का कल्याण साधन होगा। यदि अनुदारता के वश अँगरेज़ सदा यही कहते जायँगे कि हिन्दुस्तानी स्वराज्य के योग्य नही, तो उससे हिन्दुस्तानियों के चित्त में गवर्नमेण्ट की ओर से असन्तोष बढ़ता जायगा और उससे राजा और प्रजा दोनों का अहित होगा।

स्वराज्य के साधन अनेक और कठिन हैं। केवल मनोरथ करने ही से स्वराज्य नहीं मिल जायगा। स्वराज्य मनुष्य जाति के लिए सब से बड़ा वरदान है, सबसे बड़ी नियामत है। बहुत दिनों के अविरत तप से स्वराज्य मिल सकता है। यदि लेना सच-सच इष्ट है तो तपस्या करनी होगी। इसमें शान्ति और साहस, धीरज और उत्साह, प्रज्ञा और पौरुष, तेज और सहनशीलता, प्रेम और स्वार्थ-त्याग, तथा इनके समान अन्य अनेक उत्तम गुणों का संग्रह करना होगा। किन्तु इसका पहला और सबसे बड़ा साधन यह है कि देश में, जहाँ तक सम्भव हो, प्राणी-प्राणी में देश की भक्ति का भाव बढ़ाया जाय। इससे लोगों में परस्पर प्रीति और परस्पर विश्वास बढ़ेंगे तथा बैर और फूट घटेगी। इससे और अनन्त उत्तम गुण मनुष्य में उत्पन्न होंगे, जो उनको देश की सेवा करने

के योग्य बनावेंगे। और अनेक प्रकार के पाप तथा लज्जा के कामों से उनको बचावेंगे। दूसरा साधन यह है कि जहाँ तक हो सके, नगर-नगर गाँव-गाँव लोगों को स्वराज्य का अर्थ, उसकी आवश्यकता और उसकी महिमा समझायी जाय, जिससे उनके हृदय में उसको पाने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो। तीसरा साधन यह है प्रत्येक नगर और गाँव में सभाएँ स्थापित हों जो स्वराज्य पाने के लिए न्यायपूर्वक लगातार आन्दोलन करें।

(आषाढ़-शुक्ल १३, संवत् १९६४)

२०

उन्नति और मर्यादा-बद्ध आन्दोलन

एक अँगरेज़ कहा करते थे कि "हमारे लिए सबसे अधिक गर्व की बात यह है कि हमारे पूर्वज असभ्य तथा अशिक्षित थे और हम उनकी संतान सभ्य तथा शिक्षित हो गए हैं।" हम लोगों को इसके विपरीत यह कहना पड़ता है कि हमारे लिए सबसे अधिक लज्जा की बात यह है कि हमारे पूर्वज किसी समय अतिसभ्य तथा शिक्षित थे और हम उन्ही की सन्तान अब अधिकांश में असभ्य तथा अशिक्षित गिने जा रहे हैं। यदि चीनियों ने हमारे देश को 'दासत्व का नमूना' और अमेरिकनों ने 'आदर्श-पतित देश' माना, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। हमारी दशा ही ऐसी है—समय ही इस प्रकार हमारे प्रतिकूल हो रहा है। जिन्होंने अमीरों के घर में जन्म पाया है, जिन्हें रहने के लिए महल मिलते हैं, जिन्होंने यह कभी नही जाना कि महँगी के समय में कई-कई दिनों तक भूखे रहना किसको कहते हैं और जिन्हें देश की दशा पर विचार करने का अवसर तक नही मिलता, वे चाहे इस बात को स्वीकार न करें; परन्तु जिन्होंने इतिहास का—स्वदेश तथा अन्य देशों के इतिहास का—अभ्यास किया है, और जिन्हें संसार की वर्तमान दशा को देखने तथा जानने का मौक़ा मिला है, वे अवश्य देख सकते हैं कि इस समय हमारे देश की दशा कैसी शोचनीय हो रही है। वर्तमान काल में जो असन्तोष तथा आन्दोलन दिखायी पड़ता है, उसका कारण इसी दशा की जानकारी है।

एक प्रसिद्ध अँगरेज़ राजनीतिज्ञ ने एक स्थान पर लिखा है कि "प्रत्येक देश के अभ्युदय का प्रथम चिह्न यह है कि उस देश के निवासी अपनी पतित दशा का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करें।" यह कथन पूर्णतया सत्य है। जब तक कोई मनुष्य अपनी ख़राब हालत को नहीं जान लेता, तब तक उसमें अपनी उन्नति करने के भाव का पैदा होना असंभव है। जब तक आदमी अपने दुःखों

को नहीं जानता, तब तक वह न तो उनकी शिकायत करता है न उनको दूर करने की इच्छा करता है। जब वह अपनी दशा की तुलना और लोगों की दशा से करता है, तब ही उसे अपनी हालत सुधारने का ख़याल होता है। अतएव उन्नति की पहली सीढ़ी यह है कि हम अपनी दशा को पूर्णतया जान लें। इसी प्रकार देश के अभ्युदय के लिए भी सबसे पहले यह आवश्यक है कि उस देश की प्रजा अपनी दशा का पूर्णतया अनुभव कर ले तथा अपने दुःखों को जान ले। यदि रूसो, बाल्टेयर तथा अन्य लेखक प्रजा को अपनी दशा तथा दुःखों से परिचित न कराते, तो अठारहवी सदी में फ्रेंच जाति का अभ्युदय होना असंभव ही था। यह काम देश के नेताओं तथा समाचार-पत्रों का है। खेद की बात यह है कि इस देश के लोगों को राज्य के काम में बहुत ही कम योग देने का मौक़ा दिया जाता है जिससे कि प्रजा अपनी असली हालत से बहुत-कुछ अनजान ही रही है। तो भी जितना कुछ इस देश के नेताओं ने जान लिया है और समाचार-पत्रों द्वारा तथा व्याख्यानों द्वारा सर्वसाधारण पर प्रकट कर रहे हैं, उससे आशा की जा सकती है कि थोड़े ही दिनों में इस देश की प्रजा अपने दुःखों को तथा स्वत्वों को खूब अच्छी तरह से जान जायगी।

अपनी दशा तथा दुःखो को केवल जान लेने से ही किसी का अभ्युदय नहीं होता। साथ ही में असन्तोष तथा इच्छा का होना भी आवश्यक है। हम लोगों में एक बड़ा गुण अथवा अवगुण यह है कि हम हद से ज्यादा सन्तोषी तथा सहनशील हैं। अधिक सन्तोषी होना अच्छा गुण नही। वार्ली साहब ने अपनी पुस्तक 'उद्योगी भारत' में लिखा है—"हिन्दुस्तान में जिज्ञासा तथा आविष्कार के अभाव का एक कारण यह भी है कि यहाँ के लोगों की इच्छाएँ बहुत ही कम हैं। इससे एक हानि यह होती है कि, जो लोग स्वभाव से ही अन्वेषण-शील है वे भी कला-कौशल की उन्नति की ओर ध्यान देने का मौक़ा नहीं पाते। हिन्दुस्तान के अधिकतर गर्म भागों में, जहाँ कि बहुत ही कम कपड़े की —और वह भी केवल अपनी लज्जा-निवारण करने के लिए आवश्यकता होती है, जुलाहों द्वारा बना हुआ कपड़ा ही अब तक काफी होता आया है, और विलायत के समान मशीनों के आविष्कारों पर आविष्कार होने की कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ी। एक समय वह था जबकि प्रत्येक देहात एक साम्राज्य था और अपने निवासियों की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता था। परन्तु अब समय वह नहीं है। अब हिन्दुस्तान को अन्य जातियों के साथ शिल्प-युद्ध करना है, अब उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ गई हैं। अब उसे संतोष को छोड़ नित नयी कलाओं का प्रचार करना चाहिए।" हमारा यह संतोष जैसे हमारे शिल्प की

उन्नति नहीं होने देता, वैसे ही हमें राजनीतिक स्वत्वों को पाने से भी रोकता है। विलायत की सरकार यदि कोई अनुचित कार्य कर बैठे तो प्रजा उसे चुपके-से सहन करके बैठ नहीं जाती; वह तुरन्त ही ऐसा असन्तोष तथा जोश दिखाती है कि, अन्त में गवर्नमेंट को अपनी भूल सुधारने के लिए लाचार होना पड़ता है। नित्य की घटनाएँ स्वयं इस बात के प्रमाण हैं। श्रीयुत दादाभाई नौरोजी के कथनानुसार वहाँ पर केवल शिक्षा-बिल (एजुकेशन बिल) के विरोध के लिए ही ४०० सभाएँ हुई थी। इस देश की सरकार ने बहुत काम प्रजा-मत के विरुद्ध किये हैं और करती जा रही है; परन्तु यह कहना असत्य न होगा कि प्रजा ने गवर्नमेंट के इन कामों का जैसा चाहिए वैसा प्रतिवाद नही किया। इधर कुछ दिनों से यह देखने में आता है—और यह देश के अभ्युदय के लिए शुभ-चिह्न है—कि, प्रजा में धीरे-धीरे असन्तोप बढ रहा है, और प्रजा जोश के साथ सरकार के अनुचित कार्यों का प्रतिवाद करने लगी है। समाचार-पत्र इत्यादि के नये भावो से जान पड़ता है कि प्रजा अब अपनी वर्तमान दशा से असन्तुष्ट है और अधिक काल तक इस दशा मे नही रहना चाहती। वर्तमान काल में कांग्रेस, कान्फ्रेंस इत्यादि जो सभाएँ हो रही हैं, वे सब इसी इच्छा के व्यक्त रूप हैं। इसी प्रकार की इच्छा का होना देश के लिए शुभ है। हम चाहते हैं कि यह असन्तोष सर्वसाधारण में और भी अधिकता से फैले तथा अपने सुधार की इच्छा और भी प्रबल हो जाय; ताकि शीघ्र ही यह नया भाव समुद्र की लहरों के कानों तक पहुँच जाय और वे हमारे देश के अभ्युदय में सहायता करें।

मान लीजिये कि, प्रजा को निज दशा का पूरा ज्ञान हो गया—अनुभव हो गया, इस दशा से असन्तोष हो चुका और अपने अभ्युदय की प्रबल इच्छा भी हो चुकी; परन्तु विचारना चाहिए कि क्या इतने से ही हमारा अभ्युदय हो जायगा। इससे क्या हमारे सब दुःख दूर हो जायँगे? क्या इससे हम अपने स्वत्व पा जायँगे? नही; इसके लिए हमें उद्योग तथा आन्दोलन करना पड़ेगा। इतिहास से यह बात सिद्ध होती है कि बिना आन्दोलन न कभी किसी जाति का अभ्युदय हुआ है, न होगा। कलकत्ता में गत काग्रेस के समय श्रीयुत दादाभाई नौरोजी ने इस विषय पर जो कुछ कहा था, वह याद दिलाने योग्य है। उन्होंने कहा था:

"आन्दोलन ही विलायत के राजनैतिक, सामाजिक तथा औद्योगिक इतिहास का जीवन है। आन्दोलन के द्वारा ही अँगरेज़ों ने अपने स्वत्व, अपनी सम्पत्ति, अपनी स्वाधीनता और संसार की जातियों में पहली श्रेणी पायी है।"

दादाभाई नौरोजी के उपर्युक्त वाक्य स्वयं-सिद्ध हैं। इनके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। संसार में जितने राजनीतिज्ञ हो गए हैं, सबकी यही

राय थी कि बिना आन्दोलन के अभ्युदय होना असम्भव है। श्रीयुत दादाभाई नौरोजी का उपदेश है कि, "हमें खूब आन्दोलन करना चाहिए। हिन्दुस्तान के एक ओर से दूसरी ओर तक, प्रत्येक भाग में आन्दोलन—शान्तिपूर्वक आन्दोलन —करना चाहिए।..."

"आन्दोलन से जताने का काम निकलता है। हिन्दुस्तान के लोगों को बता दो कि, उनके स्वत्व क्या हैं, वे उन्हें क्यों और किस प्रकार पा सकते हैं। अँगरेज़ों को हिन्दुस्तानियों के स्वत्वों का परिचय करा दो और उन्हें बता दो कि वे स्वत्व क्यों स्वीकार किये जाने चाहिए।" प्रकृति में भी यही बात देखने में आती है कि, बिना आन्दोलन कोई घटना नही होती। अतएव यह सृष्टि का नियम है कि, प्रत्येक काम के लिए आन्दोलन का होना आवश्यक है।

आन्दोलन दो प्रकार के होते है; एक नियमबद्ध और दूसरे नियम-विरुद्ध। अनुभवी विचारशील तथा राजनीति-कुशल लोग यथाशक्ति नियमबद्ध आन्दोलन का सहारा लेकर अपने अभीष्ट सुधारो के निमित्त उद्योग करते हैं। जापानियों ने इसी प्रकार के आन्दोलन के सहारे अपने देश का अभ्युदय किया है। अँगरेज़ लोग जिस स्वाधीनता का उपभोग कर रहे है उसे उन्होंने अधिकांश इसी प्रकार के आन्दोलन से पाया है। सर जॉन लबक ने लिखा है कि, "संसार में शस्त्रों द्वारा जितने परिवर्तन किये गए है, उनसे अधिक परिवर्तन वाद-विवाद द्वारा किये गए है; और जहाँ कही शस्त्र का प्रयोग भी किया गया है वहाँ पर अधिकांश लेखनी ने ही तलवार को घुमाया है। भालो की अपेक्षा विचार अधिक बलवान् होते हैं।"

इस प्रकार के आन्दोलन के लिए कई बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम तो देश की दशा उसके अनुकूल हो और उस देश के निवासी उन सुधारों के प्रचार में, यदि सहायता न दें, तो, कम से कम विरोध भी न करते हों। इस प्रकार के आन्दोलन के लिए यह आवश्यक है कि उसके नेता विचारशील, दृढ़ तथा गम्भीर हों। इस मार्ग में प्रायः आशाएँ निष्फल होती हैं। यदि नेता दृढ़ न हों और इन निष्फलताओं के कारण हताश हो जायें, तो संभव है कि, वे इस प्रकार के आन्दोलन का नाम ही छोड़ दे। श्रीयुत दादाभाई ने कहा है कि, "जब से मैंने यत्न करना प्रारम्भ किया है तब से मुझे इतनी निष्फलताएँ सहनी पड़ी हैं कि जो साहस को तोड़ने के लिए काफी हैं और मनुष्य को हताश करके बलवा करने के लिए उद्यत कर सकती है।"

दादाभाई का यह कथन सर्वथा सत्य है। इस नियमबद्ध आन्दोलन के लिए बड़े धैर्य की आवश्यकता होती है। प्रत्येक वस्तु की सीमा होती है। जब बँधी हुई आशाओं की निष्फलता की मात्रा यहाँ तक बढ़ जाती है कि प्रजा का धैर्य

अपनी सीमा पर पहुँच जाता है, तब लाचार प्रजा को दूसरे प्रकार के, अर्थात् नियमा-विरुद्ध आन्दोलन का सहारा लेकर अपनी इच्छा पूरी करनी पड़ती है। सन् १६४६ में विलायत के राजा प्रथम चार्ल्स का मारा जाना, सन् १६८८ ई० में द्वितीय जेम्स के अत्याचारों के कारण उसका राज्यासन से उतारा जाना, और सन् १७८९ का फ्रांस का राष्ट्र-विप्लव—ये सब नियम-विरुद्ध आन्दोलनों के उदाहरण हैं। आजकल रूस में प्रजा जिस प्रकार का आन्दोलन कर रही है, वह इसी प्रकार का राष्ट्र-विप्लव है। रूस के ज़ार ने रूसी प्रजा के धैर्य को हद तक पहुँचा दिया है। न वे प्रजा को कुछ स्वत्व देना चाहते हैं, न उनके मंत्रीगण प्रजा के साथ सहानुभूति रखते है। ऐसी दशा में प्रजा के लिए नियमों को तोड़ प्रबल विप्लव करना, आवश्यक हो गया है। नित्य ही उस देश से खून-ख़राबी की ख़बरें आ रही हैं।

इन सब उदाहरणों से भिन्न-भिन्न देश के शासकों और प्रजाओं को यह बात भली-भाँति प्रकार विदित होती है कि राजनैतिक विप्लव के कैसे घोर परिणाम होते हैं और मनुष्य-मात्र को इनसे किन-किन प्रकारों के कष्ट सहने पड़ते हैं। राष्ट्र-विप्लव राजनैतिक रोगों की ऐसी औषधि है जो साधारण रीति पर कभी काम में नहीं लायी जा सकती और न जिसके काम में लाने की कोई समझदार मनुष्य सलाह देगा। यह ऐसी औषधि है जिससे यदि कभी-कभी रोग दूर हो सकता है तो कभी बढ़ भी सकता है। साधारण रीति से मनुष्य-मात्र को सिवाय नियम-बद्ध आन्दोलन के और किसी प्रकार के आन्दोलन का ध्यान नहीं करना चाहिए। विशेषकर अपने देश की दशा के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि अपने कार्यों, बातों तथा लेखों में हमें कभी यह नहीं प्रकट करना चाहिए कि हम लोग मर्यादा के विरुद्ध जाना चाहते हैं; और हमारे देश के अधिकतर राजनीतिज्ञों का भी यही विश्वास है कि नियम-बद्ध आन्दोलन से देश का सुधार हो सकेगा। वे लोग, जो देश की दशा को न देखते हुए धैर्य को छोड़ मर्यादा-विरुद्ध कार्य करने की सलाह समय-समय दे बैंठते हैं, बहुत बड़ी भूल और देश की हानि करते हैं; परन्तु यदि लोगों का यह धर्म है कि वे कोई ऐसी अमर्यादित बात न करें जिससे देश के अभ्युदय में विघ्न हो और जिससे यह आशंका हो कि सुधार होने के विपरीत उससे देश पर विपत्ति आ जायगी, तो उसके साथ ही साथ शासकों का भी यह धर्म है कि वे लोगों के उस धैर्य की, जो उन्हें सीमा के भीतर रहता है, ऐसी कठिन परीक्षा न करें कि वे हताश हो जायँ और यह समझने लगें कि नियमबद्ध आन्दोलन निष्फल है।

(श्रावण-कृष्ण ६, संवत् १९६४)

२१

स्वदेशी-आन्दोलन

स्वदेशी-आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य देश की आर्थिक दशा को सुधारना है। देश की आर्थिक दशा तभी सुधर सकती है जब देश में देशी चीज़ों का व्यापार बढ़े और जो हमारे नित्य की आवश्यक चीजें है, ये यहाँ बनने लगें। हमारे देश में व्यवसाय और शिल्प अभी नवजात है। इनकी रक्षा और वृद्धि बड़ी साव-धानी से करनी पड़ेगी। जिन देशों में स्वराज्य है, उन देशों में इनकी रक्षा गवर्नमेंटें कर लगा कर और रुपया देकर करती हैं; पर इस देश में इस सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट से बहुत आशा नहीं की जा सकती; इसलिए आत्म-साहाय्य और स्वार्थ-त्याग से ही हमें इनकी रक्षा करनी पड़ेगी। सरकार कर नही लगायेगी तो हम अपने ऊपर स्वयं कर लगा सकते हैं—अर्थात् देशी चीज़ यदि महँगी भी मिले तो भी उसको अधिक दाम देकर ले सकते है। यदि अच्छी चीज़ सस्ती मिले, तो स्वभावतः लोग महँगी और मोटी चीज़ को छोड़ कर उसी को मोल लेंगे; किन्तु यदि उन को दिखा दिया जाय कि कुछ दिन तक मोटी और महँगी चीज़ लेने से अन्त में उन्हें और देश को बहुत कुछ लाभ होगा; उनके चित्त में उसके लिए प्रेम उत्पन्न कर दिया जाय और उनको यह दिखा दिया जाय कि उनके मोटी और महँगी चीज़ लेने से उनके किसी ग़रीब भाई या बहिन को पेट को अन्न और तन को वस्त्र मिल जायगा, तो वे अवश्य स्वयं हानि सहकर भी स्वदेशी वस्तुओं को ही ग्रहण करेंगे। लोगों के चित्त में ऐसा भाव उत्पन्न करने के लिए स्वदेशी-आन्दोलन की आवश्यकता है। यदि आन्दोलन करके हम लोगों के चित्त में यह देश-भक्ति और परोपकारिता का भाव उत्पन्न कर दें, तो हमारे नवजात व्यवसाय और शिल्प की रक्षा अवश्य होगी। और यह इस बात का अच्छा उदाहरण होगा कि धर्म से अर्थ और काम सब प्राप्त होता है। जब बीज बोया जाता है तब कुछ काल तक उसकी रक्षा करनी पड़ती है और उसे

सींचना पड़ता है; पर जब वह जम जाता है और पौधा जड़ पकड़ लेता है तब वह बिना किसी कृत्रिम रक्षा के आकाश में लहराता है। इसी तरह कुछ काल तक इस प्रकार रक्षित होने से हमारा नवजात व्यवसाय और शिल्प पुष्ट और प्रौढ़ हो जायगा। इसलिए हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम लोग व्याख्यानों और लेखों द्वारा लोगों में स्वदेशी का धर्म-भाव उत्पन्न करें और उनके चित्त में स्वदेशी वस्तुओं के लिए प्रेम उत्पन्न करें और उनको ग्रहण करने का लाभ और पुण्य बतावें।

यह काम कुछ दिनों पहले होने लग गया था; पर लाला लाजपतराय के निर्वासन के समय से गवर्नमेण्ट की जो कड़ी नीति प्रारम्भ हुई है उससे, विशेषकर सभा-सम्बन्धी नये क़ानून से, इसको बहुत रोक पहुँच गई है। न केवल लोगों ने व्याख्यान देना और सभाएँ करना बन्द कर दिया है, अपितु वे स्वदेशी के नाम से डरने लग गए है। यह अत्यन्त शोचनीय बात है। एक शहर में कुछ उत्साही जनों ने एक कम्पनी खोलकर जो-जो देशी चीज़ें बनती हैं, उनको मँगाकर बेचने के लिए उद्योग किया था। कई लोग शेयर लेने को तैयार भी हो गए थे। इतने में लाला लाजपतराय के निर्वासन के समाचार आये और प्रायः सब लोगों ने शेयर लेने से इन्कार कर दिया। ऐसा ही और भी कई जगह हुआ है; किन्तु लोगों का यह भय निर्मूल है। लाला लाजपतराय के निर्वासन का और ही कारण था; और यह मानना भूल है कि जो नये-नये नियम निकल रहे हैं वे स्वदेशी को दबाने के लिए हैं। स्वदेशी-आन्दोलन से गवर्नमेण्ट को कोई विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि इससे वह काम होगा जो सभ्य गवर्नमेण्ट का कर्तव्य है—अर्थात् प्रजा की सुख-सम्पत्ति बढ़ाना और उसको अन्न-वस्त्र पहुँचाना। स्वदेशी-आन्दोलन की सफलता से प्रजा को अन्न-वस्त्र मिलेगा और उनकी सुख-सम्पत्ति बढ़ेगी। इसलिए स्वदेशी-आन्दोलन को उत्साह देना, गवर्नमेण्ट का एक कर्तव्य है, और जो लोग स्वदेशी-आन्दोलन करते हैं वे गवर्नमेण्ट के कार्य में सहायता करते हैं। अविवेकी और सकुंचित दृष्टि के कोई अधिकारी इसमें अप्रसन्नता प्रकट करें तो करें। यह केवल उनकी निज की सम्मति होगी, गवर्नमेण्ट की नही। गवर्नमेण्ट के बड़े और दूरदर्शी अधिकारी स्वदेशी-आन्दोलन में न तो स्वयं बाधा डालेंगे और न किसी अधिकारी को ऐसा करने को उत्साहित करेंगे।

कई स्थानों में व्याख्यान और सभाएँ बहुत हो चुके हैं और लोगों को चेतावनी मिल गई है। उनके चित्त में स्वदेशी भाव उत्पन्न करने का खूब यत्न किया गया है; पर अभी अनेक स्थान ऐसे हैं जिनमें इस बात की चर्चा तक

नहीं हुई है। ऐसे स्थानों में व्याख्यानों और सभाओं की आवश्यकता है। वहाँ व्याख्यानदाताओं को जाकर सभाएँ करनी चाहिए और व्याख्यान देने चाहिए। कहीं-कहीं से समाचार मिले हैं कि छोटे-छोटे कर्मचारियों ने व्याख्यानदाताओं को डरा-धमका कर व्याख्यान नही देने दिया। यह उन लोगों का सरासर अन्याय था। ऐसी बातें समाचार-पत्रों द्वारा उच्च कर्मचारियों के ध्यान में लानी चाहिए। किन्तु हम को केवल स्वदेशी वस्त्र को काम में लाने का उपदेश देकर सन्तुष्ट न रहना चाहिए। यदि देशी चीज़ सदा मोटी बनती रही और महँगी बिकती रही, तो लोग बहुत दिन तक उसको न ख़रीदेगे। अन्त में जो चीज़ सस्ती और सुन्दर मिलेगी, उसी को खरीदेंगे। इसलिए हमें ऐसा यत्न करना चाहिए जिससे हम न केवल चीज़ों की उपज बढ़ा सकें, वरन् उनके रूप में सुन्दरता भी ला सकें और उनको सस्ती भी बेच सके। जब तक बड़े-बड़े कार-खाने न खोले जायँगे, तब तक सस्ती और अच्छी चीजे न मिल सकेगी। इनके लिए शिक्षित, प्रवीण, देश-हितैषी और परिश्रमी जनो की आवश्यकता है। आज तक पढ़े-लिखे लोग अधिकतर सरकारी नौकरी, वकालत और डाक्टरी की तरफ झुकते रहे, और शिल्प की ओर बहुत ही कम प्रवृत्त हुए। इसके कई कारण है। एक कारण यह है कि ये पेशे बहुत प्रतिष्ठित समझे जाते है; और दूसरा यह है कि सिवाय इनके और कोई काम लोगों को सूझता नहीं था। किन्तु हर्ष का विषय है कि अब लोगों की रुचि व्यवसाय और शिल्प की ओर भी झुकी है। हम लोगों को चाहिए कि हम इस पेशे की, उससे अधिक नहीं, तो कम से कम उतनी प्रतिष्ठा तो अवश्य करें जितनी कि हम डाक्टरी, सरकारी नौकरी और वकालत की करते है।

एक बड़ा प्रश्न यह उठता है कि रुपया कहां से मिले? यह प्रश्न कष्ट-साध्य तो है, किन्तु असाध्य नही है। रुपया अभी हमारे देश में मौजूद है, किन्तु या तो उसका अपव्यय हो रहा है या वह बेकार पड़ा हुआ है। जिन लोगों के पास रुपया है वे रुपया लगाने में डरते है। इसमें कई कारण है, पर मुख्य कारण दो हैं: पहला यह है कि कम्पनियों का काम शिक्षित, प्रतिष्ठित और देश-हितैषी पुरुष अपने हाथ में नही रखते। कम्पनियों के प्रबन्धकर्ता प्रायः स्वार्थ के लिए काम करते हैं और उनमें आवश्यक शिक्षा तथा पटुता का अभाव रहता है। इसी से कम्पनियों की सफलता नहीं होती और धनिक लोग रुपया लगाने से डरते हैं। दूसरा कारण यह है कि उनमें स्वयं कुछ नया काम करने की योग्यता नही रहती। अब एक प्रधान कर्तव्य यह है कि प्रतिष्ठित देश-हितैषी और योग्य पुरुष कारख़ानों का काम अपने हाथ में लें और जापान-अमेरिका से लौटे हुए

नवयुवकों के द्वारा उनको चलावें। ऐसा करने से उनसे अवश्य लाभ होगा; और जब धनिक लोग देख लेंगे कि बैंक में रुपया रखने से कारखानों में रुपया लगाना अधिक लाभदायक होता है तो वे हाथ खोल कर रुपया लगायेंगे। इस काम से केवल आर्थिक लाभ ही नही है, किन्तु धार्मिक भी है। भारतवर्ष में अभी धर्म के नाम से हर साल बहुत रुपया खर्च होता है। कारखाने खोल कर सहस्रों प्राणियों को अन्न-वस्त्र देने से और बड़ा धर्म कोई नहीं है। इससे बड़ा सुख भी कोई नहीं है। क्योंकि कहा है :

अपहृत्यार्तिमार्त्तानां सुखं यदुपजायते।
तस्य स्वर्गापवर्गौ वा कलानार्हति षोडशीम्॥

कार्य कठिन है। इसमें बहुत परिश्रम और कष्ट उठाने की आवश्यकता है। पर यदि हम सच्चे हृदय से दृढ़-निश्चय होकर धर्म-बुद्धि से इस काम में लगें, तो अवश्य ही सिद्धि होगी। कई लोग स्वदेशी-आन्दोलन को राजनैतिक दृष्टि से देखते है, कोई आर्थिक दृष्टि से और कोई धर्म-दृष्टि से देखते है; क्योंकि धर्म से ही अर्थ और काम सिद्ध होते है।

(श्रावण-कृष्ण १२, संवत् १९९४)

२२

तीर्थराज में त्रिवेणी का संगम

इस देश में लगभग बीस करोड़ हिन्दू बसते है। इनके अनेक तीर्थ-स्थान हैं। इन सब तीर्थों में प्रयाग 'तीर्थराज' नाम से प्रसिद्ध है। यह तीर्थ किसी मन्दिर या मूर्त्ति के कारण तीर्थराज करके नही प्रसिद्ध है, इसका तीर्थत्व इस देश की दो पवित्र नदियों के सगम से है। यह हिन्दुओं का बहुत प्राचीन तीर्थ है। वेद में लिखा है:

सितासिते सरिते यत्र संगते,
तत्राऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।

'जहाँ नीले और सफेद जल वाली दो नदियाँ (जमुना और गंगा) मिलती हैं, वहाँ नहाकर प्राणी स्वर्ग को जाते हैं।' महाभारत में भी लिखा है:

गंगायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः।
दशाश्वमेधामाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत्॥

गंगा और यमुना के संगम में जो मनुष्य स्नान करता है, उसको दस अश्वमेध यज्ञों का फल मिलता है और वह अपने कुल का उद्धार करता है।

मार्कण्डेय-पुराण में लिखा है:

गंगायमुनयोर्मध्ये पृथिव्या जघनं स्मृतम्।
प्रयागं राजशार्दूलं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥
ततः पुण्यतमं नास्ति त्रिषु लोकेषु भारत!
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् संगमे संशितव्रतः।
तुल्यं फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः॥

इसी में दूसरे स्थल पर लिखा है:

तीर्थराजाभिगमनं सर्वाज्ञाननिवारणम्।
अनन्तपुण्यफलदं अक्षय्यानन्तलोकदम्॥

प्रसिद्धं श्रुतिमूलं तु त्रिगुणाघहरं परम् ।।

इस सबके लिखने से हमारा प्रयोजन यह है कि गवर्नमेण्ट के अधिकारियों को हम यह स्मरण करा दें कि प्रयाग कोई छोटा या कल का नया तीर्थ नहीं है, किन्तु श्रुतिमूल—जिसकी चर्चा वेदों में है—ऐसा तीर्थ है। वेद के समय से ही हिन्दू लोग प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम में स्नान करना बड़े पुण्य का कारण समझते आये हैं, और यह भली-भाँति विदित है कि आज तक हिन्दुस्तान के सब कोनों से—नेपाल से, कन्याकुमारी से, क्वेटा-बलूचिस्तान से, आसाम से और बर्मा तक से—सब श्रेणी और सब अवस्था के हिन्दू पुरुष और नारी बहुत क्लेश सहकर और बहुत खर्च उठाकर इस संगम में स्नान करने के लिए बारहों महीने आया करते हैं। हिन्दू शास्त्रों में माघ के महीने में संगम में स्नान का विशेष फल लिखा है। इसलिए उस महीने में लाखों और कुम्भ तथा अर्धकुम्भ के समय दस-दस और पाँच-पाँच लाख हिन्दू यहाँ स्नान को आते है और कितने ही महीने-भर गंगाजी तट पर कल्पवास करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं के विश्वास में यह संगम कैसा पवित्र स्थान है और ऐसे स्थान को अपवित्र करने से उनकी आत्मा को सन्ताप पहुँचता है।

अँगरेज़ी गवर्नमेण्ट ने अपने अधीन जातियों के धर्म के विषय में एक उदार नीति का अवलम्बन किया है; और, एक विषय को छोड़कर, सब विषयों में उनके धार्मिक भावों और विचारों का बहुत-कुछ आदर करती आई है। इसके लिए हिन्दुस्तान की समस्त प्रजा और विशेषकर हिन्दू लोग गवर्नमेण्ट के हृदय से कृतज्ञ हैं और सदा रहेंगे। प्रायः सब तीर्थों में, और प्रयाग में भी, माघ में हिन्दुओं के स्नान का सुभीता करने के लिए जो प्रबन्ध गवर्नमेण्ट हर साल करती है, उसके लिए भी हम लोग गवर्नमेण्ट का धन्यवाद करते हैं; किन्तु हिन्दू-मात्र को यह देखकर और सुनकर दुःख होता है कि कुछ दिन से प्रयाग के क़िले की नाली का गंदा जल ठीक संगम के ऊपर जाकर गिराया जाता है और हिन्दुओं के स्नान के स्थान में कुछ दूर तक जल को कीच और दुर्गन्ध से दूषित करता है। हम लोग स्वयं इसकी साक्षी दे सकते हैं कि बाहर के और प्रयाग के कितने ही हिन्दू सज्जन इस बात को देखकर दुःखी हुए हैं तथा कुछ लोगों ने दुःख के साथ संगम में स्नान करना बंद कर दिया है। कुछ दिन हुए, इस प्रान्त के लोकप्रिय सर जेम्स लाटूश का ध्यान इस ओर खींचा गया था। उन्होंने स्वयं जाकर इस क़िले की नाली के मैले प्रवाह को संगम पर गिरते देखा था और उन्होंने हिन्दुओं की इस शिकायत को दूर करने का वचन दिया था। थोड़े दिन के लिए उन्होंने इस उपद्रव को घटाने और नहाने वालों की दृष्टि से दूर हटाने का

प्रबन्ध कर दिया था। किन्तु वह प्रबन्ध स्थायी नहीं था। न इससे असल शिकायत दूर हुई थी। किन्तु अब वह नाली फिर पहले की तरह खुलकर बहने लगी है। अब इसे देख-देखकर लोगों को अधिक दुःख हो रहा है।

हम इस विषय पर स्थानीय गवर्नमेण्ट का और लार्ड किचनर का ध्यान दिलाते है, और आशा करते हैं कि वे शीघ्र इस नाली का मार्ग बदलकर हिन्दू प्रजा के दुःख को दूर कर उसको अनुगृहीत करेंगे, और उसकी कृतज्ञता उपार्जित करेंगे। प्रयाग की हिन्दू प्रजा पिछले पन्द्रह वर्षों से गवर्नमेण्ट से बार-बार यह प्रार्थना करती आई है कि नगर का गन्दा पानी गंगा-यमुना में कही न गिराया जाकर नदी के पार खेतों में गिराया जाय। गवर्नमेण्ट के लिए इसका प्रबन्ध करना कोई बहुत कठिन बात नही है, और हम आशा करते है कि गवर्नमेण्ट इसका प्रबन्ध कर हिन्दू प्रजा को अत्यन्त अनुगृहीत और कृतज्ञ करेगी।

(श्रावण-कृष्ण १२, संवत् १९६४)

२३

एक प्रसिद्ध धनिक का उपदेश

जिन धनाढ्यों ने स्वयं अपने परिश्रम से अपनी सम्पत्ति एकत्रित की है, उनमें अमेरिका-निवासी मिस्टर रसल सेज संसार-भर में सबसे बड़े धनाढ्य गिने जाते हैं। पहले वह एक पंसारी की दूकान में चपरासी का काम किया करते थे। उनके पास कोई सम्पत्ति नही थी। आज दिन उन्होंने, केवल अपनी बुद्धि और परिश्रम से, ३२, ००, ००, ००० रु० से भी अधिक की सम्पत्ति एकत्रित कर ली है। उन्होंने 'रायल मैगज़ीन' नामक पत्रिका में 'रुपया कमाने का गुर' इस शीर्षक का एक लेख छपवाया है। इसमें उन्होंने लिखा है कि रुपया कमाने का गुर इतना सहज है कि साधारण बुद्धि वाला पुरुष भी इसे सीख सकता है। इसमें कोई कठिन बात नही है। कुछ साधारण नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने से यह गुर आ जाता है। जो कोई सफलता से अपने जीवन का निर्वाह करना चाहता है, उसे पाँच मूल तत्त्वों के ऊपर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। ये पाँच मूल तत्त्व ये हैं: १. सत्य, २. संयम, ३. धैर्य, ४. समय की पाबन्दी, तथा ५. घर और अपने कार्यालय के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करना। भिन्न कार्यों में और भी भिन्न-भिन्न नियमों के पालन की आवश्यकता होती है, किन्तु ये पाँच नियम अत्यन्त आवश्यक हैं। यही पाँच नियम सम्पत्ति-रूपी गृह के आधार हैं। यदि इन नियमों के आधार पर सम्पत्ति-रूपी गृह न बनाया जायगा, तो वह गृह कभी न कभी अवश्य गिर पड़ेगा। किसी व्यवसाय के द्वारा बड़ी और चिरस्थायी सम्पत्ति को एकत्रित करने के लिए तीन और बातों की आवश्यकता है: १. जिस व्यवसाय को करने का विचार किया हो, उसके लिए सच्चा प्रेम और व्यवसाय के नियमों का दृढ़तापूर्वक परिपालन, २. निर्मल और शान्त बुद्धि, ३. एवं बीच में जो भी कोई विघ्न आ पड़ें, उनको दूर करने का दृढ़ निश्चय। लोग कहा करते हैं कि अब व्यवसायों के लिए स्थान नहीं है और

डाक्टरी वकालत इत्यादि सब पेशे मर चुके हैं। यह बात सच है, विशेषकर अमेरिका के लिए; वहाँ २५ बरस पहले की अपेक्षा अब अधिक लोग व्यवसाय इत्यादिकों में लग गए हैं। किन्तु व्यवसाय भी अब बढ़ गए है। व्यवसायों और पेशों के शिखर में अभी स्थान खाली हैं।

साधारण तौर पर मेरा यह मत नही है कि कालेज की शिक्षा किसी युवक को हानि पहुँचाती है; किन्तु इस बात को मैं मानता हूँ कि कई-एकों के लिए यह कष्ट का, समय और रुपये की हानि का, कारण होती है। यदि कोई लड़का वकील, पादरी या ग्रन्थकर्त्ता होना चाहता है तो कालेज की शिक्षा, सफलता-प्राप्ति में, उसकी बहुत-कुछ सहायक होगी ; किन्तु यदि वह किसी रोज़गार में लगना चाहता है तो मैं नही कह सकता कि कालेज की शिक्षा उसे किस प्रकार सहायता पहुँचावेगी। जिस प्रकार की शिक्षा सबसे अधिक काम में आती है, वह साधारण शिक्षा है जो स्कूल में दी जाती है। इसके सिवा फ़ुरसत के वक्त समाचारपत्रों, मासिक पत्रों और ऐसी पुस्तकों को पढ़ने की आदत डाल रखनी चाहिए, जिनसे इधर-उधर की आवश्यक बातों का ज्ञान ताजा रहे। स्कूल से निकलने के बाद विद्यार्थी को काम में लगाना चाहिए और शाम को तथा छुट्टियों में इन चीज़ों को पढ़वाना चाहिए।

सम्भव है कि ईमानदारी से जितनी जल्दी रुपया इकट्ठा होता है, उससे ज्यादा और जल्दी, बेइमानी से इकट्ठा हो जाय ; पर कभी न कभी सच्चा भेद खुल जायगा और तब उस मनुष्य के सुख का अन्त भी हो जायगा। गरीब लोग उससे घृणा करेंगे, और अमीर लोग उसको तुच्छ समझेंगे।

अर्थात्, 'सबसे अच्छी नीति ईमानदारी है'—यह कहावत आज दिन उतनी ही ठीक है, जितनी कि यह उस दिन थी जब कि यह पहले कही गई थी। सम्पत्ति का विनाश जितना अत्यन्त भोग-विलास या लिप्सा से होता है, उतना किसी और कारण से नही होता। इसी से कई होनहारों के जीवनों का असामयिक नाश हो गया है।

मिस्टर सेज ने लिखा है कि "बुद्धिमती और सुख-दुःख में साथ देने वाली स्त्री भी सम्पत्ति को एकत्रित करने में सहायक होती है।" लेख के अन्त में उन्होंने कहा है : "यह तो निश्चय है कि हर एक मनुष्य करोड़पति नही बन सकता ; किन्तु हर एक हौसला रखने वाले नवयुवक में इतनी सामर्थ्य अवश्य है कि वह कुछ काल में अपनी पूंजी को दस हज़ार गुना बढ़ा ले।"

(श्रावण-कृष्ण १२, सं०१९६४)

२४

राजा के प्रति एक ब्राह्मण का उपदेश

यह कहा जाता है कि ३०० वर्ष हुए एक वृद्ध ब्राह्मण ने एक बहुत अच्छी पुस्तक संस्कृत में लिखी थी, फिर थोड़े दिनों बाद यह पुस्तक तिब्बत ले जायी गई। चीन के एक राजा ने धर्म सीखने की इच्छा से अपने यहाँ के विद्वानों को तिब्बत भेजा कि वे वहाँ जाकर वहाँ से धर्म-सम्बन्धी पुस्तकें ले आयें। उन्हीं पुस्तकों के साथ इस ब्राह्मण की लिखी हुई पुस्तक भी चीन गयी। वहाँ इस पुस्तक का बड़ा मान हुआ। कहा जाता है कि इसकी इतनी महिमा सुन चीन के अँगरेज़ राजदूत ने अँगरेजी में इसका अनुवाद किया। यूरोप में इस पुस्तक का इतना मान हुआ कि यूरोप की सब भाषाओं मे इसका अनुवाद किया गया और वहाँ अब भी लोग इसे बहुत ही चाव के साथ पढ़ते है। इसी पुस्तक में, राजा के प्रति जो उपदेश है, उसको हम यहाँ उद्धृत करते हैं :

"यदि संसार में कोई प्यारी वस्तु है, यदि कोई प्राप्त करने की इच्छा के योग्य पदार्थ है, यदि कोई वस्तु मनुष्य की पहुँच में प्रशंसनीय है, तो वह विद्या और ज्ञान है। परन्तु वे किसको प्राप्त होते है ?"

o o o

"देश-प्रबन्धक प्रकाश करते है कि हम में वह हैं; राजा कहता है कि इनके लिए मेरी सराहना होनी चाहिए। परन्तु क्या सचमुच विद्या और ज्ञान उनमें है ?"

o o o

"दुष्टता मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं, न उसका सहन करना ही आवश्यक है। तो भी विचारिये, कितने बलात्कार और दुष्टता के कार्य कानून की ओट में हुआ करते हैं ! कितने अपराध न्यायालयों की आज्ञा से ही होते हैं !"

o o o

"ओ प्रजा के शासनकर्ता, तू बुद्धिमान् बन, और मनुष्य-जाति पर शासन करना सीख !"

O O O

"जब तेरी प्रजा की संख्या अधिक हो, तो उनको निर्दोषों को वध करने के लिए वा उनकी तलवारों से कटने के लिए, जिनको उन्होंने नहीं सताया हो, मत भेज !"

O O O

"यदि तेरी अभिलाषा के पूर्ण होने में, सहस्रों के प्राण जाने का भय है, तो यह मत कह कि मैं उसको पूरा ही करूँगा। निश्चय तू यह भूलता है कि तेरे उत्पन्न करने वाले ने इनको भी बनाया है, और उनका भी रुधिर तेरे ही समान है !"

O O O

"क्या तू यह कहता है कि बिना कुछ पीड़ा पहुँचाये न्याय नही हो सकता ? निश्चय जान, तेरे वचन ही तुझको अपराधी ठहराते है !"

O O O

"तू जो अपराधी को झूठी आशाएँ इसलिए बँधाता है कि वह अपने अपराध को स्वीकार कर ले, तो क्या तू उसका अपराधी नही होता ? क्या इस कारण तेरा अपराध कुछ कम है कि वह उसका दण्ड नही दे सकता ?"

O O O

"जब किसी व्यक्ति को, जिसके अपराधी होने में सन्देह है, तू पीड़ा पहुँचाने की आज्ञा देता है, तो क्या तुझे स्मरण रहता है कि तू निरपराधी को दुःख देने का अपराधी हो सकता है ?"

O O O

"क्या ऐसा करने से तेरा अभिप्राय पूरा हो गया ? या तेरी आत्मा उसके क़बूल देने से प्रसन्न हो गई ? पीड़ा का भय उससे वह कहलवा देगा, जो उसने नहीं किया है। तू उसको अपराधी सिद्ध करने में निर्दोष को मारता है !"

O O O

"ओ सत्य पर अँधेरा डालने वाले ! ओ अल्प बुद्धि वाले ! सोचकर उत्तर दे—उस समय तू क्या कहेगा जब तेरा न्यायकर्ता तुझसे तेरे कर्मों का लेखा पूछेगा ? तब तू चाहेगा कि चाहे दस सहस्र अपराधी बच जाते, परन्तु एक निरपराधी को अकारण दण्ड न होता; और वह न्यायकर्ता तेरे सामने आकर तेरे अन्याय को न कहता !"

"जब तू न्याय की रक्षा करने में समर्थ नहीं है, तब तू सत्य को कैसे जान सकता है ? तब तू कैसे उसके सिंहासन तक पहुँच सकता है ?"

O O O

"जैसे सूर्य के तेज से उल्लू अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार सत्य का तेज अन्यायी के नेत्रों को चौंधिया देता है।"

O O O

"यदि तू उसके सिंहासन तक पहुँचना चाहता है तो प्रथम उसके नीचे की सीढ़ी पर मस्तक झुका ! यदि तू सत्य की जानकारी प्राप्त करना चाहता है, तो पहले अपनी मूर्खता और अज्ञानता से जानकारी प्राप्त कर !"

O O O

"मोतियों से कहीं अधिक मूल्य सत्य का है; इसलिए बड़ी सावधानी से उसका विचार कर ! उसके सामने लाल, नीलम, पुखराज, हीरे पाँव के नीचे कूड़े के समान हैं। इसलिए उचित है, वीरता से सत्य के पीछे चल !"

O O O

"अपने मन में यह कभी मत कह, 'देखो, सत्य से वैर उत्पन्न होता है, इसलिए मैं उससे बचूंगा। कपट से मित्र बन जाते हैं, इस कारण मैं उसका ही आश्रय लूंगा।' क्या वे शत्रु, जो सत्य से बनते हैं, उन मित्रों से उत्तमतर नहीं हैं, जो झूठी प्रशंसा से बनते हैं ?"

O O O

"स्वभाव से मनुष्य सत्य-प्रिय है; परन्तु जब वह उसके सामने आता है तो वह उसको ग्रहण नहीं करता। और जब वह उसके सामने आ ही जाता है, तब क्या वह अप्रसन्न नहीं होता !"

O O O

"यदि तू अपनी न्यूनता को स्पष्ट देखना चाहता है, तो एकान्त समय में अपने कर्तव्यों पर विचार कर ! इसके सिवाय धर्म की और क्या सार्थकता है कि तुझे तेरी निर्बलता जतावे तथा स्मरण कराता रहे ; और यह प्रकट करे कि ईश्वर की कृपा से ही तेरा भला हो सकता है ?"

O O O

"क्या वह मुझे स्मरण नहीं कराता कि तू मिट्टी है और अन्त को मिट्टी में ही मिल जायगा ? देख, पश्चात्ताप भी तेरी निर्बलता पर रोता है !"

O O O

"जब तू शपथ करता है कि तू फिर विश्वासघात न करेगा, जब तेरे मुख

पर लज्जा छा जाती है, और उसके मुख पर भी, जो तुझसे शपथ कराता है।"

O O O

"न्यायवान् होना सीख, तब पश्चात्ताप न होगा ! धार्मिक होना सीख, तब शपथ करने की आवश्यकता न रहेगी !"

O O O

"तेरी मूर्खता जितनी कम हो, उतना ही उत्तम हो। अपने मन में तब न कह कि मैं आधा मूर्ख ही रहूँगा।"

O O O

"वह, जो अपने दोषों को धैर्य से सुनता है, दूसरों को वीरता से धिक्कार भी सकेगा।"

O O O

"यदि तेरे ऊपर सन्देह हो, तो वीरता से उत्तर दे। सन्देह से वही डर सकता है, जो अपराधी होगा।"

O O O

"कोमल-चित्त विनती से अपना संकल्प पूरा करने से रह जाता है, परन्तु घमण्डी और भी अधिक ढिठाई करने लगता है। तेरी न्यूनता का ज्ञान मुझे सुनने की अनुमति देता है; परन्तु न्यायवान् होने के लिए उचित है कि बिना क्रोध किये सुन ! धैर्य के साथ सुनने से तू यथार्थ और ठीक काम करने का संकल्प कर सकेगा !"

(भाद्रपद-कृष्ण १४, सं० १९६४)

२५
राष्ट्रीयता और देश-भक्ति

कहा जाता है, और बहुत-से लोग इसमें विश्वास भी करते हैं, कि इंग्लैंड की उन्नति का सबसे बड़ा कारण एक तो यह है कि वहाँ की जलवायु, सदैव शीतल रहने के कारण, इंग्लैड-वासियों को आलसी होकर नहीं बैठने देती। ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा शरद ऋतु में हमारा कार्य करने में अधिक मन लगता है। इंग्लैड-वासी सदैव ही ईश्वर की कृपा से अपने यहाँ ऐसा समय पाते हैं जो उन्हें प्रतिक्षण कुछ न कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित करता रहता है। दूसरे, चारों ओर समुद्र से घिरा रहने के कारण उसे व्यापार में बहुत सुगमता रहती है। तीसरे यह कि इस देश ने पृथ्वी के धरातल पर देश की उन्नति और रक्षा के लिए बड़ा उपयोगी स्थान पाया है—समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण वह सुरक्षित तो है ही, जैसा कि प्राचीन समय में खाई से घिरा हुआ कोई बड़ा क़िला होता था; दूसरे यह, कि नयी और पुरानी दुनिया के बीच में होने से इसका सम्बन्ध दोनों से है और इस सम्बन्ध से उसने अपने व्यापार की उन्नति करने में बड़े लाभ उठाये है। जापान की जलवायु इंग्लैंड ही के समान है और उसकी स्थिति भी नयी और पुरानी दुनिया (अमेरिका और एशिया-अफ्रीका) के बीच में है और इसी कारण से जापान भी इंग्लैड की भाँति उन्नति करता चला जाता है।

उपर्युक्त प्राकृतिक कारण प्रत्येक देश की उन्नति अथवा अवनति पर प्रभाव डालते हैं, हमको इसमें संदेह नहीं है; परन्तु हमारा यह विश्वास है कि वे किसी देश की उन्नति अथवा अवनति के मुख्य कारण नहीं हैं। यदि ध्यानपूर्वक इंग्लैंड और जापान ही की उन्नति के इतिहास का निरीक्षण किया जाय, तो पता लगता है कि उनकी उन्नति का आधार इन प्राकृतिक कारणों के अतिरिक्त एक और ही शक्ति पर था, जिसके बिना वर्षों तक यही देश अवनति के गर्त में पड़े रहे और जिस शक्ति के प्रादुर्भाव होते ही वे उन्नति के शिखर पर पहुँच

गए। हम समझते हैं कि समस्त विचारशील लोग हमारे साथ इस विचार में सहमत होंगे कि इस शक्ति का नाम जातीयता, अथवा कहिये, राष्ट्रीयता है। यही प्रत्येक देश की उन्नति का मुख्य कारण है और इसी के बिना आज भारत इस अवस्था को पहुँच गया है।

राष्ट्रीयता किसे कहते हैं ? राष्ट्रीयता उस भाव का नाम है जो कि देश के सम्पूर्ण निवासियों के हृदयों में देश-हित की लालसा के साथ व्याप रहा हो, जिसके आगे अन्य भावों की श्रेणी नीची ही रहती हो। भारत में यह राष्ट्रीय भाव कैसे पैदा हो ? प्रत्येक भाव मे भक्ति और प्रेम होते हैं और प्रत्येक प्रेम और भक्ति के आधार भी होते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि मनुष्य जिस वस्तु से प्रेम रखता है उसका दास बन जाता है और उसके आगे अन्य समस्त वस्तुओं को तुच्छ मानता है। धन ही से प्रेम रखने वाले धर्म और यश की कुछ भी अपेक्षा नही करते; और जिनको कि धर्म और यश प्यारा है, उनके आगे धन मिट्टी-जैसा ही है। एक युवक विद्या के उपार्जन करने में सम्पूर्ण विषय-भोगों का परित्याग कर देता है; और दूसरा खेल-कूद में ही अपना समय बिताता है। एक दयालु आत्मा को तो दूसरों के साथ इतनी सहानुभूति होती है कि उनके दुःख से वह प्रतिक्षण दुःखी रहता है; और दूसरी ऐसी भी आत्मा है कि जो 'आप मरे, जग प्रलय' की कहावत पर ही चलती है। कुछ ऐसे पुरुष हैं जो गवर्नमेण्ट की खैरख्वाही के पुछल्लों के लिए सच-झूठ बोल, न्याय-अन्याय का विचार न कर, कार्य करते हुए दिन-रात खुशामद ही में लगे रहते हैं; और दूसरे ऐसे हैं कि जिनकी प्रेम और भक्ति का विषय अपनी मातृभूमि है। वे सच्चे सपूत दिन-रात कष्ट और हानियाँ उठाते हुए भी देश का ही हित करने में मग्न हैं। जब देश में इसी भाव की बहुत-सी आत्माएँ उत्पन्न हो जाती हैं तब उनका 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' की उक्ति के अनुसार मन मिल जाता है और वे सबके सब मिलकर, चाहे भिन्न-भिन्न मार्गों पर चलें, परन्तु उद्देश्य एक ही रखते हुए अपने सच्चे हार्दिक प्रयत्नों से अपने-आप को नमूना और अगुआ बनाते हुए, आपत्तियाँ झेलते हुए, अनुचित दबाव से न दबते हुए, देश भर के सम्पूर्ण बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, नागरिक और ग्रामीणों के हृदय में सच्ची देश-भक्ति को उत्पन्न कर देते हैं। थोड़े ही दिनों में देश ही समस्त देशवासियों के प्रेम और भक्ति का विषय हो जाता है और मतभेद, वर्णभेद और जाति-भेद के होते हुए भी राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ भाव देश-व्यापी हो जाता है; और इतना बढ़ जाता है कि उसके आगे अन्य भावों का दर्जा नीचा जँचने लगता है। जापान राष्ट्रीयता की इस श्रेणी पर पहुँच गया है। जापानियों में बौद्ध, ईसाई और अन्य मताव-

लम्बी भी हैं। परन्तु यदि किसी से पूछा जाय कि तुम कौन हो, तो वह अपने को बौद्ध, ईसाई अथवा अन्य मतावलम्बी नहीं बतलायेगा, किन्तु कहेगा कि मैं जापानी हूँ। मेरा धर्म जापान है, मेरा कर्म जापान है, मैं जापान हूँ और मेरा सर्वस्व जापान है।

रूस और जापान के युद्ध में पोर्ट आर्थर के मार्ग को रोकने में जब प्राण जाने का भय था, उस समय तोकियो हीरोज़ ने, जो कि उस समय कमाण्डर थे और जो कि यह जानते थे कि पोर्ट आर्थर जाना अपने प्राण गँवाना ही है, कहा था, "आहा! क्या ही अच्छा हो यदि ऐसे ही सात जन्म और धारण करूँ, और इसी प्रकार अपने देश के हित के लिए अपने प्राण दूं। मैं मरने को तैयार हूँ! मेरा हृदय दृढ़ है। मुझे आशा है कि हमारी विजय होगी। मैं बड़ी प्रसन्नता से जहाज़ पर जाता हूँ।"

कमाण्डर हीरोज़ के भाई ने जब अपने भाई की मृत्यु का तार घर को भेजा तो उसमें लिखा—"हमारे पूर्वजों की अपगत आत्माएँ अपने वंश में हीरोज सरीखे वीर पुरुष को पाकर कितनी प्रसन्न होती होंगी। उसकी मृत्यु पर हमारे वंश को अभिमान है और इसलिए हमको शोक नहीं करना चाहिए।"

उस युद्ध के समय राजा और प्रजा, सबके हृदय में यही भाव था। देश की जय के आगे उन्हें प्रत्येक वस्तु तुच्छ जान पड़ती थी। स्त्री-पुरुष, बाल और वृद्ध, सब अपने प्रियातिप्रिय प्राणों को भी देश के लिए अर्पण करने को उद्यत थे। एक घर में इकलौते पुत्र के मर जाने पर माता इसलिए रोती थी कि उसके कोई दूसरा पुत्र फिर युद्ध में भेजने को न था। रमणियों ने अपने आभूषण उतार कर युद्ध के व्यय के हेतु दे दिये थे। सम्राट् ने अपने निज के व्यय को बहुत ही कम कर दिया था और धनिकों और सर्वसाधारण में परस्पर यह होड़ थी कि देखें कौन अपनी ज़ायदाद का अधिक भाग देश के लिए समर्पित करता है। जिस देश में ऐसी गाढ़ देश-भक्ति हो, क्या वहाँ पर मत-भेद, वर्ण-भेद अथवा अन्य कोई भेद भेद डाल सकता है? कदापि नहीं। गाढ़ देश-भक्ति से एकता उत्पन्न होती है, एकता से राष्ट्रीयता का भाव और राष्ट्रीयता के भाव से देश की उन्नति होती है।

भारतवर्ष में लोग सदा से धर्म को सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ समझते चले आये हैं। उसके लिए भारतवासियों ने अपने तन, मन, धन को कुछ नहीं समझा। जैसे कि बहुत-से देश अपने साम्पत्तिक अभ्युदय के लिए धर्म-अधर्म का कुछ विचार नहीं करते—चाहे झूठ बोलना पड़े, बेईमानी करनी पड़े और हिंसा भी क्यों न होती हो; परन्तु यदि कोई देश अथवा माल हाथ लगे, तो कुछ परवाह

नहीं। ऐसा विचार भारतवर्ष का कभी नहीं रहा। यहाँ के धर्मयुद्ध, धर्म-राज्य और धर्म-कार्य प्रसिद्ध हैं। और इसमें सन्देह भी नहीं कि धर्म सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। इसको खोकर अन्य वस्तुओं का प्राप्त करना अपने परलोक को नष्ट करना है। प्रत्येक कार्य के करने में धर्म का पालन करना आवश्यक है, परन्तु धर्म को एक तमाशा बना लेना मूर्खता है। धर्म की आड़ में अपनी काहिली, निर्बलता और मानसिक अशक्ति को छिपाना नाश का कारण है। बहुधा यह कहा जाता है कि भारतवर्ष में लोगों का अपने धर्मों में अधिकतर लगे रहना ही इस देश की अवनति का कारण हुआ है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है; धर्म में लगे रहना तो किसी भी अवस्था में, अवनति का कारण हो ही नहीं सकता। कारण यह है कि भारतवासी, धर्म में लगे रहना तो दूर रहा, अपने धर्म को समझते ही नहीं। धर्म को एक खेल मान रखा है। क्या धर्मों के भेद से हिन्दुओं, आर्यों, मुसलमानों और ईसाइयों का आपस में झगड़ा करना कोई धर्म कहा जा सकता है? हिन्दू मूर्तिपूजक हैं और आर्यसमाज नहीं; इसलिए उन दोनों में सदैव तनातनी रहे, यह कोई धर्म है? हिन्दू और मुसलमानों के मत अलग-अलग हैं; तो इस विचार से यदि कोई मुसलमान हिन्दुओं के सदैव विरुद्ध रहे, यहाँ तक कि गवर्नमेण्ट की दृष्टि में उनको बाग़ी साबित करने का झूठा-सच्चा प्रयत्न करे, तो क्या वे अपने धर्म में लगे हुए हैं? कदापि नहीं। यदि ऐसा करते हैं तो हिन्दू और आर्य अपने वेदों के, ईसाई अपनी इंजील के, और मुसल-मान अपने कुरानशरीफ़ के विरुद्ध चल रहे हैं। धर्म यह है कि प्राणी को प्राणी के साथ सहानुभूति हो, एक-दूसरे को अच्छी अवस्था में देखकर प्रसन्न हों, और गिरी हुई अवस्था में सहायता दें।

सच्चा तप यह है कि अपने भाइयों के ताप से तपा जाय; सच्चा यज्ञ यह है जिसमें अपने स्वार्थ की आहुति दी जाय; सच्चा दान वह है जिसमें कि पर-मार्थ किया जाय और सच्ची ईश्वरसेवा यह है कि उसके दुःखी जीवों की सहायता की जाय। परमात्मा सबके हृदय में व्यापक है। इसलिए जितने प्राणियों को हम प्रसन्न करें, उतने ही गुना ईश्वर को प्रसन्न करेंगे।

यह सच्चा धर्म देश-भक्ति द्वारा प्राप्त है। देश-भक्ति का संचार हमारे हृदय से स्वार्थ को निकाल कर फेंक देगा। हम अदूरदर्शी, स्वार्थी और खुशा-मदियों की तरह ऐसे कार्य कदापि न करेंगे जिनसे कि देशवासियों को हानि पहुँचे; बल्कि दूरदर्शी, परमार्थी, सत्यशील और दृढ़ताप्रिय आत्माओं की भाँति, असंख्यों कष्ट उठाते हुए भी वही करेंगे, जिसमें देश का भला हो। निर्धन धनवान्, निर्बल बलवान् और मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जायँ, प्रत्येक प्रकार के

सामाजिक दुःख मिटें और दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ दूर होकर लाखों बिलबिलाती हुई आत्माओं को सुख पहुँचे। देश-भक्ति द्वारा इतने धर्मों का सम्पादन होता हुआ देख कर भी यदि कोई धर्म के आगे देश-भक्ति को कुछ नहीं समझता, उस पुरुष को जान लीजिये कि वह धर्म के तत्त्व ही को नही पहचानता। वह 'धर्म-धर्म' शब्द गा रहा है; परन्तु यह नहीं जानता, कि धर्म क्या वस्तु है। प्रायः हमारे देश-भाइयों का विचार है कि ईश्वर का भजन और उपासना करनी चाहिए। जिससे परलोक सँभले, और झगड़ों में क्या रक्खा है! वास्तव में झगड़ों में कुछ नहीं रक्खा है, परन्तु देश-भक्ति उन झगड़ों में शामिल नही है। यह धर्म का एक साधन है; और जैसे कि गृहस्थाश्रम का पालन किये बिना संन्यास ग्रहण करना अधर्म है, उसी प्रकार बिना देश-भक्ति किये हुए मत-मतान्तरों में पड़े रहना समझना चाहिए। जो लोग गृहस्थाश्रम को लाँघकर संन्यासाश्रम में कूद जाते हैं, यथार्थ में वे अधर्म कमाते हैं। स्मृति का वाक्य है कि :

ऋणं देवस्य यज्ञेन, ऋषीणां दान-कर्म्मणा।
संतत्या पितृलोकानां, शोधयित्वा परिक्रमेत्॥

अर्थात्, "यज्ञ द्वारा देवताओं का ऋण, कर्म द्वारा ऋषियों का ऋण और सन्तति द्वारा पितृ-ऋण चुकाने के अनंतर संन्यासी होना चाहिए।"

वे माता-पिता, जिन्होंने कि अपने पुत्र के लालन-पालन में अनेक कष्ट उठाये, और जिस पिता ने अपने पसीने की कमाई से उसे बड़ा किया और अपने आनेवाले बुढ़ापे के लिए उसे अपने सहारे की लकड़ी समझा, वह यदि उनकी आशाओं को पूरा न करके उनको दीन-अवस्था में छोड़कर संन्यासी हो जाता है, तो क्या वह धर्म कमाने जा रहा है? स्त्री, जो अपने माता-पिता एवं कुटुम्ब को त्याग तुम्हारे ही ऊपर सब भरोसा करके आयी, उसको दुःखावस्था में छोड़ कर वन को चले जाना दूसरे की आत्मा को दुःख पहुँचाने का अधर्म अपने सिर पर लेना नही है? और जिस सृष्टि-रचना के लिए ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न किया है, उसके लिए पुत्र उत्पन्न न करके अथवा उत्पन्न करने के पश्चात् उसको योग्य न बनाकर ही घर-बार त्याग देना ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना नहीं है? हमारी सम्मति में प्रत्येक विचारवान् पुरुष इसके उत्तर में अवश्य 'है' ही कहेगा। बस, देश-सेवा किये बिना मतमतान्तरों के झगड़ों में पड़ना भी इसी प्रकार समझ लीजिये। 'धर्म के भेद, वर्ण-भेद अथवा जाति-भेद तो प्रायः सब ही देशों में हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ पर चाहे धर्म और वर्ण आदि के अनुसार भाव की भिन्नता है; परन्तु इन सबके ऊपर उनके प्रेम और भक्ति का विषय एक और भी है—जो कि सबके लिए एक ही है और

जिसके लिए सबका एक ही भाव रहता है—यह विषय उनकी मातृ-भूमि है। इसमें संदेह नही कि जो देशवासी अपनी मातृ-भूमि की गुरुता को भली भाँति समझ लेगे, उनमें धर्म-भेद और वर्ण-भेद रहते हुए भी एकता का अभाव नहीं पाया जायेगा। यदि आप विद्वान् है, बलवान् है और धनवान् है तो आपका धर्म यह है कि अपनी विद्या, धन और बल को देश की सेवा में लगाओ। उनकी सहायता करो जो कि तुम्हारी सहायता के भूखे हैं। उनको योग्य बनाओ जो कि अन्यथा अयोग्य ही बने रहेंगे। जो ऐसा नही करते, वे अपनी योग्यता का उचित प्रयोग नही करते। और ईश्वर की सौंपी हुई अमानत में ख़यानत (विश्वासघात) करते हैं, जो कि एक अधर्म है, और जिसका बुरा फल मिले बिना रह नही सकता।

(भाद्रपद-शुक्ल ६, सं० १९६४)

२६
भारतवासी और देश-भक्ति

हमारी समझ में अब वह समय गया जबकि लोगों को जातीयता का महत्त्व दिखलाने के लिए बड़े लम्बे-चौड़े लेखों के लिखने और जोशीले व्याख्यान देने की आवश्यकता पड़ती थी। भिन्न-भिन्न देशों के इतिहासों और मुख्यकर आज-कल के आन्दोलनपूर्ण समय ने प्रत्येक भारतवासी के हृदय पर जातीयता का महत्त्व अंकित कर दिया है और करता चला जाता है। निस्संदेह देश में शिक्षा के अभाव से अभी बहुत-से ऐसे पुरुष और स्त्री मिलेंगे, जिनको जातीयता का कुछ भी ज्ञान नही; परन्तु भारत के अधिकतर निवासी और मुख्यकर सम्पूर्ण शिक्षित समाज जातीयता की आवश्यकता को अनुभव करने लगा है और भारत की दुर्गति तो आज-कल प्रत्येक की आँखों के सामने बड़े दुःखदायक स्वरूप में खड़ी है, और प्रत्येक देशवासी को यह विचार करने के लिए प्रेरित करती है कि देश को इस दुर्गति के गर्त्त से कैसे निकालें।

अपने पिछले लेखों में हम यह दिखला चुके हैं कि भारत का उद्धार करने वाली केवल एक राष्ट्रीयता है। अन्य कितने ही उपाय हम करें, जैसे कि बहुत से कर भी चुके हैं, परन्तु बिना राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न किये हुए देश का उद्धार करना दुष्कर है। हमने यह भी दिखलाया था कि यह राष्ट्रीयता सच्ची देश-भक्ति से उत्पन्न होगी; परन्तु इस सच्ची देश-भक्ति की भारतवासियों में क्या दशा है? कहा जाता है कि वर्तमान और प्राचीन भारत में बड़ा भारी अन्तर हो गया है। मुख्य बात आजकल यह देखने में आती है कि हम वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि को हानिकारक समझकर जातीयता की आवश्यकता को अनुभव करने लगे हैं। हम अपनी जुदी-जुदी अवस्थाओं और आपस की खिचाखिंची को भारत की अधोगति का कारण जानकर इन अवगुणों को दूर करने की इच्छा, और कहीं-कहीं प्रयत्न भी, करने लगे हैं। ये सब विचार देश की करुणापूर्ण

दशा को देखकर ही हमारे हृदय में उत्पन्न हुए हैं और देश का प्रेम ही हमें कुछ करने को प्रेरित कर रहा है। यह देश-भक्ति ही तो है; अन्यथा क्यों तो आज स्वदेशी के ग्रहण और विदेशी के बायकाट का आन्दोलन सुनने में आता, क्यों देश की दुर्दशा पर इधर-उधर कांग्रेस और कान्फ्रेंसें होती हुई सुनायी पड़तीं, क्यों आजकल अखबारों के एडीटर जेलखानों की सैर करते, क्यों गवर्नमेण्ट का दिन-रात चैन से कटना मुश्किल हो जाता और क्यों लोगों को निर्वासित करने, दंड देने एवं उन पर जा-बेजा दबाव डालने की प्रतिक्षण चिन्ता रहती !

यह सब कुछ है; परन्तु हमें यह कहना पड़ता है कि भारतवर्ष में न तो देश-भक्ति है और न जातीयता का प्रचार हुआ। क्या जातीयता इसका नाम है कि लोगों के जुदे-जुदे थोक बँध जायें, आपस में झगड़े हों, पक्षपातवश एक-दूसरे को प्रतिक्षण हानि पहुँचाने की चेष्टा करें ? और क्या देश-भक्ति इसको कहते हैं कि चाहे देश आपस के झगड़ों से मिट्टी में मिल जाय, परन्तु अपनी बात हेटी न होने पाये। बहुत से लोगों का विचार है कि ऐसे दल तो प्रायः समस्त उन्नतिशील देशों में पाये जाते हैं और दलों के हुए बिना कोई देश कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। जब भिन्न-भिन्न दल होते हैं तो एक-दूसरे को आराम से बैठने नही देते। आपस की बहस सबको कार्य करने के लिए विवश करती रहती है जो कि सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

इस विचार से हम पूर्णतया तो नहीं, परन्तु हाँ, कुछ-कुछ सहमत हैं। जहाँ पर पार्टियाँ होंगीं, वहाँ पर प्रत्येक बात पर भली-भाँति बहस होकर विचार हो जायगा। जहाँ अकेले के हाथ में ही मसला रहेगा, वहाँ एक की सम्मति के अनुसार ही काम होगा। यह बात प्रत्यक्ष है कि एक व्यक्ति अथवा एक ही दल का ज्ञान परिमित होता है। इस कारण वह प्रत्येक कार्य के ऊँच-नीच, हानि-लाभ और भले-बुरे का विचार भली-भाँति नहीं कर सकता। बल्कि स्वाभाविक पक्षपात-वश अपनी समझ के अनुसार ही करता है और अक्सर अपनी अनुचित समझ भी उसे उचित मालूम पड़ने लगती है।

प्रजातन्त्र राज्य के सामने एकतंत्र राज्य को अच्छा न बतलाये जाने का भी यही कारण है। राजा उस समय अच्छा कार्य कर सकता है जबकि वह अधिकारियों के आश्रित न रहे, बल्कि पक्षपात-रहित हो सब बातों को अपनी ही आँखों से देखे, स्वयं सब-कुछ सुने और सब-कुछ समझे। इसके मायने यह हैं कि वह सर्व-व्यापक, सर्व-द्रष्टा और सर्वज्ञ हो। परन्तु ये ईश्वर के गुण हैं और उनका अल्पज्ञ मनुष्यों में होना असम्भव है, इसलिए एक मनुष्य का राजा होना, अर्थात् एकतंत्र राज्य, अवगुणों से भरा होता है। अधिकारी अपनी मर्जी

के अनुसार कार्य करते हैं और वही सुझाते है जो उनके मन को भाता है। भारतवर्ष में आज-कल बहुत-सी राजनैतिक खराबियाँ फैलने का यही कारण है।

ये सब खराबियाँ उस समय दूर हो जाती हैं जबकि प्रजा को स्वयं ही उन विषयों पर विचार और विवाद करने का समय दिया जाय। ऐसी अवस्था में अन्यायी और पक्षपाती अधिकारियों की दाल न गलने पावेगी और राजा को प्रजा की असली दशा मालूम हो जावेगी और फिर राज्य के सम्पूर्ण कार्य न्याय-संगत होंगे। न कहीं असंतोष दिखायी पड़ेगा और न कही बलवे का भय। सम्पूर्ण कार्य शान्तिपूर्वक होते चले जायेगे और राजा और प्रजा दोनों का अभ्युदय होगा। भारतवर्ष, जो आज-कल स्वराज्य के लिए पुकार कर रहा है, उसका यही मन्तव्य है। स्वराज्य से उसका मतलब यह है कि हमको अपने राज्य-कार्यों पर विचार करने का अधिकार मिले। हमारे शासन की लगाम अँगरेज़ राज्याधिकारियों के हाथ में न रहे, प्रत्युत देशवासियों के प्रतिनिधियों के हाथ में आ जाय। इस प्रकार के स्वराज्य का माँगना राज्य का अमंगल चाहना नही है; बल्कि उसको वह-वह लाभ पहुँचाना है जो कि वाद-विवाद को शासन-प्रणाली से पहुँच सकते है। एक अँगरेज़ राजनीतिज्ञ के वाक्य है :

Discussion has incentives to progress peculiar to itself. It gives a premium to intelligence.

To set out the argument to determine political action with such force and effect that really should determine it, is high and great exertion of intellect. Government by discussion has been principal organ for improving mankind.

अर्थात्, "वाद-विवाद में मुख्य-मुख्य शक्तियाँ हैं जो कि उन्नति के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वाद-विवाद से बुद्धि तीव्र होती है। किसी राजनैतिक कार्य का निश्चय करने के लिए उस पर भली-भाँति अपने बुद्धि-बल के द्वारा बहस करना बुद्धि से बड़ा भारी अभ्यास करना है जो कि उसे बढ़ायेगा। वाद-विवाद द्वारा शासन करना मनुष्य जाति की उन्नति करने का मुख्य उपाय है।"

यदि थोड़ा भी विचार किया जाय, तो उपर्युक्त कथन की सत्यता स्पष्ट दिखायी पड़ती है, परन्तु वाद-विवाद करना अत्यन्त नाजुक विषय है। जिस प्रकार कि इसको रीति के अनुसार करने से महान् लाभ है, उसी प्रकार इसमें तनिक भी खराबी आने से बड़ी-बड़ी हानियाँ पहुँच सकती हैं। वाद-विवाद में पक्षपात का लेश भी नही रहना चाहिए। युक्तिपूर्वक अपने विचार को दूसरों के सामने रखना, उसे शान्ति के साथ समझाना, उस पर दूसरों के विचार को

ध्यानपूर्वक सुनना व समझना, यदि ठीक हो तो उसको पक्षपात-रहित ही मान लेना और अपनी ही धायँ-धायँ न किये जाना लाभ पहुँचाने वाले वाद-विवाद के लिए अत्यन्त आवश्यक है ; और जहाँ इसमें तनिक भी गलती हुई तो फल भी बिल्कुल ही उलट जाता है। वाद-विवाद वालों में सहिष्णुता के गुण का होना अत्यावश्यक है। शान्तिपूर्वक कार्य करना सफलता का चिह्न है। शान्ति से हमारा मन्तव्य यह कदापि नहीं है कि भीतर तनिक भी शक्ति न हो। शक्ति-हीन शान्ति तो मुर्दों से अधिक कदाचित् कहीं पर भी न दिखायी पड़ेगी ; परन्तु हम चाहते हैं शक्तियुक्त शांति, जिसकी कि राजनैतिक कार्यों और वाद-विवाद में बड़ी भारी आवश्यकता है। यह गुण कार्य करने वाले जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है और मुख्यकर आजकल के समय में बहुत ही अनुकूल है।

दूसरे देशों में दल अवश्य हैं, वाद-विवाद जरूर होता है; परन्तु उनमें सहिष्णुता और शक्तियुक्त शान्ति का गुण साथ रहता है, और यही कारण है कि वे उन्नति करते चले आते है। परन्तु क्या हमारे दल भी इसी प्रकार के हैं ? कदापि नहीं। नरम और गरम पार्टियों की ऐसी मित्रता है कि एक-दूसरे से मिलने और बात करने में भी आर मानें। पक्षपात से, विवेकरहित हो वाद-विवाद करना छोड़ नीच मनुष्यों के सदृश गाली-गलौज पर आ जावें। मुसल-मान अपनी अलग ही आल इंडिया मुहम्मडन लीग (भारत के समस्त मुसलमानों की सभा) खोल बैठें और नरम और गरम पार्टी मे भी कांग्रेसो के अलग-अलग करने की बातचीतें होने लगें आदि-आदि सम्पूर्ण बातें हमको यह बतलाती हैं कि हम लोगों में सहिष्णुता और बुद्धि-बल बिल्कुल नही है जिससे कि एक-दूसरे को समझा-बुझाकर शान्तिपूर्वक अनैक्य न होने दें। सब एक ही जगह मिलकर रहे। वाद-विवाद करें, परन्तु परस्पर वैर-भाव न रखे। मुसलमानों का दल इस नरम और गरम पार्टी की मित्रता से एक कदम और भी आगे बढ़ गया है। हिन्दुओं से मतभेद होने के कारण यह तो हुआ नही कि आपस ही में उसे तय कर लें, प्रत्युत हिन्दुओं से अनेक उपायों से वैर निकालने लगे। अपने हिंदुस्तानी भाइयों के साथ अनैक्य करके औरों से मिलने लगे और इस कहावत को भूल गए कि :

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।

अर्थात् अपने भाइयों ही का मेल, चाहे थोड़े ही क्यों न हों, चाहे निर्बल ही क्यों न हो, अन्यों के साथ मेल करने से अच्छा है। भाइयों के मेल से जो फल निकलता है उसके महत्त्व को सब समझते हैं ; परन्तु तो भी हम अपने में ये अवगुण पाते है। इसका कारण क्या ? कारण यह है कि हम में देश-भक्ति

नहीं है, बल्कि स्वार्थ-भक्ति है। प्रत्येक अपने ही सिर पर उन्नति करने का मुकुट रखना चाहता है। यहाँ तक तो यह भाव बहुत ही उत्तम है, परन्तु उसके साथ दूसरों को कुछ करके नाम प्राप्त करते हुए देखकर ईर्ष्याग्नि में जलने लगना और अपनी भी नाक कटाकर दूसरों की बदशगुनी करने के लिए उसके मार्ग में आ खड़े होना बहुत बुरा है। इसका फल यह निकलता है कि न तो स्वयं ही कुछ कर सकते हैं और न दूसरों ही को कुछ करने देते हैं। इस कारण देश की अधोगति होती चली जाती है और हमारी आँख भी नहीं खुलती, बल्कि प्रतिक्षण यही ध्यान रहता है कि :

मिल जाय देश खाक में कुछ भी नहीं परवा।
रे 'मीर' अपनी बात घटाना नहीं अच्छा॥

कहिये, यह स्वार्थ-भक्ति है या देश-भक्ति? देश-भक्ति उस भक्ति को कहते हैं कि जिसके आगे हम अपने को भूल जायँ, देश की उन्नति ही में अपनी उन्नति समझें, देश ही के यश में अपना यश समझें, देश ही के जीवन में अपना जीवन समझें और देश ही की मृत्यु में अपनी मृत्यु समझें। गीता के अनुसार सच्चे भगवद्-भक्त वे होते हैं :

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

अर्थात् "जो कि अपने समस्त कार्यों को मुझ भगवान् को अर्पण कर देते हैं और अपनी एकाकी लगन से भगवान् ही का ध्यान और उपासना करते हैं।" भगवद्-भक्ति में भक्ति का विषय श्री भगवान् हैं, और देश-भक्ति में देश। इसलिए इसी वाक्य के अनुसार सच्ची देश-भक्ति उसे कहते हैं कि जिसमें जो कुछ करें-धरें, सब कुछ देश ही के लिए हो, और देश ही के कार्य में प्रतिक्षण तत्पर रहें और एकाकी लगन से देश ही के ध्यान और उपासना में लगे रहें। क्या हममें इस प्रकार की देश-भक्ति का लेशमात्र भी मौजूद है? क्या हमारे यहाँ की पार्टियों के दिमाग़ में प्रतिक्षण देश का ऐसा ही ध्यान रहता है? कदापि नहीं। अन्य देशों में पार्टियाँ अवश्य हैं और एक-दूसरे के अत्यन्त विरुद्ध, परन्तु देश की भक्ति का सबके हृदय में इतना ध्यान रहता है कि वे अपने परस्पर के मतभेदों से स्वार्थप्रियता के कारण देश को हानि नहीं पहुँचने देते। इंग्लैंड के लिबरल और कंज़र्वेटिव दल आपस में जितने लड़ते-झगड़ते हैं वह सब पर प्रगट है; परन्तु उन्होंने कदाचित् कभी ऐसी बात का प्रयत्न नहीं किया कि पार्लमेंट को छोड़ दें और मुसलमानों की तरह एक अलग ही कांग्रेस खोल बैठें। अथवा किसी नरम और गरम पार्टी वालों की तरह हिन्दुओं को भी

दो कांग्रेसें करने जैसा विचार करें। वे लोग चाहे आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, परन्तु अपनी एक मुख्य शक्ति को, जो कि देश की उन्नति के लिए सबके ऊपर स्थापित की गई है, तीन-तेरह करना पसन्द नहीं करते। ऐसे दलों का देश में होना उन्नति के लिए उपयोगी हो सकता है, परन्तु दलों की भिन्नता का न होना किसी प्रकार हानिकारक नहीं है। जापान में, हमारी सम्मति में, दलों की भिन्नता बिल्कुल नहीं है। सब एकमत हैं और जापान उन्नति करता चला आता है। जापान की उन्नति का कारण भी समस्त जापानियों का एकमत होना ही है। यदि माना जाय कि भिन्न-भिन्न दलों का होना देश को उन्नति पहुँचाना है, तो ये ऐसे दल होने चाहिए जो देश-हित को स्वार्थ-हित के ऊपर समझते रहें और अपने मतभेद को देशोन्नति के मार्ग में न खड़ा होने दें।

भारतवर्ष में यह बात क्यों नहीं दिखायी पड़ती? यदि भारतवर्ष के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होता है कि भारतवासियों की प्रकृति में ही फूट समा रही है। इसका कारण चाहे तो अविवेक समझ लीजिये और चाहे स्वार्थ-तत्परता। जिस प्रकार अन्य-अन्य देशों के कुटुम्बों की कोई न कोई मुख्य बात प्रसिद्ध होती है, भारतवर्ष में कुटुम्बों की फूट मशहूर है। प्राचीन समय से लेकर आज तक हमको इसके प्रमाण मिलते चले आते है। पांडवों और कौरवों का वैर घर ही की फूट थी जो कि भारत की अधोगति का मुख्य कारण हुआ। जयचन्द और पृथ्वीराज की फूट कुटुम्बी फूट ही थी। घर वालों से वैर करके कुटुम्ब के विरोधी से जा मिलने की भी यहाँ बहुत काल से प्रथा चली आई है, विभीषण रावण के विरुद्ध हो राम से मिल गया था। राणा प्रताप का भाई शक्तिसिंह अपने कुटुम्ब के वैरी मुगलों से जा मिला था और उनको राणा प्रताप के बहुत से भेद दे दिये थे। बहुत-सी रियासतों के बारे में ऐसा सुनने में आया है कि मंत्रियों और अन्य विश्वस्त पुरुषों ने राज्य के साथ विश्वासघात किया, जिनको कि उनकी हरामख़ोरी का फल कई बार न्यायशील गवर्नमेंट ने और प्रत्येक बार ईश्वर ने दिया। हमारी प्रकृति में से जब तक यह फूट न निकल जायगी, तब तक हम कुछ नहीं कर सकते। भारतवासियों में आत्मिक, मानसिक और शारीरिक आदि सब शक्तियाँ मौजूद हैं; परन्तु ये सब की सब सामाजिक शक्ति के अभाव से शिथिल पड़ी हुई हैं। सामाजिक शक्ति में भी सबसे भारी कमी एकता और संगठन की है। हमारा सबसे बड़ा और सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि हम अपनी इस कमी को दूर करने का प्रयत्न करें, अन्यथा न जातीयता का संचार होगा और न देश का उद्धार।

(भाद्रपद-शुक्ल १४, सं० १९६४)

२७

राज-भक्ति और देश-भक्ति

पिछले लेखों में यह दिखलाकर कि देश-भक्ति क्या वस्तु है, और जापान आदि देशों में यह किस श्रेणी को पहुँची हुई है, हमने पाठकों से यह निवेदन किया था कि देश-भक्ति की भारतवर्ष में क्या दशा है। अपने देश में देश-भक्ति का संचार न होने का एक कारण यह बतलाया गया था कि भारतवासियों की प्रकृति ही में फूट समा रही है जो कि उनकी अविवेकिता और स्वार्थ-तत्परता का कारण है। यह अविवेकिता देशभक्ति के मार्ग में कहाँ तक बाधक हुई है और हो रही है, इस बारे में आज हम कुछ लिखने की चेष्टा करते हैं।

आजकल देश में स्वदेशी आदि उपायों द्वारा देश की उन्नति करने में लगे हुए देश-भक्तों के ऊपर जो-जो आपत्तियाँ और उनके कार्यों में जो-जो विघ्न आकर उपस्थित होते हैं, सो किसी से छिपे नहीं है। यदि उनका कारण निर्णीत किया जाय, यदि उन सिलसिलों का पता लगाया जाय जहाँ से कि ये सम्पूर्ण आपत्तियाँ और विघ्न आकर गिरते हैं, तो मालूम होता है कि इस सबके मूल कारण हमारे देशवासी ही हैं जो कि स्वयं किसी लालच से अधर्म कर रहे हैं और गवर्नमेंट को भी झूठी-सच्ची सुझाकर उससे बहुत-से अन्याय और अनर्थ करा रहे हैं। वे अपने इस आचरण और मनोभाव को राजभक्ति के नाम से पुकारते हैं और अपनी चालाकियों से यहाँ तक सफलता प्राप्त कर चुके हैं कि एक बड़ी बुद्धिमान्, विचारशील और न्याय का दम भरने वाली गवर्नमेंट भी धोखे में आकर उनके इन वर्तमान आचरणों को सच्ची राज-भक्ति समझ रही है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी गवर्नमेंट को इस धोखे से सूचित करें और अपने भाइयों को यह बतलावें कि उनका यह आचरण अनुचित है कि देश और प्रजा को हानि पहुँचाकर राज-भक्ति दिखलावें। यह राज-भक्ति कदापि नहीं कही जा सकती और उसके द्वारा राज्य ही को नहीं, प्रत्युत अपने-आप को भी

किसी न किसी समय बड़ी हानि पहुँचने की संभावना है। सच्ची राज-भक्ति सम्पूर्ण प्रजा में होनी चाहिए। राज-भक्ति का भाव न रखना एक अधर्म कहा गया है, परन्तु सच्ची राज-भक्ति कहते किसे हैं ? सच्ची राज-भक्ति उस भाव का नाम है जो कि राज्य तथा राजा का भला करने के लिए हृदय में व्याप रहा हो। परन्तु राज्य तथा राजा का भला किस में हो सकता है, क्या किसी के धोखे में आकर प्रजा को दुःख पहुँचाने में ? कदापि नहीं। राजा का भला उसी कर्म के भले में हो सकता है जिसके कारण से वह राजा बना हुआ है—यह कर्म प्रजा-पालन है। अतएव प्रजा-भक्ति ही सच्ची राज-भक्ति है। जो लोग किसी राजा की प्रजा को सुख पहुँचाने का उद्योग करते हैं, वे राज्य को सुख पहुँचाते हैं; जो देश की सामाजिक, साम्पत्तिक और आत्मिक दशा को सँभालने में लगे हुए है वे राज्य के बल को बढ़ा रहे है और राजा का मंगल चाह रहे हैं। और जो उसके विरुद्ध प्रजा और देश को हानि पहुँचाकर राज-भक्ति दर्शा रहे हैं, वे यथार्थ में राज्य के साथ शत्रुता कर रहे हैं। प्रजा के सुख में राजा का सुख, प्रजा के दुःख में राजा का दुःख, प्रजा को उन्नति में राजा की उन्नति और प्रजा की अवनति में राजा की अवनति है। राजा का यह प्रधान धर्म है कि वह देश के कल्याण का सदैव ध्यान रक्खे। जिस प्रकार एक कृषक अपने खेत में से खर-पात को काटकर खेत के पौदों की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा का भी यह कर्त्तव्य है कि राज्य के दुःखदायक निमित्तों को दूर करके प्रजा की रक्षा करे। अन्यथा मनुस्मृति का वाक्य है :

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सो चिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥

अर्थात् 'जो राजा अविवेक-वश प्रजा के साथ वर्ताव करने में अन्धाधुन्ध करता है, वह शीघ्र ही सकुटुम्ब राज्य से और जीवन से भ्रष्ट हो जाता है।' इसी कारण हम कहते हैं कि सच्ची राज-भक्ति देश-भक्ति ही है। समस्त राज-भक्तों का यह कर्त्तव्य है कि राज-भक्ति दिखलाने मे देश-भक्ति का सबसे पहले ध्यान रक्खें और राजा को उसी मार्ग पर लायें जिसमें उसके देश और प्रजा का भला होता हो। ब्रिटिश राज्य के वर्तमान प्रधान सचिव सर हेनरी कैम्पबेल बेनरमैन कहते हैं :

In all these subjects on which I have been touching what is the aim to be kept in view, what is the star which we ought to keep our eyes upon to see that we are moving in the right direction ? It is that we should promote the welfare and happi-

ness and interests not of any particular class or section of the community but of the nation at large. That is the work of true patriotism, these are the foundations upon which a solid empire may be built.

"इन सम्पूर्ण विषयों में, जिनके ऊपर कि मैं वाद-विवाद करता रहा हूँ हमको यह विचारना चाहिए कि हमारा मुख्य उद्देश्य क्या है। वह कौन-सा मार्ग है जिस पर चलकर हम अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकेंगे। वह यह है कि हम एक नेशन के किसी एक ही भाग के साथ अपनी दया न दिखलाते हुए पक्षपात-रहित हो सम्पूर्ण प्रजा के सुख और समृद्धि के बढ़ाने में उद्योग करें। यह सच्ची देश-भक्ति का कार्य है और यही एक दृढ़ राष्ट्र का मूल आधार है।"

इसी विषय पर हमारे वर्तमान भारत-सचिव मिस्टर मार्ली ने एक बार कहा था :

But whatever the schemes and wisdom of a statesman might be, he should know that all the glittering adventures of imperial pride were vain and empty, were delusive and guilty, if he did not constantly have before him the aim of mitigating the lot of the great masses of men, women and children who were always very near hunger and nakedness.

"एक राज-हितैषी राजनीतिज्ञ को, चाहे वह कितना ही अधिक उपायों का सोचने वाला और विद्वान् हो, यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि यदि उसने प्रजा के पुरुष, स्त्री और बालकों की भूखी और नंगी दशा का कुछ विचार न करके उसको दूर करने में यथाशक्ति उद्योग न किया, तो उसके और राज्य के सम्पूर्ण कार्य, राज्य की उन्नति और अभिमान सब के सब व्यर्थ, निष्फल, धोखा देने वाले और पापयुक्त हैं।"

अपने धर्मशास्त्र और इंग्लैंड के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों के प्रमाण देते हुए हमको अब इस विषय पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है कि सच्ची देश-भक्ति ही राजभक्ति है ; और जो इसके विरुद्ध आचरण करते हैं, वे राज्य की जड़ में धुन लगा रहे हैं और राजा को ऐसे भयानक शत्रुओं से सदैव बचे रहना चाहिए।

हमें उपर्युक्त सिद्धान्त ऐसा सिद्धान्त नहीं मालूम होता कि जिसे एक मामूली समझ का आदमी समझ सकता हो। फिर हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि अँगरेज़ों की सी एक बुद्धिमान् जाति और उसके आजकल के कहलाये जानेवाले राजभक्त इस सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। जो लोग प्रजा को दुःख देते हैं,

टैक्स इत्यादि बढ़वाते हैं और प्रजा की उन्नति के कार्यों में बाधा डालते हैं, वे सच्चे राज-भक्त समझे जाते हैं; और जो प्रजा का हित करने में लगे हुए हैं, देश की उन्नति को अपना परम कर्तव्य समझ रहे हैं, देश के दुःख में अपना दुःख और सुख में अपना सुख मान रहे हैं, वे लोग राज-विद्रोही समझे जाते हैं। देश के लोग भी एक ओर तो जुर्मानों, जेलखानों, देश-निकालों, गिरफ्तारियों और डिटेक्टिवों आदि का भय देख के और दूसरी ओर गवर्नमेंट का प्यार और दुलार, खैरख्वाही के खिताबों की बौछार, बड़े-बड़े गोरे राज्याधिकारियों से मिलने-जुलने का सौभाग्य और वफादार होने के कारण बहुत-से अपराध करने पर भी दंड आदि के न मिलने की निश्चितता की या स्वभावतः राज-भक्ति की ओर झुक जाते हैं और देश के लिए हानियाँ पहुँचाकर अपनी मातृ-भूमि के सच्चे सपूत होने का परिचय देते हैं। और ऐसा हो क्यों न, जब कि एक ओर तो मिस्टर के० जी० गुप्त और सैय्यद बिलग्रामी भारत की कौंसिल के मेम्बर बनाये जा रहे हों, नवाब सलीमुल्ला को करोड़ों रुपयों का ऋण देकर गवर्नमेंट अपनी कृपा दिखला रही हो और दूसरी ओर लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को देशनिकाला दिया जा रहा हो; मिस्टर जसवन्तराय, आठवले, दीनानाथ और विपिन्द्रचन्द्र पाल जेलखाने में भेजे जा रहे हों, स्वदेशी-आन्दोलन में भाग लेने वाले विद्यार्थी यूनिवर्सिटी से निकाले जा रहे हों और स्वदेशी पर व्याख्यान देने वालों के पीछे पुलिस और डिटेक्टिव ही लगे रहते हों, तो भला कौन सुख की नींद सोने वाला जान-बूझकर आपत्तियों में फँसाने वाली देश-भक्ति के जँजाल में पड़ेगा और कौन आजकल की राज-भक्ति का शैदा, आसक्त न बनेगा? यह प्रकृति का नियम है कि मन सदैव उस ओर स्वतः ही खिंच जाता है जिधर कि उसे इस समय सुख-चैन दिखलायी देता है; परन्तु बुद्धिमान् लोग इस नियम पर नहीं चलते। वे क्षणिक लाभों का कुछ ख़याल न करते हुए कार्य के अन्तिम फल को विचार कर अपने मन का निग्रह करके उसे धोखा देने वाले सुखों की ओर नहीं जाने देते। चाहे सैकड़ों कष्ट उठाते हैं परन्तु करते हैं वही जिसका अन्तिम फल अच्छा हो; जिसमें देश और राज्य सबका भला होता हो।

राजा को, और राजा की खैरख्वाही चाहने वालों को, सम्पूर्ण प्रजा को, और प्रजा के शासनकर्त्ताओं को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि देश के भले में ही राज्य का भला है।

बहुधा लोगों का यह विचार है कि ये बातें उस अवस्था में ठीक नहीं कही जा सकती हैं जब कि गवर्नमेंट स्वदेशी हो, प्रजा के हित में राजा का हित और राजा के अहित में प्रजा का अहित समझा जाता हो। यह बात विदेशी

गवर्नमेंट में होती नहीं, इसलिए देश-भक्ति में राज-भक्ति नहीं दिखलायी जा सकती। दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध आकर पड़ते हैं, और, इसलिए एक पुरुष या तो राज-भक्त हो सकता है या देश-भक्त।

इसमें सन्देह नहीं कि आज-कल साधारणतः यही विचार फैला हुआ है और गवर्नमेंट भी इसी विचार पर कार्य कर रही है ; परन्तु हमारी सम्मति में दोनों भूल कर रहे है। गवर्नमेंट चाहे स्वदेशी हो चाहे विदेशी, उसका भला और उसकी उन्नति प्रजा की उन्नति में ही है। जब कि प्रजा ही नष्ट हो जायेगी तो एक विदेशी गवर्नमेंट को ही फिर क्या मिलेगा ? यदि भारतवर्ष इसी प्रकार गिरता चला गया और भारतवासियों के पास कुछ भी न रहा, सब के सब भूखों मरने लगे, तो क्या हमारी अंगरेज़ी सरकार उस अवस्था में भी अरबों रुपये हिन्दुस्तान से खींचकर समुद्र-पार इंग्लिस्तान में जा धरेगी ? रूस के एक राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था :

One who rules India, rules the whole world.

"जो भारत पर शासन करता है वह समस्त पृथ्वी पर शासन करता है।" क्या यह कहावत भारत का सत्यानाश हो जाने पर भी ठीक बनी रह सकती है ? कदापि नही। फिर यदि एक विदेशी गवर्नमेंट प्रजा के हित में अपना अहित और प्रजा के अहित में अपना हित समझे, तो क्या एक बड़ी भारी भूल नहीं करती ? पाठक स्वयं विचार लें।

शरीर कर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राजमपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥

अर्थात् "जिस प्रकार शरीर को बेजा दबाने से प्राण जाते रहते हैं, उसी प्रकार प्रजा का नाश होने से राजा का भी पता नहीं लगता।" यह सोचकर राजा का कर्तव्य है कि वह अपनी भूल को दूर करे और प्रत्येक प्रकार से राजा को ही प्रसन्न करने और राजा को ही लाभ पहुँचाने वालों को भी यह समझ रखना चाहिए कि सच्ची देश-भक्ति में ही सच्ची राज-भक्ति है और जो लोग इसके विरुद्ध आचरण करें, उनके धोखे से बचना गवर्नमेण्ट का काम है।

(आश्विन-कृष्ण ६, सं० १९६४)

२८

देश-भक्ति का धर्म

जो लोग शुद्ध मन से प्राणियों का परम कल्याण चाहते हैं, उनको उचित है कि वे उनको धर्म का उपदेश दें और उन्हें धर्म के मार्ग में लगावें। सुख का मूल धर्म ही है। मनुष्यों का परम धन धर्म ही है। संसार की समस्त सम्पत्ति और भोग-पदार्थ मिलकर मनुष्य को वह सुख नहीं दे सकते, जो धर्म देता है। जितने दुःख और क्लेश मनुष्य को सताते है, उनके लिए एक सिद्ध औषध धर्म ही है। काम, क्रोध और लोभ की विकराल ज्वाला में झुलसने से मनुष्य को धर्म ही बचाता है, उनसे उत्पन्न हुए दोष और पाप की यातना से मनुष्य की यही रक्षा करता है। काम की वह विषम ज्वाला जो बिना धूम के मनुष्यों को जलाती है, क्रोध का वह विकट बवंडर जो मनुष्य की बुद्धि को हर कर उससे न करने योग्य काम कराता है, लोभ की वह विकराल तृष्णा जो मनुष्य को मलिन से मलिन घृणा के योग्य स्थानों में घसीटती है, उस मनुष्य को क्लेश नहीं देते जो अपने धर्म को जानता और उसके आचरण में सदा सावधान रहता है। मनुष्यों पर, देश में व समाज में, जितनी विपत्तियाँ आती हैं उनका मूल-कारण धर्म से विमुख होना ही होता है। दीनता, दरिद्रता, कायरता, आपस में द्रोह, एक-दूसरे की डाह, दूसरों की वस्तु को भोगने की चाह, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि जो दोष, मनुष्यों की तथा समाज की शक्ति को घटाते और उनको दूसरों का दास बनाते हैं, वे सब धर्म से विमुख होने के परिणाम हैं। और जैसा धर्म से विमुख होने से इन सब दोषों में पड़, हम लोगों ने अपना राज-पाट, धन-धर्म गँवाया है, वैसा ही फिर धर्म के आचरण में दृढ़ होने से, और अभय, दम, शम, सत्य, तेज, धैर्य, अद्रोह, परस्पर प्रीति, संतोष आदि के उपार्जन करने ही से हम लोग देश और समाज का उद्धार कर, इन्हें अपने पुराने गौरव और विभव को पहुँचा सकते है। देश और समाज की दशा

सुधारने के लिए आजकल सहस्रों परोपकारी पुरुष जतन कर रहे हैं। हम लोग स्वयं भी अपनी अल्प शक्ति के अनुसार उस जतन में सहायता पहुँचाते हैं। किन्तु हम जानते हैं कि जब तक हमारे देश-बान्धवों के चित्त में कर्त्तव्य का ज्ञान दृढ़ रीति से नहीं जम जायगा तब तक उनकी दशा का सुधार, पहले तो ठीक-ठीक होना कठिन है; दूसरे यदि हो भी तो उसका स्थायी होना असम्भव है। और वह कर्त्तव्य का ज्ञान बिना धर्म का ज्ञान- और उसमें विश्वास हुए हो नहीं सकता। बिना धर्म में निष्ठा हुए जो लोग देश के हित वा किसी और उपकार के काम को करते हैं, वे प्रायः यश की लालसा से वा किसी और स्वार्थ के लोभ से करते हैं। और ऐसे लोग उन कामों में तब तक जतन करते हैं, जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध न हो। जहाँ अपना प्रयोजन सिद्ध हो गया, लोगों में नाम प्रसिद्ध हो गया और मान बढ़ गया, तहाँ उनका अभिमान बढ़ने लगता है, और परोपकार करने का उत्साह कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की कला के समान घटने लगता है। इसके अतिरिक्त ऐसे लोग किसी बड़े काम के करने में जो क्लेश और कठिनाइयाँ होती हैं, उन्हें देखकर भी उत्साह छोड़ बैठते हैं। किन्तु जिस मनुष्य को अपने धर्म में विश्वास है, और कर्तव्य का ज्ञान है, जो धर्म-बुद्धि से प्राणियों के हित-साधन तथा देश और समाज की दशा के सुधार के लिए जतन करता है, वह बिना उस उद्देश्य के सिद्ध हुए कभी उस काम से विरक्त नहीं होता। कितने ही संकट और विघ्न उसके मार्ग में क्यों न आवें, कितने ही शारीरिक-मानसिक क्लेश, समय और धन की हानि उसको क्यों न सहनी पड़े, वह अपने कर्तव्य से मुख नहीं मोड़ता। कोई स्तुति करे या निन्दा, लाभ हो वा हानि, सुख हो वा दुःख ; वह जिस काम का करना अपना धर्म समझता है उसके करने में यथाशक्ति जतन करता ही जाता है; बार-बार परिश्रम विफल होने पर भी वह धीरता और उत्साह को नहीं छोड़ता। क्योंकि वह जानता है कि उसको कर्तव्य कर्म करने ही मात्र का अधिकार है, उसका फल पाना या न पाना उसके अधीन नहीं है। ऐसे-ऐसे धर्मशील पुरुष न अपने से अधिक गुण वालों से डाह करते, न अपने से कम गुणवालों का अपमान, न अपने समान गुण के लोगों की स्पर्धा करते हैं; सबके साथ शुद्ध प्रीति और बन्धुता से वर्तते, सबके हित के लिए परिश्रम करते हैं। ऐसे पुण्यात्मा जनों से पूर्व-समय में जगत् का उपकार हुआ है और ऐसे ही लोगों से इस समय में भी देश का उद्धार होगा। योरुप और अमेरिका में भी जो देश के बड़े-बड़े हितकारी और प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं, जिन लोगों ने धर्म का उद्धार और संशोधन किया है, वा जिन्होंने अन्यायियों को हरा कर युद्ध से देश की स्वतंत्रता और कीर्ति बढ़ायी है, वे भी प्रायः ऐसे ही

पुरुष थे। जर्मनी में ल्यूथर, इंग्लैंड में नेलसन और क्रामवेल, फ्रांस में नेपोलियन, अमेरिका में वाशिंगटन, इटली में मेज़िनी, गैरीबाल्डी आदि इसी श्रेणी के पुरुष थे, जो कर्तव्य के करने में बड़े दृढ़ थे, जिसके कारण आज तक जगत् में उनके नाम का सम्मान बना है।

हमको यह लिखते अत्यन्त खेद होता है कि हमारे देश में धर्म और कर्तव्य की दृढ़ बुद्धि से देश व समाज के हित के लिए जतन करने वाले पुरुषों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है, और यही कारण है कि यद्यपि देश-हित की चर्चा बहुत सुन पड़ती है, तथापि उतना कार्य होता नही दिखता। लोग सभा-कमेटी करने के उत्साह में आकर बड़े-बड़े कामों को प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु चार ही दिन में उनका सब उत्साह और श्रद्धा ज्वर के वेग के समान घट जाती है। पिछले तीस वर्षों में यहाँ सैकड़ों सभा-समाजें स्थापित हुई, जिनकी स्थापना के समय बड़ा प्रचंड उत्साह प्रगट किया गया था और जिनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ की गई थीं ; किन्तु कोई दो महीने में और कोई दो बरस तक जी कर मर मिटीं। दो-चार सभाओं में मेम्बर कुछ उत्साह से आये, उसके पीछे उनका सब उत्साह न जाने किस लोक में चला गया। विदेशी लोग हमारी इस आरम्भ-शूरता पर हँसते हैं, विद्वान् देश-हितैषी करुणा करते है; किन्तु यह तब तक दूर न होगी जब तक हमारे देश-बान्धवों को अपने धर्म का ज्ञान और उसमें दृढ़ विश्वास न होगा। अतः इसके लिए जतन करना सब सच्चे देश-हितैषियों का परम धर्म है।

(आश्विन-शुक्ल ४, सं० १९६४)

२६
राज-विद्रोही सभा-सम्बन्धी बिल

जो लोग यह चाहते हैं कि गवर्नमेंट और प्रजा में प्रीति का भाव बढ़े, और उससे गवर्नमेंट को सुजस और प्रजा को सुख प्राप्त हो, उनको यह देखकर बहुत दुःख होता है कि गवर्नमेंट आफ इण्डिया अब तक उसी बुरी नीति पर चला चाहती है जिसको उसने किसी दूष्य ग्रह के प्रभाव में पड़ मई महीने में ग्रहण किया था। जब हम श्रीमान् वाइसराय की उस स्पीच का स्मरण करते हैं जिसको उन्होंने २७ मार्च को बजट पर विवाद के समय दिया था और जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों की ऊँची अभिलाषाओं के साथ सहानुभूति प्रकाश की थी, और पिछले छः महीनों की प्रजा को दबाने की गवर्नमेंट की उग्र नीति का ध्यान करते हैं, तो हम गवर्नमेंट और प्रजा को उस परिवर्तन पर बधाई नहीं दे सकते जो इस बीच में हुआ है। उस समय समस्त देश में विचारवान् लोग गवर्नमेंट के साथ सहानुभूति रखते थे और समझते थे कि जिन सुधारों की आशा श्रीमान् वाइसराय की स्पीच से हुई थी, उनसे प्रजा में सन्तोष फैलेगा। और प्रजा-राजा में जो सद्भाव होना चाहिए, वह बढ़ेगा—हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक कोई ऐसी घटनाएँ नहीं हुई थी, जिनसे यह कहा जा सकता कि प्रजा के किसी दल में राज-विद्रोह फैल रहा है। पंजाब में पंजाबी समाचार-पत्र पर जो मुकदमा चलाया गया था और जो उसके स्वामी तथा सम्पादक को बहुत कड़ी सज़ा दी गई थी, उससे लोगों में अप्रसन्नता अवश्य फैली थी। किन्तु उसका कारण स्पष्ट था और उसका प्रभाव नियमित था। कोई नया साधारण कारण अप्रसन्नता फैलाने का उस समय नहीं हुआ था। पूर्वी बंगाल में जो कुछ आन्दोलन जारी था, उसके भी कारण विशेष और स्पष्ट थे। वहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता था कि प्रजा के किसी दल में राज-विद्रोह फैल रहा था। इसी समय पंजाब की गवर्नमेंट ने वहाँ की प्रजा के

प्रतिनिधियों की राय के विरुद्ध कॉलोनाइज़ेशन बिल पास करके एवं रावलपिंडी में मालगुजारी बढ़ाने का प्रस्ताव करके ज़िले की प्रजा में जो भयंकर घबराहट और असन्तोष फैलाया, उस विषय में आन्दोलन होना स्वाभाविक था। गवर्नमेंट ने पीछे अपने प्रस्तावों को त्याग कर यह स्वीकार किया कि उससे भूल हुई थी, और अब गवर्नमेंट को इस बात के कहने का मुँह नहीं है कि रावलपिंडी में आन्दोलन होने का उचित कारण न था। गवर्नमेंट के लिए प्रशंसा की बात यह होती कि वह इस बात को समझकर प्रजा को कुछ दोष न देती। यह न करके गवर्नमेंट ने भ्रम और घबड़ाहट में पड़कर लाला लाजपतराय को देश से निकाल दिया और मई में सभाओं के रोकने का आज्ञापत्र जारी किया। हम लोगों ने उस समय भी यह कहा था कि गवर्नमेंट ने यह बड़ी भूल और बड़ा अन्याय किया है कि प्रजा को अपने मन के भावों को प्रकाश करने की स्वच्छन्दता में रोक पहुँचायी है। पिछले छः महीनों में समाचारपत्र, सभा और कान्फ्रेंसों में हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों ने जो भाव प्रकाश किये है उनसे तथा और-और द्वारों से भी गवर्नमेंट को यह मालूम हो गया होगा कि प्रजा को दबाने की जो उग्र नीति उसने अवलम्बन की, उससे धीर और विवेकी हिन्दुस्तानियों में भी बहुत अप्रसन्नता और क्रोध फैला है। गवर्नमेंट को यह भी मालूम हो गया होगा कि उसकी उग्र नीति निष्फल हुई है। उसके कारण लोग न सभा-कमेटियों के करने से रुके है, न उनके विचारों में बहुत कोमलता आई है। सर हार्वी ऐडम्सन ने १८ अक्तूबर को वाइसराय की कौंसिल में [illegible] सभा-सम्बन्धी बिल उपस्थित करने के समय जो वक्तृता दी, उसमें उन्होने इस बात को स्वीकार किया है कि गवर्नमेंट की उग्र नीति अब तक सफल नहीं हुई। हमारी समझ में वह नीति निष्फल ही नहीं हुई, अपितु उसका फल विषमय हुआ है। एक साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी, जो समाचारपत्रों को पढ़ता है या प्रजागण की निज की बातों को सुनता है, यह कह सकता है कि जब से गवर्नमेंट ने प्रजा में अपने विरुद्ध विचारों का प्रसार रोकने के लिए उग्र नीति का अवलम्बन किया है, तब से दिन-दिन बढ़ती संख्या के लोगों का भाव गवर्नमेंट की ओर से कड़वा होता जाता है। उग्र औषध के समान उग्र नीति का प्रायः यह परिणाम होता है कि या तो वह उस रोग को दाब देती है जिसके निर्मूल करने के लिए उसका प्रयोग किया गया हो; या जहाँ रोग उग्र नहीं हैं, वहाँ वह, जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में, वैसे ही प्रजा-समूह में विष फैला देती है, और रोग को दूर करने के स्थान में उसकी जन्म देने वाली और पोषक बन जाती है।

यह आशा करने की बात थी कि गवर्नमेंट के ऊँचे अधिकारी इस बात को

समझ गए होंगे और छः महीने का वह समय बीतने पर, जिसके लिए मई का सभाओं के रोकने का आज्ञापत्र जारी किया था, उसको नया जीवन न देंगे। किन्तु हम को यह देखकर बहुत दुःख होता है कि गवर्नमेंट की बुद्धि पर अब तक किसी क्रूर ग्रह की छाया पड़ी हुई है, जो उसको अपना हित-अनहित नही समझने देती और उससे अपने-आप से शत्रुता करा रही है।

(कार्तिक-कृष्ण ४, सं० १९६४)

३०

स्वराज्य की कल्पना

समय के हेर-फेर से बहुत-सी बातें बदल गई हैं। भारतवासी इतने हत-वीर्य हो गए हैं कि उन्हें अपने प्राचीन गौरव, प्रतिष्ठा और मर्यादा का बिल्कुल ध्यान नहीं है। पहले हमारे देश की राजपद्धति क्या थी और सामाजिक व व्यावहारिक ज्ञान में हम कितने ऊँचे थे, वे इस बात को अब बिल्कुल भूल गए हैं। परन्तु उनके प्राचीन धर्मग्रंथ उनकी सभ्यता, ज्ञान और राजनैतिक कार्यक्रम से भरे पड़े हैं। जब उनको उठाकर देखा जाता है तब विदेशी विद्वानों की आँखें खुल जाती हैं। बहुत-से दुराग्रही और हठी लोग जो यह कह बैठते हैं कि भारत-वासियों को स्वराज्य की कभी कल्पना ही उत्पन्न नहीं हुई, इस बात का ज्ञान उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के ज्ञान के साथ ही साथ सीखा है, उनके अवलोकनार्थ वैदिक ग्रंथों के कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं जिनको देखकर विवेकी पुरुष इस को भली भाँति जान सकते हैं कि भारतवासियों में स्वराज्य की कल्पना नयी नहीं, वरन् बहुत प्राचीन समय की है।

१—शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के एक मंत्र का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया गया है कि राजा के अधिकार अनियंत्रित और अनियमित न होने चाहिए, इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि राजा कभी स्वतन्त्र न रहे। उसे प्रजा से मिलकर उसके सुख के लिए उसी के अनुकूल कार्य करना चाहिए। स्वराज्य का तात्पर्य भी यही है कि प्रजा की इच्छानुकूल देश का शासन सुखकारी हो

२—वेद के मंत्रों में बहुत-से स्थलों पर इसका प्रतिपादन किया गया है कि राजा को प्रजा की मनोवृत्ति को आकर्षित करना चाहिए जिसके कारण राजा कभी पदच्युत न हो सके। इसका तात्पर्य यही है कि यदि राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न नहीं रख सकता, तो वह पदच्युत कर दिया जाया करता था।

अर्थात् प्रजा को इस बात का अधिकार था कि यदि राजा हमारी मनोवृत्ति को समझ न सके, हमारे सुख के लिए हमें साधन इकट्ठा न कर दे, तो हम ऐसे अनधिकारी राजा को राज-पद से च्युत कर दें। पश्चिमी सभ्यता-युक्त स्वराज्य की पूरी-पूरी झलक इस वेद-वाक्य से पायी जाती है। प्रजा की स्वतंत्रता और राजा को स्वतः अपने कर्तव्य कर्म पर दृढ़ रहने का इससे अधिक क्या प्रमाण चाहिए !

वेदों में ऐसे भी बहुत-से मंत्र हैं जिनमें इस बात का विवरण स्पष्ट रूप से दिया है कि राजा को अपना सारा कार्य अपने मंत्रि-मंडल की सहायता से करना चाहिए और मत्रिमंडल प्रजा की इच्छानुसार नियत हो। ऐसा करने से कभी राजा और प्रजा में द्वेष उत्पन्न नहीं हो सकता। इस पर से यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन समय में भारत में राज्य-पद्धति उसी ढंग की थी जिस प्रकार आजकल योरुप और अमेरिका में स्वराज्य का ढंग है। अगर भारत-वासियों की स्वराज्य की कल्पना नवीन होती, तो उनके धर्मग्रंथों में इस तरह के प्रमाणों का पता कभी न चलता। आर्य लोग सदैव नियमित कार्य करते थे। उनके प्राचीन ग्रंथों मे जिन बातों का उल्लेख है, वे सब नियम-बद्ध हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय और पूजा-पाठ इत्यादि सब बातों के लिए उन्होंने नियम बना रक्खे थे, फिर भला वे पद्धति को अनियमित रूप से कब चलने देते !

४—प्रजा का मनोरंजन करने से ही राजा की पदवी प्राप्त होती थी—बहुत-से वेद-वाक्यों में इस बात का विवरण दिया हुआ है।

५—लोक-मत का ध्यान रखने से ही सारी प्रजा राजा का अनुकरण करती है—इस प्रकार के मंत्रों पर से पाया जाता है कि राजा का अधिकार प्रजा के मतानुसार मर्यादानुकूल होता था।

६—सामान्य सभा से विशिष्ट सभा और विशिष्ट सभा से उच्च सभा तैयार होती थी। इस पर से इस बात का पता चलता है कि सभासदों को मनमाने तौर पर नियुक्त करने का राजा को अधिकार न था। नियमानुसार प्रजा की सम्मति से सभासदों का चुनाव उस समय होता था।

७—राजा के यहाँ तीन प्रकार की सभाओं का वर्णन वेद-मंत्रों में साक्षात् और आलंकारिक रूप से पाया जाता है जिस पर से यह बात सिद्ध है कि सभा-तन्त्री राज्य-व्यवस्था द्वारा आर्य लोग देश का शासन करते थे।

८—सभासदों को अपना मत स्पष्ट रूप से राजा पर प्रगट करने का अधिकार है—इस प्रकार के मंत्रों का वेदों में स्पष्ट विधान है।

९—विद्या और कला-कौशल की उन्नति सभा की अनुमति से राजा को अपने राज्य में करनी चाहिए—इस प्रकार का तात्पर्य भी वेद-मंत्रों से प्रगट होता है।

१०—राजा को अपने तईं लोक द्वारा नियुक्त अथवा लोक द्वारा सम्मत मानना चाहिए, इस विषय का भी वेद-मत्रों में विधान है।

इन सब बातों पर से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि वैदिक काल में आर्य लोगों का स्वराज्य से क्या मतलब था और इस पर से यह भी बात स्पष्ट है कि स्वराज्य की कल्पना आर्य लोगों को यूरोप के लोगों की देखा-देखी नही उत्पन्न हुई, वरन् यूरोपवासियों ने स्वराज्य करने की पद्धति को इसी देश से जाना और सीखा। मनु महाराज ने राज-प्रकरणों में जितना उपदेश दिया है वह सब स्वराज्य-सम्बन्धी है। उसमें सभासदों को नियुक्त करने का विधान, राजा के अधिकार, मंत्रिमंडल की मर्यादा इत्यादि सब बातों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। हम नही समझते कि मिस्टर मार्ली, मिंटो और जाक्सन इत्यादि के कथनानुसार लोक-नियत्रित राजसत्ता से भारतवासी अपरिचित हैं और इस बात की नाहक हठ करते है। भारतवासियों को स्वराज्य देना अथवा न देना यह तो उनकी इच्छा और भारतवासियो की शक्ति पर अवलम्बित है; परन्तु यह कहना कि वे लोग स्वराज्य से ही अपरिचित है, उनको स्वराज्य के अधिकार देना निरुपयोगी है, कितनी बड़ी भूल है ! भारतवासियों में चाहे अभी स्वराज्य करने की योग्यता हो अथवा न हो, परन्तु उनके पूर्वज स्वराज्य के नियमों से ही परिचित न थे वरन् वे स्वराज्य-रूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हुए सारे संसार में सबसे अधिक श्रेष्ठ और विद्वान् गिने जाते थे। आज उन्हीं की सन्तान को कहा जाता है कि वे स्वराज्य के योग्य नहीं हैं ! उनको स्वराज्य देना निपरुयोगी है ! यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है ! अब भी यदि भारतवासी अपने पूर्वजों का अनुकरण करके सारे संसार को यह बात करके न दिखला दें कि वे स्वराज्य के कहाँ तक अधिकारी है तो उनके लिए यह बात बड़ी लज्जा की है। ब्रिटिश लोग चाहे समझते हों अथवा न समझते हों, परन्तु योग्यता और अयोग्यता की परीक्षा तो समय पर ही होती है। जिस काम पर भारतवासियों को नियुक्त किया गया, उस काम को करने से वे कभी विमुख न हुए। यथासाध्य उन्होंने कार्य को पूरा ही करके छोड़ा। सरकारी सेना-विभाग में जो कुशलता देश के वीर सिपाहियों ने दिखलायी थी, क्या वह किसी पर अप्रगट है !

अब फिर भारतवासियों में स्वराज्य की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ है। ईश्वर यदि इनकी इस जागृति को बनाये रक्खे और ब्रिटिश सरकार का अनुग्रह और कृपा इन पर बनी रहे, तो एक समय ऐसा आयेगा जब इनको स्वराज्य के अधिकार अवश्य प्राप्त होंगे।

(मार्गशीर्ष-कृष्ण २, सं० १९६४)

३१
राष्ट्र-निर्माण

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अर्थात् 'अपना उद्धार अपने-आप करे, अपने को नीचे न गिरावे, मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र भी है और अपना शत्रु भी है'—इस वाक्य के अनुसार हम लोगों की आजकल जो अधोगति हुई है वह हमारे ही दोषों और पापों से हुई है और हमारी उन्नति तभी होगी, जब हम अपने उद्धार के लिए स्वयं यत्न करेंगे। यदि हम लोग अपने आपस में लड़कर परपक्ष में न जाते तो हमारा देश हमारे हाथ से न जाता और यदि हम अपने व्यवसाय और शिल्प में बराबर उन्नति करते जाते, तो वह आज नष्टप्राय न होता। हम लोग पुरानी लीक पीटते गए और विदेशी लोग शिल्प में नये-नये आविष्कारों को करने लगे जिनके द्वारा उनका माल सस्ता और अच्छा बनने लगा और उस माल के सामने हमारा महँगा देशी माल न ठहर सका। हम लोग विश्वस्त हो सो रहे, हमने इस बात पर कुछ भी ध्यान न दिया कि क्रम-क्रम से हम लोगों की कितनी हानि हो रही है और हम देखते हैं कि स्वप्नावस्था में हम कितने नीचे गिर गए हैं और हमको इस बात की प्रबल आकांक्षा हो रही है कि हम फिर एक बड़ी और प्रबल जाति बनकर एक विशाल राष्ट्र-रूपी भवन का निर्माण करें।

जब कोई मनुष्य मकान बनाता है तो पहले वह अपने चित्त में उसका चित्र बनाता है, फिर उसको कागज में खींचता है और कारीगरों को दिखाकर उन्हें समझाता है। उनको उसे बनाने के लिए आज्ञा देता है और उसको बनाने की सामग्री एकत्रित कर देता है। इसी प्रकार राष्ट्र भी बनता है। जब परमेश्वर की यह इच्छा होती है कि कोई गिरी और बिखरी हुई जाति फिर एक

राष्ट्र हो जाय, तो उस जाति में ऐसे लोग उत्पन्न होने लगते हैं जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपने देश की उन्नति करना रहता है और इसके लिए वे अपनी हानि-लाभ और सुख-दुःख पर कुछ भी ध्यान नहीं देते। ऐसे लोगों का जन्म देश के भावी अभ्युदय को उसी प्रकार सूचित करता है जैसे कि अरुणोदय सूर्योदय को। ऐसे ही लोगों के चित्त में पहले-पहल राष्ट्रीय भवन का स्वप्न होता है और वे उस भवन का चित्र बनाकर उसे अपने व्याख्यानों और लेखों द्वारा सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित करते हैं और उस भवन को बनाने में जिस शक्ति और जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, उसको वे अपने व्याख्यानों और लेखों के द्वारा उत्पन्न करते है। यह बड़ी सन्तोषदायक और आशाजनक बात है कि हमारे देश-हितैषी और मननशील वाग्मियों के चित्त में उस भवन को बनाने का स्वप्न हो गया है और अब वे उसे अपने लेखों और व्याख्यानों के द्वारा हम लोगों को बता रहे है और चित्र को समझा रहे है। अब सर्वसाधारण का कर्तव्य और धर्म है कि वे उस भवन को बनाने में यथाशक्ति सहायता दें।

कुछ लोगों का यह मत है कि भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न भाषाएँ और अगणित जाति-भेद हैं। ब्रिटिश राज्य के पहले एक जाति दूसरी जाति से लड़ती थी और एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त के लोगों से लड़ते थे। अब भी प्रायः आर्यसमाजी सनातनधर्मावलम्बियों से लड़ते हैं और सनातन-धर्म वाले आर्यसमाज वालों से। ऐसी दशा में एक राष्ट्र बनाना असम्भव है। पर यदि हम और देशों के इतिहासों को देखें तो हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा। इटली और जर्मनी कभी एक राष्ट्र नही थे। उनके अन्तर्गत जो भिन्न-भिन्न प्रान्त थे, वे अपने आपस में लड़ते रहते थे। इटली में टसकनी और नेपल्स तथा जर्मनी में हैनोवर और प्रशा के रहने वालों में आपस में कितना विरोध था? किन्तु अब भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विरोध के बदले परस्पर मित्र-भाव उत्पन्न हो रहा है। भारतवर्ष की तरह वहाँ भी मत-मतान्तर थे। यहाँ मत-भेद वाद-विवाद में समाप्त हो जाता है, वहाँ उसमें लोगों के प्राण जाते थे। मेरी ने प्रोटेस्टेंटों को जलाया, एलिज़ाबेथ और क्राम-वेल ने रोमन कैथोलिकों को मारा। लूई ने ह्यूगेनाट्स को मारा और निर्वासित किया। पर वे सब देश एक राष्ट्र हो गए हैं और जब कोई जातीय विपत्ति उपस्थित होती है, तब सब एकत्र हो उसे हटाने के निमित्त अपने प्राणों को समर्पण करने के लिए उद्यत हो जाते है।

मत-मतान्तरों से तथा अन्य कारणों से बिखरे हुए लोगों को एकत्रित करने के लिए एक ही उद्देश्य का होना और एक ही क्लेश से पीड़ित होना बड़े भारी

बन्धन हैं। ये दोनों बातें हमारे देश में वर्तमान हैं। सब प्रान्त वालों का उद्देश्य स्वराज्य, अर्थात् प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा शासन है और सब प्रान्त वाले एक ही क्लेश अर्थात् वर्तमान शासन-प्रणाली के दोषों से क्लेशित हैं।

इन सब बातों को सोचने से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हमारा देश फिर एक राष्ट्र हो सकता है। हमारे पास जैसी सामग्री है, वैसी किसी देश में नहीं है। हमारे देश में बुद्धिमानों की कमी नही। सिक्ख, राजपूत और गोरखा जैसे योद्धा हमारे यहाँ वर्तमान हैं। त्याग और दान के लिए तो हमारा देश प्रसिद्ध ही है। यहाँ के किसान और मज़दूर लोग इतने परिश्रमी और अल्प-व्यय से अपना जीवन-निर्वाह करने वाले हैं कि उनको देखकर विदेशी लोग चकित हो जाते हैं और उनको अपने देशों में बसने और रोज़गार करने से रोकने के लिए क़ानून जारी करते है। यहाँ के समान उपजाऊ भूमि भी कही नही है। पर इन सब साधनों का कृपण और व्यसनी धनी के धन के समान दुरुपयोग हो रहा है। और इसी से हमारा जातीय बल इतना कम है। कारण यह है कि हम मे उद्यम, ऐक्य, साहस और अध्यवसाय नही है। यदि हमारी जाति में ये गुण आ जायँ तो हमारी शक्ति अपार हो जायगी। अब मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि ये गुण हमारी जाति मे आ जायँ और हमारे चित्त में इस बात की प्रबल अभिलाषा उत्पन्न हो जाय कि हम लोग जैसे हो वैसे अपने देश को फिर उन्नति के शिखर पर पहुँचा दें; क्योंकि सब काम अभिलाषा ही से आरम्भ होते हैं। हमारी अभिलाषा इतनी बढ़नी चाहिए कि वह एक प्रकार का व्यसन हो जाय।

इस अभिलाषा और इन गुणों का हमारी जाति में समावेश करना लेखकों और व्याख्यानदाताओं का कर्तव्य है। जब देशोन्नति का कार्य हमारे लिए एक व्यसन-सा हो जायगा, तो हम उसके अर्थ त्याग को स्वीकार करने के लिए भी उद्यत हो जायँगे। पहले लोग आपत्तियों को सहने में हिचकिचायँगे, पर ज्यों-ज्यों उनका व्यसन बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों वे आपत्तियों को सहने और कष्ट उठाने के लिए भी उद्यत होंगे; क्योंकि व्यसनी पुरुष आरम्भ में व्यसन करने में हिचकता है और उसके लिए थोड़ा ही व्यय करता और कष्ट उठाता है; पर ज्यों-ज्यों उसका व्यसन पुराना होता जाता है, त्यों-त्यों वह उसमें व्यय भी अधिक करता है और क्लेश भी सहता है और यद्यपि वह जानता है कि वही व्यसन उसके प्राण का ग्राहक हो जायेगा तो भी वह उसे नहीं छोड़ता। इसी प्रकार जब हमारा देशोन्नति का व्यसन इतना बढ़ जायगा और हमारी अभिलाषा इतनी प्रबल होगी कि उसकी अपूर्ति क्लेशकर विदित होने लगेगी, तब

अभिलषित अर्थ की प्राप्ति के लिए उद्यम उत्पन्न होगा; अभिलाषा की अपूर्ति से इतना क्लेश होगा कि निरुद्यम और आलस्य, जो प्रायः लोगों को सुखकर जान पड़ते हैं, वे दुःसाध्य मालूम होंगे। तभी हमारी बातें भी सुनी जायँगी और देश एक राष्ट्र बन जायगा।

(मार्गशीर्ष-कृष्ण ६, सं० १९६४)

जयतु जयतु विश्वनाथः।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

मदन मोहन मालवीय।

महामना की हस्तलिपि में 'अभ्युदय' का आदर्श वचन

३२
हमारी शिक्षा

विद्याविहीनः पशुः

भारतवर्ष का एक वह समय था कि यहाँ ऊँच-नीच सब लोग विद्वान्, कला-कौशल में निपुण, उद्योगी, साहसी और धार्मिक हुआ करते थे। यह बात बहुत प्राचीन समय की नहीं है। अभी महाराजा भोज के समय तक इस देश की यह दशा बनी रही। महाराजा भोज के दरबार में यदि कोई एक नवीन श्लोक बनाकर ले जाता था तो वे उसे एक लाख मुद्रा बतौर इनाम देते थे। उसी भारत की अब ऐसी शोचनीय दशा हो गई है कि नीच जातियों में विद्या-प्रचार के लिए क्या कहा जाय, उच्च जातियों में भी विद्या का अभाव है। इसका कारण हमारी सरकार की उदासीनता और सर्वसाधारण का उसकी ओर उचित ध्यान न देना ही है। भारत सरकार हमारी शिक्षा के लिए क्या व्यय करती है, इसे सुनकर पाठकों को चकित और दुःखित होना पड़ेगा। सरकार इस देश में शिक्षा-प्रचार के लिए एक आना के लगभग प्रति व्यक्ति व्यय करती है। जिन देशवासियों से सरकार एक अरब से कुछ अधिक धन वार्षिक वसूल करती है, उनकी शिक्षा के लिए इतना कम खर्च करना न्याय है अथवा अन्याय, इसे हमारे पाठकगण स्वयं सोच लें। यह तो हुई सरकार की बात; परन्तु स्वयं इस देश के राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, धनी लोग जो अपना समय सुखपूर्वक आनन्द से व्यतीत करते हैं, वे अपने देशवासियों की शिक्षा का कहाँ तक उपाय करते हैं? भाँति-भाँति के विषय-भोग अथवा अपनी शान-शौक़त के लिए वे चाहे जितना धन फूंक दें, परन्तु अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए आवश्यक धन खर्च करना उनको अत्यन्त अखरता है। हमें इस समय एक उदाहरण याद आ गया। हमारे पड़ौस में एक सेठजी रहते थे। सेठ की सम्पत्ति एक लाख के अनुमान से कही जाती थी। उनके एक पुत्र था, वह बहुधा हमारे पास आया-जाया करता

था। और हमसे पढ़ने को समाचार-पत्र और पुस्तकें माँग ले जाता था। धीरे-धीरे उसे लिखने-पढ़ने का व्यसन हो गया। अब उसकी इच्छा हुई कि कुछ पुस्तकें अथवा अखबार मैं भी मँगाऊँ; परन्तु उसका पिता इस बात को सुनकर बड़ा ही क्रोधित होता और इस काम के लिए उसे एक पैसा न देता। यदि कहीं मेला अथवा तमाशा होता, तो उसे दस-दस, बीस-बीस रुपये निकालकर दे देता और मेला अथवा तमाशे में जाने को बहुत ही आग्रह करता। यदि उस धन में से वह लड़का कुछ बचाकर पुस्तकें मँगाता और उसका पिता इस बात को जान पाता, तो वह उसे खूब ही पीटता। यह दुर्दशा देखकर उसने छिपकर अपने एक मित्र के नाम से पुस्तकें मँगाना प्रारम्भ किया और उसके पास से वे किताबें ले आता और अपने घर पर यह प्रगट करता कि अमुक से मैं पुस्तकें माँगकर ले आया हूँ। पाठकगण! सुना आपने, इस देश के धनी लोगो में शिक्षा के उत्साह का हाल? इस प्रकार की बातों को जानकर भी लोग केवल ब्रिटिश सरकार के सिर पर ही शिक्षा की कमी का अपराध मढ़ते हैं। यह बात हम स्वीकार करते हैं कि सरकार हमारे शिक्षा के कामों में अब तक जितना चाहिए उससे बहुत-बहुत कम व्यय करती है; परन्तु सरकार से अधिक उदासीन हम है, जिनको शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। क्या हम स्वयं अपनी शिक्षा का कुछ भी प्रबन्ध नहीं कर सकते? सरकार जब कोई नया टैक्स हमारे सिर पर मढ़ देती है, या हर तीस-तीस वर्ष बाद मालगुज़ारी बढ़ा देती है तो हम वह धन, प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से, किसी न किसी प्रकार देते जरूर हैं। हम क्यों देते हैं? सरकार ज़बरदस्त है; अगर हम प्रसन्नतापूर्वक टैक्स न दें तो सरकार तो उसे वसूल कर ही लेती है। यदि हम देश में शिक्षा-प्रचार के लिए अपने ऊपर टैक्स लगा लें और उसे नियमित रूप से शिक्षा-प्रचार के काम में लगाते जावें, तो क्या हमारी शिक्षा में उन्नति नहीं हो सकती? जो लोग व्याख्यान देकर अथवा लेखनी को वृथा ही कष्ट पहुँचाकर दूसरों की निन्दा करने में ही अपना अभीष्ट कार्य पूरा हुआ समझते हैं, उन्हें यह बात अवश्य सोचनी चाहिए। इटली देश के उद्धारक महात्मा मेज़िनी के जीवन-चरित में एक स्थान पर लिखा है कि जब वह देश-विद्रोहियों के भय से इंग्लैंड चले गए, तो वहाँ उन्होंने देखा कि यहाँ के धनी लोग इटली के बालकों को मोल ले आते हैं और उन्हें कुछ थोड़ा-बहुत गाना-बजाना सिखाकर उनसे भीख मँगवाकर अपने उदर की पूर्ति करते हैं; तो अपने देश के बालकों की यह दशा देख उनको बहुत ही अधिक सन्ताप हुआ। परन्तु वह बेचारा वहाँ करता क्या? उसके व्याख्यानों अथवा उसकी पुकार को वहाँ कौन सुनने वाला था? अन्त में उसने यह उपाय सोचा कि अगर बालकों को

शिक्षा दी जाय तो इनको गुलामी के कष्ट और अवगुण का स्वतः ज्ञान हो जायगा। अगर मीठा देने से मरे तो विष न देना चाहिए, इस कहावत को ही उसने मानो उस समय अपना लक्ष्य बनाया। उन बालकों को शिक्षा देने के लिए उसने न तो किसी से भीख माँगी, न चन्दा इकट्ठा किया; वरन् जो धन वह स्वयं अपने परिश्रम से कमाता था, उसी में से कुछ बचाकर उसने एक मकान किराये पर लिया और उन बालकों को छिपकर शिक्षा देता। दिन-भर वे बालक अपने मालिकों के लिए भीख माँगते और रात्रि को वहाँ पढ़ते। धीरे-धीरे जब उनको ज्ञान हुआ, तब उन्होंने गुलामी के बंधन को समझा और उन्होंने अपने मालिकों से, जो उनसे भीख मँगाते थे, साफ़-साफ़ कह दिया कि हम आपके लिए भीख माँगकर नहीं ला सकते। किसी मनुष्य को यह अधिकार नही है कि वह किसी को भीख माँगकर ला देने के लिए मजबूर करे। अन्त में उन बालकों ने अपने मालिकों से सम्बन्ध त्याग दिया और मेज़िनी की आज्ञानुसार वे इटली की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राण-विसर्जन के करने के हेतु स्वदेश की ओर रवाना हुए। उन बालकों को गुलामी के बंधन से मुक्त करने में न तो मेज़िनी को किसी से लड़ना पड़ा, न वाक्-युद्ध ही करना पड़ा। केवल उनमें विद्या-ज्ञान का अंकुर उत्पन्न कर देना ही उसने काफी समझा। बस, एक ही उद्योग से उसका कार्य सिद्ध हो गया। क्या हम लोग, जो स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं और स्वराज्य पाने की इच्छा रखते हैं, थोड़ा-सा स्वार्थ-त्याग करके देश में विद्या का प्रचार करने का साहस नही कर सकते ! अगर ग्राम-ग्राम में नहीं तो हरएक ज़िले में चार-पाँच जातीय पाठशालाएँ स्थापित करके वे व्याख्याता, जिनको शहर के प्रकाश के सिवाय उस अन्धकार में जाने का कभी अवसर ही नही प्राप्त हुआ, वहाँ जाकर उन्हें विद्या-रूपी सूर्य से स्वराज्य का प्रकाश फैलाना चाहिए। व्यर्थ की निन्दा अथवा बकवाद मे न तो किसी देश का कल्याण हुआ है, न हो सकता है।

(मार्गशीर्ष-कृष्ण ६, सं० १९६४)

३३

स्वदेश-भक्ति

नैपोलियन के समय इंग्लैड ग्रौर फ्रांस में, बहुत ही भयंकर वैर-भाव उत्पन्न हो गया था। नैपोलियन ग्रपने जहाज़ों को लेकर कब इंग्लैंड पर चढ़ाई कर देगा, इस बात की इंग्लैड-वासियों को सदैव चिन्ता बनी रहती थी। ग्रतएव नैपोलियन पर देख-रेख रखने के लिए इंगलिश चैनल में ऐडमिरल कालिंगवुड नियत किये गए। कालिंगवुड बहुत बड़े सज्जन गृहस्थ थे। फ्रेलगार की भयंकर लड़ाई में, जिसमें वीर पुरुष नेलसन ने बहुत बड़ा नाम पाया था, कालिंगवुड भी उसी की बराबरी ग्रौर योग्यता का पुरुष था। परन्तु इतना बड़ा वीर ग्रौर फौजी ग्रफसर होने पर भी, वह बहुत ही शान्त ग्रौर मिलनसार था। उसकी ज़िन्दगी का बहुत-सा हिस्सा समुद्र के किनारे पर ही व्यतीत हुग्रा। ग्रपने कुटुम्बियों, ग्रपनी स्त्री ग्रौर ग्रपने बाल-बच्चों से मिलने-जुलने का उसे बहुत ही कम ग्रवसर मिलता था। परन्तु ग्रपने स्नेहियों ग्रौर कुटुम्बियों से न मिलने के दुःख को वह स्वदेश-सेवा के निमित्त बड़े उत्साह ग्रौर धैर्य के साथ सहन करता था। परन्तु कभी-कभी इस पराधीनता के कारण उसका चित्त बहुत-ही खिन्न हो जाता। इंग्लैड ग्रौर फ्रांस के बीच समुद्र के किनारे, ग्रपने देश की रक्षा के लिए ग्रपना कर्तव्य-कर्म करते हुए उसे एक युवा, सैनिक क़ैदी के तौर पर, हाथ लगा। इस युवा का पिता इसकी बाल्यावस्था में ही स्वर्ग सिधार गया था, इस कारण पितृ-सुख किसे कहते हैं, इस बात का उसे ज्ञान तक न था; परन्तु युवा के पिता ग्रौर ऐडमिरल कालिंगवुड में बहुत ही स्नेह था। इस कारण कालिंगवुड इस युवा से बहुत-ही प्यार करते ग्रौर किसी प्रकार की तकलीफ़ उसे न पहुँचने देते। १८ वर्ष का तरुण फ्रेंच सैनिक क़ैद में एकांत-वास के कारण बहुत ही दुःखित हो गया। ग्रतएव उसने ग्रात्महत्या करने का निश्चय किया।

एक दिन वह इसी प्रकार की कल्पना में व्यग्र था कि इतने में ऐडमिरल कालिंगवुड वहाँ पहुँचे और उन्होंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—"बेटा ! तुमको अभी इस क़ैदखाने में आये एक महीना भी नहीं हुआ कि तुम इतना दुःख प्रगट करते हो ! फिर मुझे क्या करना चाहिए ? मैं तेंतालीस वर्ष से इस जेलखाने में पड़ा हूँ । यह बात मैं झूठ नहीं कहता, मैं इस समुद्र के किनारे तुम्हारे ही समान कैदी हूँ । इस समुद्र ने मुझे चारों ओर से घेर रक्खा है । मेरे सामने, जिधर देखता हूँ, उधर समुद्र की लहरें ही लहरें दिखायी पड़ती हैं । लहरों के सिवाय और कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता । और न लहरों की आवाज़ के सिवाय कुछ सुनायी पड़ता है । इन लहरों से जो फेन उठता है, मानो उसी से मेरे बाल यहाँ सफेद हुए हैं और उसी के तुषार से यह मेरी कमर टेढ़ी पड़ गई है । मेरा जन्म इस समुद्र के किनारे पर ही व्यतीत हो गया । स्वयं इंग्लैंड देश का भी मुझे बहुत ही कम स्मरण है । मैं अपने देश का चित्र (नक्शा) मात्र जानता हूँ । यद्यपि मैंने अपने देश को अच्छी तरह देखा नहीं है तो भी मुझे उसपर अतिशय भक्ति है और मैं एक सेवक-ग़ुलाम के तौर पर उसकी सेवा कर रहा हूँ । परन्तु स्वदेश के लिए ऐसा ही करना पड़ता है । इसके लिए और क्या इलाज है ? इस प्रकार स्वदेश-प्रेम के बंधन में पड़ना, तुम्हारे लिए एक बहुत बड़ी इज़्ज़त है । मेरी ओर देखो, और इससे शिक्षा ग्रहण करो । बहुत जल्द ,मैं इस बात का प्रबन्ध करूँगा कि तुम इस कठिन दुःख से मुक्त हो जाओ । परन्तु मुझे तो आजन्म इसी कारागृह में जीवन बिताना पड़ेगा, क्योंकि अँगरेज़ों और नेपोलियन में मित्रता होना कठिन काम है ।" इस प्रकार उस युवा सिपाही को कालिंगवुड ने मुक्त होने का विश्वास दिलाया । यह सब कुछ हुआ, परन्तु उस युवा ने अपने मुँह से कुछ भी न कहा । न तो कालिंगवुड को धन्यवाद ही दिया, न उसने यह प्रश्न किया कि आप मुझे कब तक यहाँ से छुटकारा दे सकेंगे । अन्त में स्वयं कालिंगवुड ने पूछा कि "मैं और तुम्हारा पिता दोनों आपस में बड़े मित्र थे, यह बात मैं तुमको बतला चुका हूँ; परन्तु तुमने अब तक मुझसे कुछ भी नहीं पूछा, इसका क्या कारण है ?" कालिंगवुड के इन वाक्यों को सुनकर कुछ देर तक तो वह चुपचाप बैठा रहा, फिर यह उत्तर दिया—"जब से मैंने होश सँभाला है तब से मैंने अपने पिता को केवल एक बार देखा है । परन्तु उसका भी मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं है । कृपा कर कहिये, मैं आपसे उनके विषय में क्या अधिक जान अथवा पूछ सकता हूँ ?"

उस वीर युवा से यह बात सुनकर कालिंगवुड को रोमांच हो आया और उनको स्वतः अपनी दशा का स्मरण हो आया । वे कहने लगे—"मेरी भी यही

दशा होगी। इंग्लैंड में मेरी दो कन्याएँ हैं, वे भी एक न एक दिन यही कहेंगी कि हमने अपने पिता को बहुत ही कम देखा है, परन्तु मैं उन पर अधिक प्रेम रखता हूँ। मैं अपने घर से इतनी दूर पर बैठा हूँ, तो भी मैं उनको शिक्षा देता हूँ। मैं इस जहाज़ पर बैठा हुआ भी उनकी ओर सदैव ध्यान रखता हूँ। मैं नित्य उनको एक पत्र लिखता हूँ: तुम आजकल कौन-सी पुस्तक पढ़ती हो—तुम्हारे मन में क्या-क्या कल्पनाएँ उठती हैं, ये सब बातें भी सदैव लिखकर पूछता हूँ। मैं उन पर क्रोध भी प्रकट करता हूँ, और यहीं पर बैठे हुए मैं अपना क्रोध शान्त करके उनसे प्यार की बातें भी कर लेता हूँ। वे वहाँ क्या करती हैं, कैसे वस्त्र पहनती है और किसके ऊपर प्रेम करती है—ये सब बातें मैं यहीं बैठा-बैठा जानता हूँ। उनका विवाह होगा। उनके पति मेरे दामाद होंगे, तात्पर्य यह कि पिता के अपनी सन्तान के प्रति जो कर्त्तव्य हैं वे सब मैं यहीं बैठे हुए कर रहा हूँ। परन्तु यदि मैं अपनी कन्याओं को प्रत्यक्ष न देख सका, तो इस सारी व्यवस्था से लाभ क्या ? जब उनकी उमर दो-तीन वर्ष की थी, तब से उनको गोद में लेने तक का मुझे सौभाग्य प्राप्त न हुआ। और मैंने उनको अपनी आँखों से खेलते-कूदते कभी न देखा कि उनको देखकर मैं प्रसन्न होता। अतएव जिस प्रकार तुम अपने पिता की ओर से उदासीन हो, उसी प्रकार वे भी मेरी ओर से उदासीन होंगी अथवा हो जायेंगी। जिसने अपने पिता को कभी अच्छी तरह आँख भर कर देखा ही नहीं, वह अपना प्रेम किस प्रकार प्रकट कर सकता है ? मैं उनका पिता हूँ, मेरे विषय में उनकी क्या कल्पना होगी ? हर रोज़ मेरे पत्र उनके पास जाते है, वे ही उनके पिता हैं ! अथवा उन पत्रों में जो कुछ मै उपदेश लिखता हूँ वे उपदेश ही उनको पिता-रूप है ! सम्भव है कि कभी-कभी उनकी यह कल्पना न भी होती हो। प्रेम अधिकत: उसी पर प्रगट किया जाता है जिसके दर्शन होते रहें; परन्तु जिस मनुष्य के कभी दर्शन ही नहीं हुए, उस पर प्रेम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? क्योंकि जो मनुष्य दिखायी नही पड़ता, वह है अथवा नही, इस बात का अनुमान किस तरह किया जाय ? उसका होना न होना बराबर है; उस पर कोई भी प्रेम नहीं करता और उसके मरने पर उसके लिए कोई रोता भी नही।" यह कहकर उन्होंने अपने दोनों हाथ मुँह पर रख लिये और रोने लगे।" रोते-रोते कालिंगवुड ने फिर कहना आरम्भ किया—"मेरा स्वास्थ्य वृद्धावस्था के कारण कुछ गिर गया है, इस कारण मैंने एक विनय-पत्र लन्दन भेजा था और उसमें विनय की थी कि अब यदि इस कार्य से मुझे शीघ्र मुक्ति प्रदान की जाय तो अति उत्तम हो। परन्तु वहाँ से उत्तर मिला कि कोई दूसरा मनुष्य तुम्हारी योग्यता का न होने के कारण,

तुमको वहीं रहना चाहिए। और इस उत्तर के साथ ही मेरी वीरता के उपहार-स्वरूप, सम्मानसूचक पदवियाँ और स्वर्ण-पदक भी बहुत-से प्राप्त हुए। परन्तु इन पदवियों और पदकों से मुझे क्या लाभ ? ये पदक मेरे हृदय की ऊपरी शोभा को अवश्य बढ़ावेंगे; परन्तु मेरे हृदय के अन्दर क्या घटित हो रहा है, इसे कौन जान सकता है ! जब सेना-विभाग में इतने लोग भरे पड़े है, तब मेरी जगह पर काम करने योग्य कोई नहीं, यह मेरा दुर्भाग्य है। मरण-काल के समीप जब मेरी आँखें मुझे जवाब दे जायँगी, यदि उस समय मेरा छुटकारा हुआ तो मैं अपने बाल-बच्चों को देख भी न सकूँगा।" इन सब बातों को कहने के पश्चात् वह कुछ देर तक चुप रहे, ऐडमिरल ने अपने मन ही मन कुटुम्ब-प्रेम और स्वदेश-प्रेम की तुलना की। अन्त में उन्हें कुटुम्ब-प्रेम की अपेक्षा स्वदेश-प्रेम ही श्रेष्ठ प्रतीत हुआ। तब उसने उस युवा सैनिक से कहा—"यद्यपि मुझे अपने बाल-बच्चों से अधिक प्रेम है, तो भी मुझे अपने स्वदेश से कम प्रीति नहीं है। अपने स्वदेश के वैभव की वृद्धि करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है। आजन्म मेरा इसी ओर ध्यान रहा है और जीवन के अन्तिम दिवस भी मैं इसी ध्यान में व्यतीत करना चाहता हूँ। कुटुम्ब-प्रेम भी आवश्यकीय है, परन्तु स्वदेश-प्रेम उससे भी अधिक आवश्यकीय है। मैं इंग्लैंड जाकर बेकार इधर-उधर वहाँ की गलियों में घूमकर क्या करूँगा ? इसकी अपेक्षा इंग्लैंड की स्वतन्त्रता का नाश करने की घात में लगे हुए फ्रांस की महत्त्वाकांक्षा का प्रतिबन्ध करने के लिए एक दृढ़ बाँध के समान खड़ा रहना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है। लन्दन के उपवनों में निरुद्योगी लोगों की तरह आलसी बनकर घूमते रहने की अपेक्षा इंग्लैंड और फ्रांस के बीच समुद्र के किनारे पर स्वदेश-हित के लिए मरना मैं अच्छा समझता हूँ !"

पाठकगण ! कालिगवुड की स्वदेश-भक्ति का वर्णन उन्हीं के शब्दों में हमने आपके सम्मुख उपस्थित किया। इस पर क्या आप यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि स्वदेश-भक्ति के लिए त्याग एक मुख्य मूल-मन्त्र है। यदि हम यहाँ पर अपने देशवासियों के लिए दो-एक कटु वाक्य लिख दें, तो हमारे पाठकगण हमें क्षमा करेंगे। नागरी-अक्षरों के प्रचार की सरकारी आज्ञा प्रकाशित हुए आज कितने ही वर्ष व्यतीत हुए, परन्तु उसमें कुछ भी सफलता प्राप्त हुई ? इसका कारण क्या है ? इस प्रान्त में अधिक लोग अविद्या-ग्रसित होने के कारण अपना सारा अदालती कार्य अपने वकीलों द्वारा कराते हैं; परन्तु कितने वकील हैं जो अपना काम-काज देवनागरी-अक्षरों में करते है ? या तो वे आलसी हैं, या उनको यह भय रहता है कि कही जज साहब ख़फ़ा न हो जायँ ! कहीं

कलक्टर साहब अप्रसन्न न हो जायँ, जिसके कारण हमारी आमदनी में किसी प्रकार का विघ्न पड़े। जब हमारे देश-भाई थोड़ी-सी आमदनी के लोभ में पड़कर अपना स्वार्थ त्याग नहीं कर सकते, तब स्वदेश-हित के अन्य बड़े-बड़े त्यागों के लिए वे क्या कर सकते हैं ? काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की लिस्ट में हमने कई एक प्रतिष्ठित नागरी-प्रेमी वकीलों के नाम देखे; परन्तु जब उनसे मिला और देखा कि वे सारा काम-काज उर्दू में करते हैं, तब उनसे विनय-पूर्वक पूछा गया कि आप तो नागरी-हितैषी हैं, आप उर्दू में क्यों काम करते हैं—तब या तो ठीक उत्तर ही न मिला, यदि मिला तो केवल यह कि हमारे पास हिन्दी-पढ़ा क्लर्क नहीं, या नागरी जानने वाला क्लर्क मिलता ही नहीं। यह हमारे देश के उन लोगों की दशा है जो पढ़े-लिखे और प्रतिष्ठित हैं। उस देश और जाति के लिए यह बहुत बड़ी लज्जा की बात है कि जहाँ पर विद्वान् लोग आलस्य के दोष व उदासीनता, से अथवा अपने लाभ में हानि होने के डर से स्वदेश-वैभव के एक उत्तम साधन को जानकर भी उस ओर दुर्लक्ष्य रखते हैं !

(मार्गशीर्ष-शुक्ल १, सं० १९६४)

३४

मुसलमानों पर कृपा

ऐसा जान पड़ता है कि कुछ दिनों से गवर्नमेंट हमारे मुसलमान भाइयों पर विशेष कृपा दिखाने का यत्न कर रही है। यदि हमको यह निश्चय हो जाय कि यह कृपा का भाव सच्चा है और कुटिल नीति से प्रेरित दिखावा-मात्र नहीं है, तो हमको इसमें एक प्रकार का संतोष होगा। हम प्रसन्न होंगे, यदि हमारे मुसलमान भाइयों को ही कुछ सच्चे अधिकार मिल जायँ। हमारी जातीय कांग्रेस के प्रधान—हिन्दू, मुसलमान ईसाई और पारसी— नेता कांग्रेस में, कान्फ्रेंसों में, कौंसिलों में और जहाँ-जहाँ उनको अवसर मिला है, गवर्नमेण्ट से समस्त हिन्दुस्तानियों के लिए अधिक अधिकार माँगते आये है। उन्होंने सदा यह कहा है कि जैसी चाहो, वैसी कठिन परीक्षा ले लो और जो लायक़ निकलें, उन्हींको पद और अधिकार दो। वे अनुग्रह के प्रार्थी नहीं हुए है, किन्तु अपने स्वत्वों के। यह सच है कि कांग्रेस में हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक है ; यह देश में उनकी अधिक संख्या होने का स्वाभाविक परिणाम है। किन्तु उन्होंने अपने लिए कोई विशेष स्वत्व पाने की इच्छा कभी नहीं की। यदि वे ऊँचे पदों पर अपने और भाइयों की अपेक्षा अधिक पहुँचे हैं, तो अपने परिश्रम और पौरुष से विद्या-लाभ करके, न कि अनुग्रह के सहारे से। अँगरेज़ी सरकार के समय में ही नहीं, वरन् मुसलमानी ज़माने में भी, जब हिन्दुओं को विद्या पढ़ने के लिए किसी प्रकार के कुछ साधन न थे, तब भी उन्होंने अपने उद्योग से बड़े-बड़े उच्च पदों को प्राप्त किया। हिन्दुओं की अपेक्षा हमारे कुछ मुसलमान भाई, विशेषकर वे, जो कांग्रेस के सिद्धान्त के विरोधी हैं, कृपा के अधिक भूखे रहे आये हैं। योग्यता के लिए पहले से उद्योग किये बिना ही वे केवल कृपा के भरोसे पर उच्च पद पाने की चेष्टा करते आये हैं। पर अब तक वे इस कार्य में बहुत सफल-मनोरथ नहीं हुए। जब-जब उन्होंने सरकार से विनय की, तब-तब उनको यही स्पष्ट उत्तर

मिला कि जब तक आप अपनी योग्यता का परिचय न करा दें, तब तक आपको उच्च पद पाने के लिए व्यर्थ चेष्टा न करनी चाहिए। और जो आप में योग्य हुए हैं, जैसे जस्टिस महमूद, जस्टिस तय्यबजी, जस्टिस अमीर अली आदि, उनको उनकी योग्यता के कारण ही ऊँचे पद दिये गए हैं। जब कभी हमारे मुसलमान भाई सरकार की सेवा में डेपुटेशन इत्यादि लेकर अनुग्रह की भिक्षा माँगने गये हैं, तब उनको उपर्युक्त प्रकार के उत्तर मिले हैं। परन्तु समय सदा एक-सा नहीं बना रहता। साल-दो साल से देश में कहीं-कही पर अशान्ति का कारण गवर्नमेंट का हिन्दुस्तानियों के स्वत्वों और विचारों का उचित आदर न करना और लार्ड कर्ज़न की कुटिल नीति—देशवासियों के प्रति घृणा और तिरस्कारयुक्त वाक्यों का प्रयोग—ही है। उन्होंने भारतवासियों के साथ जैसा बुरा व्यवहार किया, उसने अशान्ति को बढ़ा दिया है। राज-प्रतिनिधि का किसी देश के लोगों के दिल दुखाने अथवा उनको कटु वाक्य कहने से देश में शान्ति कभी रह सकती है? इसी नीति का अवलम्बन करके कर्ज़न महोदय ने देश-वासियों को अप्रसन्न करके अशान्ति को खूब बढ़ाया; और इस अवसर का कुछ मुसलमान भाइयों ने लाभ उठाना चाहा। एक डेपुटेशन लेकर वे शिमला पहुँचे और परिणाम यह हुआ कि देश के शासन के सुधार के लिए गवर्नमेंट ने जो कुछ प्रस्ताव किये, उनमें उसने मुसलमानों की ओर बड़ी ममता दिखायी। उनको विशेष अधिकार देने का प्रस्ताव किया और यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुओं को वे अधिकार उसी रीति से नहीं दिये जायेंगे। लोकल गवर्नमेंटों ने भी गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया का अनुकरण किया। कदाचित् इसी नीति के पालन में अब संयुक्त प्रान्तों की गवर्नमेंट उन पर अपनी विशेष कृपा दिखाने के लिए उत्सुक है। अकाल के प्रबन्ध-सम्बन्धी प्रस्ताव में गवर्नमेंट ने विशेषकर यह लिखा है कि अलीगढ़-कालेज के विद्यार्थियों में से लोग काम के लिए चुने जायँ। फिर अब शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर साहब ने इस प्रान्त के बड़े-बड़े कालेजों के प्रिंसिपल महोदयों के पास पत्र भेजा है कि कुछ जगहें सैक्रेटेरियट में ख़ाली होने वाली हैं। उनके लिए आप मुसलमान ग्रेजुएटों के नाम भेजिये। वे जगह ६० रु० मासिक से ६०० रु० मासिक वेतन तक की है। जो हिन्दू सैक्रेटेरियट में नौकर हुए हैं, उनको तो ६०० रु० तक की जगह मिली नहीं; हम प्रसन्न होंगे, जो हमारे मुसलमान भाइयों ही को इतनी तलब की जगह उस दफ़्तर में मिलेगी। किन्तु हम अपने मुसलमान भाइयों को सचेत करना चाहते हैं कि यदि उन्हें नौकरी मिल जाय, और वे करना चाहें तो करें, परन्तु इस अनुग्रह की दुर्बल सींक पर भरोसा न करें; नहीं तो वे अन्त में अधिक हानि और निराश

होने का दु:ख उठावेंगे। रही गवर्नमेंट—उसकी कार्यवाही पर हमको हँसी आती है और दु:ख भी होता है। अब तक गवर्नमेंट ने, मुसलमानों को उनके बार-बार कहने पर भी अधिक नौकरियाँ देने का यत्न नहीं किया, और जहाँ उनको या उनके हिन्दू भाइयों को नियुक्त कर सकती थी, वहाँ यूरोपियनों और यूरेशियनों को भरती करती गई। अब उसका एकाएक यह मेल मुसलमानों को यह विश्वास नहीं दिलावेगा कि गवर्नमेंट उनको विशेष प्रेम करती है; किन्तु यह कि वह अवसर समझकर उनका हिन्दुओं के मुक़ाबले में पक्षपात करती है। उनके हृदयों पर इसका उतना ही असर होगा, जितना ऐसी नीति की कार्यवाही का हो सकता है। किन्तु इसी के साथ हिन्दुओं को गवर्नमेट का यह दिखाना, कि वह उनके मुक़ाबले में मुसलमानों पर अधिक अनुग्रह करना चाहती है, अच्छी राजनीति नहीं है। गवर्नमेंट उस अविवेकी वैद्य की तरह चल रही है, जो चाहता तो है कि एक रोग शान्त हो; किन्तु उपाय ऐसे करता है जिससे वह रोग बढ़े। हम गवर्नमेंट को उसकी इस पक्षपात की नीति पर बधाई नही दे सकते। अब रहे हमारे हिन्दू भाई; इनसे हमको बहुत कहने की आवश्यकता नही। अपने देश की पब्लिक सर्विस के द्वारा सेवा करना प्रशंसनीय है। यदि अवसर मिले और यही मार्ग देश की सेवा का पसन्द आवे, तो उसको प्रसन्नता से स्वीकार करना चाहिए। किन्तु स्वतंत्र व्यापार से देश की सपत्ति बढ़ाना और उसके एक भाग से अपना जीवन-निर्वाह करना ही कही अधिक प्रशंसनीय है। इनको दिन-दिन इस मार्ग की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए और स्मरण रखना चाहिए कि परमेश्वर उनकी सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते है। सरकार के इस कार्य से सम्भव है कि हमारे मुसलमान भाइयों को इस समय कुछ उच्च पद की सेवा-वृत्तियाँ मिल जावें, किन्तु हिन्दुओं को इस बात का खेद नहीं होगा। हम अपने सब देश-भाइयों को बतलाना चाहते है कि जो लोग स्वावलम्बी हैं, अपने बुद्धि-बल या बाहु-बल अथवा अपने परिश्रम से धन-उपार्जन करने का स्वाद और गौरव जानते है, स्वतंत्र और निष्कपट होकर व्यवहार करते हैं, वे कभी कृपा की मृगतृष्णा में फँसकर अपने कल्याण की चेष्टा नही करते। इस प्रसंग में हम उनको महात्मा ध्रुव की कथा का स्मरण कराना चाहते हैं। उनकी सौतेली माता ने एक दिन उनसे, जब वे अपने पिता की गोद में जाकर बैठ गए, कहा कि "ध्रुव, तुम राजा की गोद में बैठने के योग्य नहीं हो। तुमने मेरे पेट से जन्म नही लिया, अतएव राजा के साथ इस गद्दी पर बैठने के तुम अधिकारी नहीं।" अपनी विमाता से इस प्रकार कटु शब्द सुनकर बालक ध्रुव क्रोधित हो रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा और

उसे रोकर सब हाल सुनाया। बेचारी माँ इस अन्याय के लिए कर ही क्या सकती थी ! उसने कहा, "पुत्र ! तुम लक्ष्मीपति परमेश्वर की उपासना करो ! तभी तुम राज-सिंहासन पर बैठने के योग्य होगे।" माता की आज्ञा पाकर बालक ध्रुव वन में जाकर तपस्या करने के लिए तैयार हुआ। इतने में नारद मुनि ने आकर ध्रुव को ऐसा कठिन कार्य करने से मना किया। उन्होंने कहा कि, "जिस कार्य को बड़े-बड़े ज्ञानी लोग करने में असमर्थ हैं, उस कार्य को करने के लिए तुम सरीखे बालक का प्रतिज्ञा करना ठीक नहीं है। घर में ही शान्तिपूर्वक रहकर राजा को प्रसन्न करने का उद्योग करो !" परन्तु बालक ध्रुव के ऊपर नारद के उपदेशों का कुछ भी असर न हुआ। उसने कहा, "महाराज ! तिरस्कार किया हुआ क्षत्रिय बालक क्या कभी अपमान को सह सकता है ? अतएव आप शान्तिपूर्वक घर में ही रहकर राजा को प्रसन्न करने का उपदेश न देकर ऐसा उपदेश कीजिये कि मैं उस पद को प्राप्त होऊँ जहाँ पर मेरे पूर्वज अथवा अन्य दूसरे लोग न पहुँचे हों। कृपाकर आप मुझे उस पद-प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग बताइये !"

जब नारदजी ने देखा कि बालक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ है, किसी प्रकार भी अपनी प्रतिज्ञा से नहीं टलता, तब उन्होंने उसकी पीठ पर हाथ फेरकर कहा, "बेटा ! तुम्हारे साहस, स्वावलम्बन और दृढ़ प्रतिज्ञा को देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। इसी प्रकार के लोग संसार में सर्व प्रकार के कार्य करने में समर्थ होते हैं। कोई कठिन से कठिन कार्य ऐसा नहीं जिसे ऐसे लोग पूरा न कर सकते हों। तुम अवश्य उस श्रेष्ठ पद को प्राप्त होगे, जिसके पाने की तुम्हें कामना है। तुम्हारी माता ने तुम्हें जो कल्याण का मार्ग बताया है उसी मार्ग पर चलने से तुम अवश्य उस सर्वश्रेष्ठ पद को पहुँच जाओगे।"—यह आशीर्वाद देकर नारदजी तो वहाँ से विदा हुए और बालक ध्रुव वन में जाकर तपश्चर्या करने लगे। उन्होंने अपने तप से वह पद प्राप्त किया, जिसके कारण आज तक उनका नाम लोग बड़े आदर और भक्ति के साथ लेते हैं और अपने जीवन का उद्देश्य-साधन करने के लिए उनको अपना आदर्श मानते हैं।

पाठकवृन्द ! यहाँ पर बालक ध्रुव की कथा का उल्लेख करने से हमारा तात्पर्य यही है कि हमको सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम उन पवित्र महात्माओं की सन्तान हैं जो कभी किसी को अनुग्रह से उच्च पद पाते हुए देखकर, न तो ईर्ष्या करते थे, वरन् अपने पुरुषार्थ द्वारा उच्च पद प्राप्त करके सारे संसार को अपनी योग्यता का परिचय कराते थे। अगर हमें खेद है तो केवल सरकार की भेद-नीति का ; परन्तु इससे भी हमको लाभ ही पहुँचेगा।

क्योंकि जिस सेवा-वृत्ति के कारण हमने अपने प्राचीन गुण 'स्वावलम्बन' का परित्याग कर दिया है, उसे फिर से ग्रहण करना पड़ेगा। जो सेवा का द्वार इस समय हम लोगों के लिए रोका जा रहा है, उससे यदि हमारे मन में सेवा की ओर से ग्लानि उत्पन्न हो और हम स्वतंत्र जीविका के लिए यत्न करें, तो सम्भव है कि समय पाकर ध्रुव की तरह यही बात हमें अवश्य उच्च स्थान प्रदान करेगी। हम लोग सेवा-वृत्ति के अधम व्यवसाय में यहाँ तक लिप्त हो गए हैं कि हमारे हृदय में स्वाधीन वृत्ति और स्वतंत्रता की उच्च अभिलाषाएँ उठती तक नहीं। इसके कारण स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की शक्ति ही हममें नहीं रही। सोना जब तक तपाया नहीं जाता, कुन्दन नहीं होता। हम लोगों के लिए यह कठिन परीक्षा और कल्याण का समय है। हमको धैर्यपूर्वक अपने बाहु-बल और स्वावलम्बन द्वारा स्वाधीन वृत्ति उपार्जन करने और स्वतंत्रता के पवित्र मन्दिर की पहली सीढ़ी पर चढ़ने का कार्य आरम्भ कर देना चाहिए।

(मार्गशीर्ष-शुक्ल ६, १६६४)

३५

स्त्री-शिक्षा

वर्तमान समय में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र जातीय जीवन के उच्च भावों की सूचना दिखलायी पड़ती है। आकाश में घन (बादल) और घटा के होने पर भी प्रातःकाल के समय जब सूर्य भगवान् की किरणों के निकलने का समय होता है, तब स्वयं संसार में प्रकाश की आभा दिखायी पड़ने लगती है और सूर्य भगवान् के उदय का अनुमान होता है। उसी प्रकार वर्तमान समय की कार्य-प्रणाली देश के लोगों का उत्साह और जातीय हित का अनुराग देखकर यह बात ध्यान में आती है कि हम लोगों की नसों में भी जातीय जीवन का रक्त प्रवाहित हो रहा है। थोड़े दिन पहले जिस जाति को लोग मृतक-समान समझ रहे थे, उसमे अभी जान बाकी है, इस बात का लोगों को निश्चय होता जा रहा है।

अब तक बहुधा लोग यही समझते थे कि जातीय जीवन के विकास के लिए केवल राजनैतिक चर्चा ही काफी है। इसी के द्वारा जाति का मंगल हो सकता है और हमारी जाति नवीन रूप धारण करके उन्नति के सोपान पर चढ़ सकती है। परन्तु अनुभव से कहो अथवा ज्ञान-ज्योति के प्रभाव से कहो, या राजनैतिक आन्दोलन में बहुत-सी जगहों पर व्यर्थ-मनोरथ होने का परिणाम कहो—अब लोगों का मन इस ओर आकर्षित हुआ है कि सामाजिक संस्कार के बिना राजनैतिक अधिकार-लाभ होना कठिन कार्य है। जब तक ब्रह्मचर्य के उत्कृष्ट नियमों का पालन न होगा, गृहस्थाश्रम के उच्च पथ का अवलम्बन न किया जायगा और जब तक हम लोगों का चरित्र उत्तम रूप से गठित न होगा, तब तक हम कभी राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करने के योग्य न होंगे। जब तक हमारा सामाजिक संस्कार ठीक-ठीक न होगा, तब तक हमारी वही दशा रहेगी, जैसी एक अविवेकी ब्राह्मण की हुई थी, जिसे सिंह ने धोखे में डालकर खा

लिया। क्योंकि जब तक जाति का चरित्र सबल, कर्मयोग में दृढ़ और नीति के पथ पर आरूढ़ न होगा, तब तक जातीय जीवन अन्धकारमय बना रहेगा, उसका प्रबल प्रभाव कभी देश पर नहीं पड़ सकता। हमारे जातीय जीवन में सैकड़ों वर्ष से अन्धविश्वास-रूपी कुसंस्कार इकट्ठे हो गए हैं, जिनके कारण ही हमारी जाति प्राण-विहीन समझी जाती है। अतएव इन कुसंस्कारों को हटाने के लिए ब्रह्मचर्य और सुचरित्र-रूपी पैने हथियारों का उपयोग करना ही जातीय जीवन के उत्थान का एकमात्र मार्ग है। परन्तु हमारा सुचरित्र होना, ब्रह्मचारी बनना अथवा अन्धविश्वास का परित्याग करना तभी हो सकता है, जब हम अपने स्त्री-वर्ग को सुधार कर उसे अपने अनुकूल बना लें। जब तक हम इस वर्ग को अपने साथ लेकर नहीं चलते, तब तक हम कभी जातीय जीवन की लहलहाती हुई लता को देखकर आनन्दित नहीं हो सकते। क्योंकि मनुष्य-समाज का कल्याण अथवा अकल्याण, उच्च अथवा नीच होना स्त्रियों के ही हाथ में है बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक पुरुष इन्ही के हाथ की कठपुतली है। वे जिस प्रकार चाहें, उनको चलावें। पुरुषों को सदा उनके अधीन रहना पड़ता है। यदि स्त्रियाँ पुरुषों के पास रहकर उनके लाभ अथवा सुख की सहायक न हों, तो पुरुष कभी सुखी अथवा आनन्दित नही रह सकते। पुरुषों की उन्नति अथवा अवनति मानो स्त्रियों के ही हाथ में है। लेडी मैकविथ सरीखी स्त्री जिस प्रकार पुरुषों को उनके दुष्कृति के अन्धकार से निकाल सकती है, उसी प्रकार गांधारी और द्रौपदी-सरीखी विदुषियों के समान स्त्रियाँ भी दुराचारियों के हाथ से अपनी रक्षा करके अपने कुल का उद्धार और पापी को पुण्य के पथ पर ले जा सकती हैं। परन्तु ऐसा तब हो सकता है, जब उनको इस प्रकार की गूढ़ नीति समझने और यथासमय उसका उत्तम रूप से उपयोग करने के लिए उपयुक्त शिक्षा दी जावे। स्त्री-शिक्षा का जो अर्थ लोग साधारणतः आजकल कर लेते हैं, हम उस बारे में अपने पाठकों से कुछ भी अधिक निवेदन करना नहीं चाहते। हमारा तात्पर्य शिक्षा से हृदय और मन की सारी शक्तियों का सम्यक् रूप से विकास और उनकी पूर्ण पुष्टि से है। स्त्रियों को ईश्वर की दी हुई विपुल शक्ति के जीवन के उच्च आदर्श के सामने लाकर सुगठित करना और कर्मशील बनाना ही हमारा उद्देश्य है और यही हमारे जातीय जीवन का मूल और कर्त्तव्य कर्म है। जो दशा आजकल हमारे देश की स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में हो रही है, वही दशा आज से पचास वर्ष पहले यूरोप और अमेरिका आदि सभ्य देशों की थी। स्त्रियों को उच्च शिक्षा दिये जाने के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के तर्क और भ्रान्तिमूलक, कल्पित और दुर्बल धारणाएँ इस समय

यहाँ पर प्रवाहित हैं, इसी प्रकार उस समय सभ्य देशों की दशा थी। परन्तु समय के फेर से उन लोगों के मन इस दुर्नीति की ओर से अब हट गए हैं और हटने के साथ ही उनके जातीय जीवन में नवीन रक्त का संचार हुआ है। स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान देने से ही उनकी कायापलट हो गई। यूरोप और अमेरिका ने जितनी उन्नति गत पचास वर्ष में की, उतनी उन्नति पिछली दो शताब्दियों में भी वे न कर सके।

स्त्री-शिक्षा की उन्नति में बाधा डालने वाली जो प्रबल युक्ति आजकल हमारे देश-भाइयों के पास है, वह यह है कि यदि स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा मिलने लगेगी तो समाज में घोर विप्लव और घरों में महान् अनर्थ पैदा हो जायँगे। स्त्रियाँ घरों से बाहर निकलकर सभा-समाज करती फिरेंगी, गृह-कार्य की ओर अथवा सन्तान-पालन, पति की सेवा और कुटुम्बियों के आदर-सत्कार की ओर उनका लक्ष्य बिलकुल न रहेगा। अतएव वह गृह, जो आनन्द-कानन बना रहता था, जीर्ण होकर अरण्य के रूप में परिणत हो जायगा। उनके मत में शिक्षा से तात्पर्य सामान्य लिखना-पढ़ना, गृहस्थी के आय-व्यय का हिसाब रखना, सन्तान को पालना—बस, यही स्त्रियों की शिक्षा की चरम सीमा है। इससे अधिक आगे बढ़ने से स्त्रियों की प्रकृति विकृत होने की आशंका है। परन्तु हमें इस प्रकार का भय का कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता। क्या कभी किसी ने यह भी सुना है कि विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा लाभ करके पुरुष धन पैदा करने, अपने परिवार का पालन-पोषण करने अथवा गृह-कर्त्तव्य साधन करने के अयोग्य हो गया हो। जिस शिक्षा द्वारा पुरुषों में मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का प्रकाश होता है, जिसकी सहायता से उनका जीवन उच्च हो जाता है, उसी शिक्षा को पाकर स्त्रियों के मन और हृदय उन्नत न होकर अधोगति की ओर आकर्षित होंगे—यह कैसे आश्चर्य की बात है! जो शिक्षा पुरुषों को प्रकाश की ओर ले जाती है वही स्त्रियों को अंधकार की ओर घसीट ले जायगी—यह कहाँ का विचित्र न्याय है? जो शिक्षा मन और आत्मा की शक्तियों का प्रकाश करके पुरुष को विवेकी बनाकर, सर्वश्रेष्ठ बनाकर, उसमें पौरुषेय गुण को ले आती है वही शिक्षा स्त्रियों को अविवेकी, ज्ञानरहित और कुमार्ग की ओर ले जायेगी। भारत-बन्धु फासेट साहब की कन्या ने कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय की सर्वोच्च गणित-परीक्षा में उच्च पद लाभ किया; परन्तु यह बात कभी सुनने में न आयी कि गणितशास्त्र के उच्च ज्ञान से स्त्रियों की प्रकृति-सुलभ कोमलता से वह वंचित हो गई हो। वैज्ञानिक क्यूरी साहब, जिन्होंने रेडियम धातु का आविष्कार करके सारे जगत् को अपने आश्चर्य-कार्य

से चकित कर दिया है वह उनकी और उनकी विदुषी स्त्री के सम्मिलित परिश्रम का फल है। इस आविष्कार में किसने अधिक परिश्रम किया, यह बताना कठिन है; परन्तु तो भी यह बिना कहे नहीं रहा जाता कि यदि उनकी स्त्री उच्च-हृदय न होती तो वैज्ञानिक क्यूरी क्या उनसे किसी प्रकार की सहायता पा सकते थे? कुरी की शोचनीय मृत्यु के पश्चात् भी उसे विद्वान् लोगों ने उसके पति के आसन पर आरूढ़ किया और उसने अपना सारा जीवन विज्ञान के अनुशीलन में व्यतीत किया। परन्तु क्या वह ऐसा करने में पत्नी अथवा माता के कर्त्तव्य-पालन में अशक्त हो गई थी? मुक्ति-सेना के अधिनायक जरनल बूथ की सहधर्मिणी जीवन के महाव्रत-साधन में सदैव पति की सहयोगिनी बनी रही। उनका सारा समय सभा-समितियों में व्याख्यान देने में ही व्यतीत होता था; परन्तु जरनल बूथ के मुख से कभी यह शिकायत न सुनी गई कि मिसेज़ बूथ ने स्त्रियों के सर्वप्रधान कर्तव्य-कर्म पति-सेवा और सन्तान-पालन में किसी प्रकार की त्रुटि की हो। यूरोप और अमेरिका में इसके और भी बहुत-से उदाहरण अगर तलाश किये जावें तो मिल सकते है, जिनसे यह बात पायी जाती है कि स्त्रियाँ अपने कर्त्तव्यों का पालन करके भी अपनी-अपनी इच्छा, रुचि, शक्ति और सुविधा के अनुसार साहित्य, दर्शन, संगीत और कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करके, उनकी आलोचना द्वारा, मनुष्य-जीवन को सफल कर सकती हैं। कन्या, भगिनी, वधू, पत्नी और माता का कर्त्तव्य पालन करना स्त्रियों का मुख्य कार्य है; परन्तु मानसिक और नैतिक-शक्ति के विकसित होने से क्या प्रीतिपूर्ण और अनुपम सुखमय उपरोक्त कार्य करने की योग्यता अधिक नहीं बढ़ सकती? आजकल पाश्चात्य देशों में स्त्रियाँ अपनी शक्ति को बढाकर जातीय जीवन में कैसा उत्तम नवीन प्रभाव डाल रही हैं, इस बात को जानकर मनुष्य मात्र को चकित होना पड़ता है। और उनके कार्य से यह भी पता चलता है कि शिक्षा द्वारा अपनी शक्ति को बढ़ाकर वे संसार मे कितना कार्य कर सकती हैं। इन बातों को हम सैकड़ों वर्ष की राजनैतिक और सामाजिक पराधीनता में पड़ जाने से संकीर्ण-हृदय हो जाने के कारण बिल्कुल भूल गए हैं। इसी कारण हम अपने घर अथवा समाज में शिक्षा, शक्ति और स्वाधीनता का थोड़ा-सा भी अंकुर उगते हुए देखकर अधीर हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार महादेव के कपाल से गंगा की धारा बह निकलने से वह भारत-भूमि को उर्वरा करती हुई शान्तिमय समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों में शिक्षा-रूपी प्रवाह से हमारी सामाजिक शक्ति भी उर्वरा होकर हमारे जातीय जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करके, जहाँ पर इस समय हम स्थित हैं, उससे बहुत ही नीचे गिराकर

हमारा सर्वनाश कर देगी। अतएव जातीय जीवन के पुनरुत्थान के लिए स्त्री-शिक्षा के पवित्र कार्य को उत्साह और साहस के साथ अब आरम्भ कर देना चाहिए। इस शुभ कार्य में जितनी देरी की जायेगी, उतनी ही देर जातीय जीवन के विकास होने में लगेगी।

(मार्गशीर्ष-शुक्ल ६, सं० १९६४)

३६
अकाल

इस समय हमारे देश में विचारवान् देश-हितैषियों के विचारार्थ नाना प्रकार के जितने विषय उपस्थित हैं उन सब में अन्न का विषय सबसे गम्भीर, आवश्यक और चिन्ताजनक है। भारतवर्ष की भूमि संसार-भर में सबसे अधिक उपजाऊ है; तब भी अन्न बिना जितना कष्ट भारतवासियों को उठाना पडता है, उतना किसी देश के मनुष्यों को नहीं उठाना पड़ता। जितने मनुष्य यहाँ अकाल से मरते हैं, उतने और कहीं नही मरते। अन्न का भाव दिन-दिन बढ़ता चला जाता है। सन् १८६५ में यहाँ चावल रुपये में करीब २६ सेर, गेहूँ २२ सेर ८ छटाँक, चना २६ सेर, बाजरी २३ सेर ८ छटाँक और रगी २८ सेर, बिकते थे। इसके चालीस बरस बाद, अर्थात् १९०५ में, चावल का भाव रुपये में १३ सेर, गेहूँ का १४॥ सेर, चना का १६॥ सेर, बाजरी का १८॥ सेर, और रगी का २२ सेर हो गया। गत जुलाई के महीने में भाव इतना तेज़ हो गया कि चावल रुपये में ८ सेर, गेहूँ ११॥ सेर, चना १३॥ सेर, बाजरी १२ सेर और रगी २० सेर बिकने लगे। अर्थात् ४२ वर्ष के बीच में मोटे हिसाब से चावल १७ सेर, गेहूँ ११ सेर, चना १५॥ सेर, बाजरा ११॥ सेर और रगी ८ सेर महँगे हो गए हैं। हमारे पाठकजन भाव की इस महँगी को विचार कर अत्यन्त चकित होंगे। तेजी जैसी आश्चर्यजनक है, उतनी ही भयानक भी है। यदि इसी हिसाब से भाव बढ़ता गया, तो चालीस बरस बाद रुपये का एक सेर अन्न भी दुर्लभ हो जायगा। हम लोग चिरकाल ऐसी घोर निद्रा में सोये रहे कि हम लोगों ने न अपने व्यापार के धीरे-धीरे नाश होने पर कुछ विचार किया और न अपने देश के बचे हुए एकमात्र अवलम्बन, अन्न, की बढ़ती हुई दुर्लभता का कुछ ख़याल किया। इस देश के प्रतिवर्ष बढ़ते हुए अन्न के भाव के साथ अपनी-अपनी उन्नति करते हुए और देशों का भाव देखिये कि वह किस प्रकार प्रतिवर्ष कम

हो रहा है। सन् १८५७ में इंग्लैंड और वेल्स में गेहूँ औसत हिसाब से रुपये में क़रीब तीन सेर बिकता था और ४६ वर्ष बाद सन् १९०३ में उसका भाव क़रीब ६ सेर, अर्थात् दूना, हो गया। इसी प्रकार चावल आदि का भाव भी घटा। फ्रांस आदि देशों में भी इंग्लैंड की तरह अन्न का भाव घटता गया।

ऊपर दिये हुए अंकों को देखकर पाठकों को मालूम हो जायगा कि ज्यों-ज्यों हमारे यहाँ अन्न का भाव तेज होता जाता है, त्यों-त्यों और देशों में वह घटता जाता है। अन्न की बढ़ती हुई दुर्लभता के दो कारण हैं—एक तो भारतवर्ष का अन्न विदेशों को भेजा जाता है; और दूसरे, अन्न बोने के लिए भूमि दिन-प्रतिदिन कम जोती जाती है।

इसलिए ज्यों-ज्यों अपने देश के तथा और देशों के लोगों की संख्या के बढ़ने के साथ-साथ अन्न की माँग भी बढ़ती है, त्यों-त्यों अन्न का भाव महँगा होता चला जाता है और सब से अधिक अन्न इसी देश से जाता है। यहाँ चावल-गेहूँ इत्यादि खाद्य पदार्थों के सिवा नील, अलसी, सन, कपास इत्यादिक की भी खेती होती है। ये भी विदेश को भेजे जाते हैं। और वहाँ से उनका तैयार माल बनकर यहाँ आता है। इन वस्तुओं की भी माँग और देशों में बढ़ रही है, किन्तु सन को छोड़कर; क्योंकि उसकी खेती इसी देश में होती है, और चीज़ें विदेशों में उपजती हैं और इसलिए उनके दाम या तो स्थिर रहते हैं या घटते चले जाते हैं। सन् १८७० में एक कैंडी (क़रीब १० मन) रुई के दाम २८४ रु० १४ आ० थे, १८८० में २०', १८९० में १९० रु० ४ आ० १९०० में २१४ रु० १३ आ० और १९०५ में १९२ रु० ४ आ० थे। इसी प्रकार १८७० में १ मन अलसी ४ रु० १० आ० में मिलती थी, १८८० में ४ रु० १०। आ० में, १८९० में ४ रु० १०॥ आ० में, १९०० में ६ रु० ९॥ आ० में और १९०५ में ४ रु० १४। आ० में। इन अंकों से जान पड़ता है कि इन पदार्थों के भाव या तो स्थिर रहे या घटे। इन पदार्थों के भावों के घटने और खाने के पदार्थों के भावों के बढ़ने से, होना तो यह चाहिए था कि खाद्य पदार्थों की खेती अधिक होती और अन्य पदार्थों की कम, किन्तु हुआ इसका उलटा। इस देश में दो प्रकार के पदार्थों की खेती होती है: एक चावल-गेहूँ इत्यादि खाद्य पदार्थों की; और दूसरे रुई, सन नील इत्यादिकों की जो कपड़े बुनने-रँगने इत्यादि कामों में आते हैं। खाद्य वस्तुओं की देश-विदेश दोनों में अधिक माँग होने पर भी पहले प्रकार के पदार्थों की खेती बहुत ही कम बढ़ रही है और दूसरे प्रकार के पदार्थों की

शीघ्र ही बढ़ती चली जाती है। दोनों पदार्थों की खेती के लिए कुल २३ करोड़ ८०.६ एकड़ भूमि जोती जाती है। इसमें से पहले प्रकार के अर्थात् खाने के पदार्थों के लिए १८ करोड़ ५०.४ लाख एकड़ भूमि जोती जाती है और दूसरे प्रकार के पदार्थों के लिए ५ करोड़ ३०.२ लाख एकड़। १८६२-६३ में कुल २२ करोड़ १०.२ लाख एकड़ भूमि जोती जाती थी। इसमें से १८ करोड़ एकड पहले प्रकार के पदार्थों के लिए और ४ करोड़ १०.२ एकड़ दूसरे प्रकार के पदार्थों के लिए। इससे यह परिणाम निकला कि १२ बरस में केवल १ करोड़ ७०.४ लाख एकड़ भूमि अधिक जोती गई। इसमें से ५०.३६ लाख एकड़ भूमि पहले प्रकार पदार्थों के लिए और १ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि दूसरे प्रकार के पदार्थों के लिए। अर्थात् १२ वर्ष में जितने एकड़ भूमि अधिक जोती गई, उसमें से दो-तिहाई से भी अधिक दूसरे प्रकार के पदार्थों के लिए जोती गई और एक-तिहाई से भी कम पहले प्रकार के पदार्थों के लिए। इस बीच यहाँ की जनसंख्या १ करोड़ ५० लाख अधिक बढी। इसलिए अन्न के निमित्त जितनी भूमि अधिक जोती गई, उससे क़रीब-क़रीब दूनी जोती जानी चाहिए थी। सबसे नयी रिपोर्ट से मालूम होता है कि अन्न की अपेक्षा सन-अलसी इत्यादिक बोने में अधिकता बढ़ती जा रही है। १८६२-६३ में गेहूँ और चावल के लिए ७ करोड़ ८०.१ लाख एकड़ भूमि जोती जाती थी और १३०६-०७ में ४ करोड़ ३०.६ लाख। रुई-सन इत्यादिक के लिए १८६३-६३ मे २ करोड़ ७०.६ लाख एकड़ जोती जाती थी और १६०६-०७ में ४ करोड़ ८ लाख एकड़ जोती गई।

देश में जनसंख्या के बढ़ने से अन्न की माँग बढ़ती चली जाती है और उसका भाव भी बढ़ता चला जाता है; किन्तु सन को छोड़कर अलसी, रुई, नील इत्यादिक का भाव घटता चला जाता है। इस पर भी अलसी-तिल इत्यादिक के लिए जितनी अधिक भूमि जोती जाती है, उसकी अपेक्षा अन्न के लिए बहुत ही कम जोती जाती है। इसका कारण यह है विदेशों में इन चीज़ों की, विशेषकर सन की, बहुत माँग है। अत्यन्त ग़रीबी के कारण हमारे देश के किसानों को रुपये की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। रैली ब्रादर्स इत्यादिक विदेशी कम्पनियों के एजेन्ट गाँव-गाँव घूमकर, खेतिहरों को पेशगी रुपया देकर, उनके अन्न को मोल ले लेते हैं और उसे विदेशों को भेज देते हैं। इतना ही नहीं, वे पेशगी रुपया देकर, जिस चीज़ की चाहते हैं, उसी की खेती करवा लेते हैं। इससे और इसी प्रकार के और कारणों से जो भूमि अन्न के लिए जोती जाती थी, वह सन इत्यादि के लिए जोती जाने लगी है। विदेशी सौदागरों ने हमारे

शिल्प को तो नष्टप्राय कर ही दिया था, अब खेती के ऊपर भी, जो कि अब हमारे देशवासियों में से अधिकांश का एकमात्र सहारा है, उनका बुरा प्रभाव पड़ रहा है। खेतिहर लोग इस बात को नहीं समझ सकते कि विदेशी कम्पनियों के हाथ अन्न इत्यादि बेचने से देश को कितनी हानि पहुँच रही है। यदि वे समझ भी जायँ, तो कर ही क्या सकते हैं ? उनको लगान और मालगुजारी देने के लिए रुपये की आवश्यकता है। यदि उनके देशवासी रैली ब्रादर्स के समान कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं करेंगे कि समय में उनसे अन्न मोल ले लेवें, तो उनको विवश होकर विदेशी व्यापारियों के हाथ अपना अन्न बेचना ही पड़ेगा।

प्राणियों के लिए अन्न सबसे आवश्यक वस्तु है। इसलिए इसकी रक्षा करना सब देशहितैषियों का धर्म है। उसे विदेशों को जाने से रोकना बहुत कठिन नहीं है। केवल थोड़े उद्योग की आवश्यकता है। प्रत्येक प्रान्त में ऐसी स्वदेशी कम्पनियाँ बननी चाहिए जो कि किसानों को पेशगी रुपया देकर उनका कुल अन्न मोल ले लें और उसको अपने ही देशवासियों के हाथ बेचें। इस प्रकार अन्न विदेशों को जाने से बच जायगा। सन-अलसी इत्यादि पदार्थ, जो विदेशों को कपड़ा आदि बनने के लिए जाते हैं, उनको यही उसी काम में लाने का भी उद्योग होना चाहिए। और विषयों की अपेक्षा इसी विषय में सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। बिना काफी अन्न मिले कुछ काम नहीं हो सकता।

अन्न की महँगी के कम करने का एक उपाय यह है। किन्तु अर्थशास्त्र के जिन सिद्धान्तों को हमारे विदेशीय शासक जन मानते है, उनके अनुसार हमारा प्रस्ताव न विवेकयुक्त समझा जायगा, न साध्य। और हमारे समाज की वर्तमान अवस्था में हम भी यह आशा नहीं कर सकते कि रैली ब्रादर्स के समान कोई व्यवसायी-दल शीघ्र हमारे यहाँ खड़ा हो जायगा। दूसरा उपाय, जो प्रजा को महँगी की मौत से बचाने के लिए सम्भव है, वह यह है कि उनकी आमदनी बढ़े। यदि हमारे देशवासियों की आय बढ़ जाय और उनके पास इतना धन हो कि अन्न कितना ही महँगा क्यों न हो, वे अपना पेट भरने के लिए काफी अन्न मोल ले सकें, तो लोग अकाल से न मरेंगे ; न प्लेग से उतने मरेंगे जितने अब मरते हैं। जातीय आय बढ़ाने का एक ही उपाय यह है कि शिल्प और खनिज व्यापार की वृद्धि हो, और गवर्नमेंट तथा प्रजा के हितैषी समस्त देशवासियों का यह परम कर्त्तव्य है कि जहाँ तक हो सके, शिल्प और वणिज-व्यापार की उन्नति के लिए यत्न करें। एक तीसरा उपाय देशवासियों की आय बढ़ाने का यह है कि अनेक बड़े वेतन के ओहदे, सिविल और सेना-सम्बन्धी, जिनके द्वारा करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष विलायत को चला जाता है उनपर अँगरेजों के स्थान में

हिन्दुस्थानी नियत हों। एक चौथा उपाय महँगी की विपत्ति को कम करने का यह है कि प्रजा को जो थोड़ी-सी आमदनी है उसमें से जो भाग गवर्नमेंट टैक्स के द्वारा प्रजा से ले लेती है, वह भाग कम किया जाय; इससे प्रजा को प्राण बचाने के लिए अपनी परिमित आय का अधिक भाग बच जाया करेगा। २२ बरस से कांग्रेस इन बातों के लिए गवर्नमेंट से प्रार्थना करती चली आई है। गवर्नमेंट ने समय-समय पर इनमें से कुछ बातों को करना अपना धर्म भी बताया है—जैसे शिल्पकला की शिक्षा का प्रचार; किन्तु खेद का विषय है कि प्रजा को बार-बार होते हुए अकाल में आहुति बनने से बचाने के लिए जैसे यत्न और उपाय आवश्यक थे वे अब तक नहीं किये गए और अब भी नहीं किये जा रहे हैं। जब तक ये सब उपाय काम में नही लाये जायँगे, तब तक प्रजा को बार-बार अकाल के भयंकर दुःख और प्राणहानि सहने पड़ेंगे। किन्तु ये सब सुधार समय माँगते हैं। इस समय गवर्नमेंट का और प्रजा में सम्पन्न जनों का भी धर्म यह है कि तुरन्त करने लायक उपायों से प्रजा को बचावें।

गवर्नमेंट गरीबों को अन्न या धन पहुँचाने का जो यत्न कर रही है और करेगी, वह सब प्रकार से सराहनीय है; किन्तु जैसा हम पहले अपना विश्वास प्रकाश कर चुके हैं, देश के अन्न को बाहर जाने से रोकना प्रजा को महँगी की विपत्ति से बचाने का सबसे प्रबल उपाय है। इस उपाय के अवलम्बन करने से जितने अधिक मनुष्यों को सहायता और सहारा पहुँचेगा, उतना और किसी दूसरे उपाय के अवलम्बन से नहीं होगा। इस समय सब कामों को छोड़कर अकाल से लोगों को बचाने में सब लोगों को अपना समय और अपना धन लगाना चाहिए। अन्य राजनैतिक मामलों में एक वर्ष का विलम्ब भी हो जायगा तो कुछ बड़ी हानि नहीं; किन्तु इस काम में एक महीने के विलम्ब से भी सहस्रों प्राणियों का नाश हो जायगा। हम लोगों की सब शक्तियाँ इसी काम में लगनी चाहिए। इस कार्य में प्रजा और गवर्नमेंट, सनातनधर्मी और आर्यसमाजी, हिन्दू और मुसलमान, ईसाई और पारसी, सभी को मिलकर काम करना चाहिए। दानशील धार्मिकों को भी ऐसे अवसर पर अपना दान इन्हीं अकाल-पीड़ित और अनाथों को देना चाहिए। प्रत्येक स्त्री और पुरुष को चाहिए कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनके प्राण बचाने के लिए अन्न और द्रव्य दें। कितने लोग इस समय न केवल भूख की आग से झुलस रहे हैं अपितु वस्त्र के न होने से शीत से भी ठिठुर रहे हैं। इन भूखों को अन्न और नंगों को वस्त्र देना ईश्वर को प्रसन्न करने का परम उत्तम मार्ग है।

(पौष-कृष्ण १, सं० १९६४)

३७
नेशनल कांग्रेस की तेईसवीं वर्षगाँठ

लीजिये पाठकगरण ! आज नेशनल कांग्रेस की तेईसवीं वर्षगाँठ भी समाप्त हुई। बहुत-से लोगों का विचार है कि इस वर्ष कांग्रेस की तेईसवीं वर्षगाँठ ही नहीं, प्रत्युत उसके साथ-साथ कांग्रेस ही समाप्त हो गई। इसके बारे में हमें अपना मतभेद प्रकट करने के पहले यह दिखलाना आवश्यकीय है कि लोग क्यों ऐसा विचारने लगे हैं।

इस साल कांग्रेस की समाप्ति और सालो की तरह नही हुई। इस साल कांग्रेस का दृश्य नरम और गरम दल के परस्पर विरोध से कुछ और ही था। ऐसी-ऐसी बातें हुई जो कि असभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी, जिनके करने वालों को देश-हितैषी लोग शोक और रहम की दृष्टि से देखते हैं। कांग्रेस, कान्फ्रेंस इत्यादिक सभाओं का मुख्य उद्देश्य किसी न किसी विषय पर परामर्श करना होता है। अतः प्रत्येक सभा एक विचार-सभा हुआ करती है। परन्तु इस वर्ष कांग्रेस विचार-सभा नहीं, बल्कि एक प्रहार-सभा थी। शान्तिपूर्वक विचार की जगह कलहोत्पादक बातें हुई, प्रस्तावों की पेशी के बजाय परम असभ्यता की निशानी जूती-पैज़ार देखने में आयी, और अच्छे-अच्छे वक्ताओं की प्रभावशाली स्पीचों की जगह नयी जवानी के जोश से उमड़े हुए कुछ लोगों की लाठियों की चटपट सुनायी पड़ी।

कांग्रेस के नियम के अनुसार, जिस प्रकार कि सदैव उसके लिए सभापति का चुनाव पहले ही से हो जाया करता था और कांग्रेस के सम्मेलन पर आदर-पूर्वक उसी चुने हुए पुरुष-विशेष को सभापति का आसन दे दिया जाता था, उसी प्रकार इस साल भी हुआ और बाबू रासबिहारी घोष इस वर्ष कांग्रेस के सभापति चुने गए। उसमें अनेक झगड़े अवश्य हुए। परन्तु अन्त में आल-इंडिया कांग्रेस कमेटी ने, जो कि कांग्रेस की प्रबन्धकारिणी कमेटी है, मिस्टर घोष ही

को चुनना निश्चय किया। बहुत-से लोगों ने, जो कि अपने-आपको गरम दल वालों में शुमार करते है, इस पर अपना असन्तोष प्रगट किया और लाला लाजपतराय को सभापति चुनने की एक हठ ठानी। उनकी यह हठ कहाँ तक ठीक थी, इसका उत्तर लाला लाजपतराय का ही एक पत्र, जो कि उन्होंने इस अवसर पर 'ट्रिब्यून' में छपवाया था, देता है। अपनी हठ में उनको सफलता भी प्राप्त न हुई। फिर भला वे चुप क्यों रहने लगे ! यह मानुषी प्रकृति का नियम है कि जब मनुष्य अपनी बात को गिरती देखता है, तो उसके हृदय में एक प्रकार की बदला लेने की इच्छा उत्पन्न हुआ करती है और उसे पूरी करने के लिए वह प्रत्येक प्रकार के उचित और अनुचित उपायों का अवलम्ब खोजता है। मालूम होता है कि उन लोगों को इसमें अपना अपमान होते देख एक प्रकार की खीज चढ़ी। और इसलिए उन्होंने कांग्रेस के ठीक अवसर पर ही दुन्द मचाने की ठान ली। और चाहे कांग्रेस के किसी प्रस्ताव अथवा देश-हित के लिए किसी स्कीम को अमल में लाते हुए उन्हे ऐसी निद्रा आवे कि करवट भी न लें; परन्तु इस अपने नये जोश की ठान को करके दिखलाने में उन्होंने तनिक भी देर न की। कांग्रेस को कुरुक्षेत्र बना दिया और उसमें इतनी असभ्यता दिखायी कि कांग्रेस वालों को कांग्रेस करना असम्भव हो गया। फल यह हुआ कि उन्होंने सर फ़ीरोज़शाह मेहता के बँगले पर अपनी एक अलग सभा की और कांग्रेस के पंडाल को दुन्द मचाने वालों के लिए ही छोड़ दिया। इस घटना पर कुछ लोगों में तो यह ख़याल पैदा हुआ है कि कांग्रेस दो भागों में बँट गई और कुछ कहने लगे हैं कि कांग्रेस टूट ही गई। हम इस बात में तो लोगों से बिल्कुल सहमत नही है कि कांग्रेस टूट ही गई। कांग्रेस के बने रहने की आवश्यकता सर्व-विदित है। लोग, चाहे वे गरम दल के हों या कि नरम दल के, सब के सब यह भली-भाँति समझते हैं कि देश के भिन्न-भिन्न प्रान्त जब तक एक स्थान पर एकत्रित न होंगे, तब तक देश कुछ उन्नति नही कर सकता। राष्ट्रीयता का अभाव ही आज तक देश की अवनत अवस्था का कारण रहा है और राष्ट्रीयता पूर्ण-रूप से अब भी देश में नही पायी जाती। परन्तु हाँ, कांग्रेस द्वारा जो कि देश-भर की एक सभा है, लोगों में इस भाव का संचार बहुत-कुछ अंश में हो गया है। यदि कांग्रेस का उद्योग न होता तो कदाचित् वर्तमान जातीयता का अंकुर भी लोगों के हृदय मे नही दीख पड़ता, और देश में जो आजकल कुछ जागृति-सी दीख पड़ती है वह भी दुष्कर हो जाती। इसका कारण ढूंढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। बच्चे से लेकर बुड्ढे तक सभी एकता के महत्त्व को समझते हैं। एकता की अपूर्व शक्ति को प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण

अपनी आँखों से देखा करता है। जब तक देश-भर के समस्त प्रान्त एक-दूसरे से मेल-जोल न रखेंगे और सब के सब एक ही सूत्र के सहारे न चलेंगे, तब तक देश में एकता नहीं कही जा सकती। यह सब कांग्रेस द्वारा प्राप्य है। इसलिए हम आशा करते हैं कि देश के विचारशील और दूरदर्शी लोग कांग्रेस की स्थिति को देश के कल्याण के लिए परम और प्रथम आवश्यकीय समझकर उसे तोड़ने का साहस कदापि न करेंगे।

अब रहा यह विचार कि क्या नरम और गरम दल की अलग-अलग कांग्रेसें हो जायँगी ? सम्भव है कि लोगों की स्वाभाविक मानुषी प्रकृति अपने-आप को अपमान से बचाने और स्वाभिमान को बनाये रखने के लिए प्रत्येक दल को इस बात पर कटिबद्ध करे कि वे अपनी-अपनी कांग्रेसें अलग करें। परन्तु इस प्रकार कांग्रेसों का करना और न करना बराबर ही होगा। कांग्रेस के करने का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके द्वारा देश में एकता और जातीयता का संचार हो। लोग देश-भर की शक्ति और सम्मति का अनुमान कर सकें और जिसके द्वारा, यदि देश अन्य देशों अथवा अपनी गवर्नमेंट से कुछ कराना चाहता है तो करा सके। परन्तु ये सब बातें सब की अलग-अलग खिचड़ी पकाने में असम्भव हो जायँगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मुसलमानों की आल-इण्डिया मुहम्मडन लीग से मिलता है। यह लीग (सभा) कांग्रेस से अलग होकर मुसलमानों ने की है। उद्देश्य एक ही है, परन्तु क्या दोनों की सहमति भी रहती है ? क्या दोनों कभी एक-दूसरे की सिद्ध और साधक भी होती है ? कदापि नहीं। बल्कि सदैव विरोध ही देखने में आता है। यदि एक पूर्व को जाती है तो दूसरी पश्चिम को; और यदि एक उत्तर को जाती है तो दूसरी दक्षिण को। बस, इसी तरह नरम और गरम दल की कांग्रेसों की भी हालत देखने में आवेगी। सपत्नियों में परस्पर प्रेम और सहमति बहुत कम देखने में आती है। इस बात को भारत के सम्पूर्ण सच्चे देश-हितैषी और देश-भक्त भली-भाँति समझते हैं; और इसलिए हम आशा करते है कि वे महानुभाव, जिनके ऊपर कांग्रेस का अखण्डित अथवा खण्डित बना रहना निर्भर है, हज़ार झगड़े होने पर भी कांग्रेस के टुकड़े-टुकड़ न होने देंगे। जैसा झगड़ा इस साल कांग्रेस में हुआ है, उससे बढ़-चढ़कर दूसरे देशों में राज-सम्बन्धी विषयों में हुआ करता है। इंग्लैंड में क्रामवेल ने पार्लमेंट में आकर जो झगड़ा और द्वन्द्व मचाया था, उसके सामने हमारी कांग्रेस वाला झगड़ा कोई अंश भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसे झगड़े होने पर भी पार्लमेंट के भाग करना किसी ने भी उचित नहीं समझा।

भारतीय नेशनल कांग्रेस दो भागों में विभाजित न होकर चाहे गरम दल के

हाथ में जाय या कि नरम दल के पास रहे, हम इस बात की उस समय तक बिल्कुल परवाह नहीं करते जब तक कि कांग्रेस देश-भर की एक कांग्रेस होती हुई अपने मुख्य उद्देश्यों को पूरा करती रहे, जब तक कि इसमें बाहरी दिखावट और बातों की बनावट से आगे बढ़कर कुछ असली कार्य भी हो। केवल प्रस्तावों के ही ऊपर लम्बे-चौड़े व्याख्यान दे देने और उनको पास कर देने से न तो नरम दल ही देश के लिए कुछ काम कर सकता है और न गरम दल। कांग्रेस को चाहे जो हाथ में ले, परन्तु उसके द्वारा कुछ करके दिखलाना चाहिए। अब तक इसने बाईस वर्ष में जो कुछ किया है, वह यथार्थ में बहुत थोड़ा है। परन्तु प्रारम्भ में प्रायः प्रत्येक प्रयत्न की ऐसी ही दशा होती है। कांग्रेस के कुछ करके दिखाने के दिन अब आये है और इसमें आजकल कुछ बल आया है। इसको काम में लाना हमारा कर्तव्य है। देश के प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि कांग्रेस को अपना समझे और उसके चलाने में तन, मन, धन से प्रयत्न करे। देश के कार्य में परस्पर के राग-द्वेषों को जगह देकर कोई भी ऐसा कार्य करना कि जिससे देश को हानि पहुँचे, महान् अधर्म है।

कांग्रेस को जो कोई अपने हाथ में रक्खे, उससे हमारा यह कथन है कि वह इसे हमेशा बनाये रखने का ध्यान रखे। कोई ऐसा कार्य न करे कि जिसके कारण गवर्नमेंट उसमें दखल देकर अपने नये तैयार किये हुए सभाबन्दी के अस्त्र का प्रयोग कर सके। ईश्वर न करे कि, यदि ऐसा हुआ तो कांग्रेस करने की हमारी उत्कट से उत्कट आकांक्षा का रहना और उसकी पूर्ति के लिए हज़ार प्रयत्नों का करना सब के सब ही निष्फल हो जायँगे, और हमारी ही मूर्खता से हमारी उन्नति का एक उपाय हमारे हाथ से जाता रहेगा और फिर चाहे हम ढूँढ़-खोजकर अपनी जातीयता के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कोई अन्य उपाय निकाल लें; परन्तु इसमें सन्देह नही कि हम अपनी उन्नति करने मे कई वर्ष पीछे पिछड़ जायँगे। हमारा यह परम कर्तव्य है कि कांग्रेस करने में सदैव विचारशक्ति, दूरदर्शिता, कार्यकुशलता और एकता से काम लें। उन लोगों का सत्कार करें जिन्होंने कांग्रेस के लिए कुछ किया है या कर रहे हैं, और उन लोगों में उत्साह उत्पन्न करें जो कि कुछ कर सकते हैं। उन बातों से दूर रहे कि जिनसे कोई लाभ तो होता नही, परन्तु विदेशियों और विरोधियों को हमारी हँसी उड़ाने का अवसर मिलता है। और चाहे विघ्न पर विघ्न आके पड़ें, कितने ही कष्टों का सामना करना हो, परन्तु सबको दृढ़तापूर्वक हटाते हुए उन उपायों का सहारा लें और उन कार्यों को करें जिनसे कि देश का कल्याण हो।

(पौष-कृष्ण ३०, सं० १९६४)

३८

काम बनाने का मार्ग : प्रायश्चित्त और संकल्प

सृष्टि के आदि से, जबसे हिन्दुस्तान का इतिहास मिलता है, हिन्दुस्तान में इसी देश के निवासियों का राज्य था। उस राज्य में हिन्दुओं ने सब प्रकार की उन्नति की थी। विद्या में, सभ्यता में, कला-कौशल में, राजनीति में, जितने विभागों में मनुष्य उन्नति कर सकता है उन सबमें उन्होंने ऐसी श्रेष्ठता पायी थी कि उसके यश की सुगन्धि सहस्रों वर्ष का अन्तर पड़ने पर भी अब भी जर्मनी, अमेरिका तथा और-और सभ्य देशों के विद्वानों को मोहित करती है। उस समय में हिन्दुओं को अपने राज्य का पूरा सुख और विभव प्राप्त था। उस समय उनमें सब प्रकार की शक्ति, सब प्रकार का बल, पौरुष, उत्साह और साहस था। उस अवस्था में न केवल हिमालय से कन्याकुमारी तक, अपितु पश्चिम में काबुल-कंधार और उसके परे भी और उसी प्रकार से पूर्व दिशा में हिन्दुस्तान की प्राकृतिक सीमा के परे भी हिन्दुओं का चक्रवर्ती राज्य था। उस समय का इतिहास और उस समय के हमारे पूर्व पुरुषों के विभव के सूचक शब्द-चित्रों को पढ़कर हम अब भी जातीय अभिमान से अपना सिर ऊपर उठाते है। किन्तु जब हम उस दशा के साथ अपनी वर्तमान गिरी हुई पराधीनता की दशा की तुलना करते है, तो बिना प्रयास के हमारी झुकी हुई गर्दन अधिक झुक जाती है और हमारे नेत्र लज्जा और दुःख के वेग से मन्द और मलिन हो जाते हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमने अपनी स्वतंत्रता को अपने पूर्व पुरुषों में से कुछ के अहंकार और दुराग्रह के दोष से और उससे उत्पन्न फूट और आपस के वैर से खोया है। उन पुरुषों का नाम हम नहीं लिया चाहते, जिन्होंने अपने भाइयों का मद तोड़ने में अपनी सहायता के लिए विदेशी और विधर्मी लोगों के सैन्य-दलों को इस देश में बुलाया। उनके पाप का प्रायश्चित्त

कदाचित् अब तक हमारे सहस्रों वर्षों के दुःख और पराधीनता से भी पूरा नहीं हुआ। दूसरा पाप उन लोगों का था जिन्होंने स्वार्थ या आलस्य के वश अपने देश के एक प्रधान या नृप को विदेशी शत्रुओं से पीड़ित होते देखकर अपनी स्वतंत्रता और देश की स्वतंत्रता रखने में सहायता नहीं की। उस समय के नराधिपों में आपस में जो फूटता थी, उनमें जो वैर और कलह था, उसी के कारण वे एक-दूसरे के सहायक नहीं हुए। और एक-एक करके अपनी स्वतंत्रता को खोते और विदेशियों के पैरों के नीचे गिरते चले गए। संक्षेप में यही मुसलमानों के इस देश में आने का लज्जाजनक इतिहास है। मुसलमान आक्रमण करने वालों ने इस देश में जो पैर जमाया, यह उस समय के हिन्दू नरपतियों के और हिन्दू राजा-रईसों के आपस में फूट के कारण; या उस समय के हिन्दुओं में जातीयता का वह उन्नत भाव नहीं रह गया था जो जाति के प्रत्येक मनुष्य को अपने देश की रक्षा के लिए व्याकुल और शक्ति-सम्पन्न करता है। धर्म का भाव अवश्य था, और उसके अनुसार एक-एक प्रान्त के राजा और उनके वीर बन्धु जहाँ तक विदेशियों से लड़ सके, लड़े। किन्तु जातीयता का भाव दुर्बल होने के कारण, वे सब मिलकर ऐसा प्रयत्न न कर सके, जिससे वे अपनी और देश की स्वतत्रता को बचा सकते। कई सौ वर्ष तक मुसलमानों का राज्य जो इस देश में स्थिर रहा और बढ़ता गया, उसका कारण भी यही हिन्दुओं की आपस की फूट और जातीयता के भाव का दुर्बल होना था। औरंगज़ेब ने जब बहुत अत्याचार करना प्रारम्भ किया; तब हिन्दुओं में एक शक्ति शिवाजी की उत्पन्न हुई; और यह सबको विदित है कि उन्होंने किस प्रकार से मुसलमानी बादशाहत को थोड़े ही दिनों में तोड़कर ऐसा दुर्बल कर दिया और अपनी जातीय शक्ति को ऐसी प्रबल किया कि आगरा और अलीगढ़ तक महाराष्ट्रों के राज्य की ध्वजा फहराने लगी। इसी प्रकार दूसरी ओर पंजाब-केसरी रणजीतसिंह उत्पन्न हुए। और उन्होंने न केवल पंजाब में हिन्दुओं का राज्य फिर से स्थापित किया, अपितु उनके सेनानी हरीसिंह ने काबुल में भी अपना ऐसा प्रबल प्रताप जमाया कि वहाँ माताएँ अपने बच्चों को 'हरिया आया' यह डर दिलाकर सुलाने लगीं। यह कथा अभी कल की ही मालूम होती है। जो थोड़ा समय तब से बीता है, उसके प्रारम्भ के समय पर ध्यान ले जाने से हमको यह दीख पड़ता है कि जिस प्रकार बाल-सूर्य छिन-छिन आकाश-मंडल में ऊपर से ऊपर चढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार से इन दो हिन्दू राज्यों की शक्ति और प्रभाव दिन-दिन बढ़ता चला जाता था। किन्तु हा! थोड़े ही दिनों में कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के स्वार्थ, अहंकार या अयोग्यता

से, आपस की कलह और विद्वेष से, इन दलों की शक्ति दिन-दिन हीन होने लगी और थोड़े ही समय में ये बलहीन और प्रभावविहीन होकर नष्ट-भ्रष्ट हो गए। अब केवल इतिहास ही से हमको पता लगता है कि थोड़े ही समय पहले ये हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विभागों में हिन्दू जाति का मुख उज्ज्वल करते और हिन्दू धर्म और हिन्दू सभ्यता की रक्षा करते थे।

आज इस बड़ी और प्राचीन हिन्दू जाति का—जिसने सहस्रों वर्ष तक इस पवित्र और रत्न-सम्पन्न देश पर, और इसके बाहर भी दूर-दूर तक चक्रवर्ती राज्य किया था—छोटे से नेपाल-राज्य को छोड़ पृथ्वी-मंडल के किसी विभाग में स्वतंत्र साम्राज्य नहीं है।

मुसलमानों ने भी सभ्यता और शक्ति का प्राचीन समय में बहुत कुछ अनुभव किया था। यूरोप में स्पेन आदि देशों तक में चिरकाल तक उन्होंने राज्य किया था और वहाँ सभ्यता फैलायी थी। हिन्दुस्तान में जिस विभव को वे पहुँचे थे, उसकी कथा अभी पुरानी नही हुई। किन्तु आज वे और उनके भाई हिन्दू दोनों समान रीति से एक तीसरी जाति अँगरेज़ों के आधीन हैं। यह सत्य है कि हिन्दुस्तान से बाहर अरब में, टर्की में, अफ़ग़ानिस्तान में तथा और कुछ स्थानों में अब तक स्वतंत्र मुसलमानी सल्तनतें वर्तमान हैं; किन्तु हिन्दुस्तान के निवासी मुसलमान हिन्दुओं के समान अँगरेज़ों के आधीन हो रहे है। इनमें और हिन्दुओं में इस विषय में कुछ अन्तर नहीं। हिन्दुस्तान में जो मुसलमानों का राज्य मिट गया, वह भी उनके पूर्वजों के दोष और पाप से ही मिटा है।

अँगरेज़ी राज्य का इस देश में स्थापित होना और उस विस्तार को पाना, जिसको वह अब पहुँचा हुआ है, इतिहास के आश्चर्यों में से एक समझा जाता है। मुट्ठी-भर अँगरेज़ों की एक कम्पनी तिजारत करने को इस देश में आयी थी। आज उन अँगरेज़ों का शासन इस देश के समस्त विभागों में व्याप्त है और सब देशी रियासतें सुलह की शर्तों में बँधी उस राज्य के आधीन हो रही हैं। अँगरेज़ों के इस आश्चर्यमय विभव का कारण क्या है?—वह उनकी देशभक्ति, देशाभिमान और उनकी जातीय एकता है! इस देशभक्ति और देशाभिमान का अभाव हमारे हिन्दू और मुसलमानों के अधःपात और पराधीनता का कारण हुआ है। जो आग्रह हम हिन्दुओं को और मुसलमानों को भी किसी समय अपने-अपने धर्मों के विषय में था, जिसके वश हम उसकी रक्षा में अपना प्राण दे देते थे, वही आग्रह अँगरेज़ों को अपनी जाति (नेशन) और अपने देश के विषय में हैं। यही, और कदाचित् इससे भी बढ़कर भाव, जापानियों में देखा गया है। सच्चा देशभक्त, चाहे वह किसी जाति का हो—

सबसे अधिक यश और अभिमान की बात यह समझता है कि वह अपने देश की इस प्रकार सेवा करे कि उसका देशभक्तों में नाम गिना जाय। वह अपने लिए यह सबसे अधिक कलंक और पाप की बात समझता है कि उससे कोई ऐसा काम बन पड़े जिससे उसके देश की हानि या देश-भाइयों की निन्दा हो। अपने लाभ, अपने यश और अपने गौरव से अपने देश के लाभ, यश और गौरव को वह बहुत बड़ा समझता है। मेरी हानि हो या लाभ, मेरा मान हो या अपमान, मैं मर-मिटूँ या जीऊँ; मेरे देश का, मेरी जाति का हित हो, उसका कल्याण हो, उसका अभ्युदय हो—यही उसके हृदय की उत्तम से उत्तम प्रार्थना रहती है। वह अपने को अपने देश का सेवक-मात्र समझता है; देश के विषय मे उसका वही पवित्र और पूजनीय भाव है जो एक सद्भक्त का जगत्प्रभु की ओर होता है। बिना बनावट और बिना अत्युक्ति के देश के विषय में वह कह सकता है कि :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

वह जानता है कि उसके समस्त धर्म-कर्म, भक्ति-भाव सब देश के स्वतंत्र और सुखी होने पर निर्भर हैं। तभी वह देश के लिए प्राण को अर्पण करने को तैयार रहता है। वह सब प्रकार से अपने देश का विभव बढ़ाता और जगत् में उसका यश फैलाता है।

अँगरेज़ों के इस देश में आने से हमको जहाँ अनेक विषयों में हानि हुई है, वहाँ कई बातों में लाभ भी, निःसंदेह, हुए हैं। उन्होंने जो सर्वसाधारण शिक्षा का क्रम इस देश में जारी किया है, उससे हमको बहुत बड़ा लाभ यह हुआ है कि हमको इस जातीय भाव का विशेष ज्ञान और परिचय हो गया है। उन्होने जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक स्कूलों और कालेजों में एक भाषा का प्रचार किया है और सर्वत्र एक प्रकार का शासन जारी किया है—रेल, तार आदि जारी कर एक प्रान्त के लोगों को दूसरे प्रान्त के लोगों से परिचय का अवसर बढ़ा दिया है—एक ही प्रबन्ध, एक ही शासन की शृंखला में भिन्न-भिन्न प्रान्त के लोगों को बाँध दिया है। इससे हमारे देश में, हमारे पढ़े-लिखे विचारवान् भाइयों में, जातीयता का भाव कहीं उपजा और कहीं प्रबल हुआ है। इसी ने हमको यह महान् उपदेश दिया है कि प्रत्येक देश के अभ्युदय के लिए यह आवश्यक है कि सब देशवासियों में देशभक्ति उत्पन्न हो, वे एक-दूसरे को अपना बन्धु समझें, और आपस के वैर, कलह, द्वेष, अभिमान को छोड़कर

परस्पर प्रीति और एकता के साथ, देश-हित के लिए प्रयत्न करें। हमारी जातीय महासभा—इंडियन नेशनल कांग्रेस, इस पवित्र भाव का पहला वृक्ष उगा। जिसकी छाया में सब लोग हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, मत और जाति-भेद को छोड़, केवल देश-भक्ति के नाते से एकत्रित होने लगे। और बाईस वर्ष तक बैरियों के कोसने और प्रहारों को सहकर भी दिन-दिन वह पुष्ट और प्रबल होता गया था। इसमें अनेक कलियाँ भी लगी थीं। और कुछ उनमें से खिल भी गई थीं। और आशा थी कि अब इसमें अच्छे-अच्छे फल लगकर देश को सुख और संपत्ति पहुँचाने के कारण होंगे। ऐसी दशा में हमारे देश के पुराने शत्रु, व्यक्तिगत अहंकार और दुराग्रह से, हमारे ही देश-भाइयों के हाथ से इस पर वज्र-कुठार गिरा, यह हमारे देश का परम दुर्भाग्य है। सभ्य संसार में हम पर हँसी और हमारे प्रिय देश की निन्दा हो रही है, यह देखकर और सोचकर सब देशभक्तों का चित्त दुःख से ग्रस्त हो रहा है। जिन हमारे भाइयों के हाथ से जातीय वृक्ष पर कुठार लगा, वे भी अब इस दुर्घटना पर खेद प्रकाश कर रहे हैं और कह रहे हैं कि अब काम बनाने का मार्ग सोचना चाहिए। इस बात को देखकर हमको कुछ संतोष होता है। किन्तु उसी के साथ हमको यह देखकर दुःख होता है कि वे अब तक दुराग्रह के वश में पड़े हुए हैं और अपने दोष को औरों के सिर मढ़ने का अब भी यत्न करते जाते हैं। जब कोई पाप या अनर्थ का काम किसी से बन पड़े और वह उसके नाशकारी फल को नाश करना या काम को सुधारना चाहे, तो उसके लिए पहला कर्त्तव्य यह है कि वह व्यक्तिगत अभिमान और आग्रह को छोडकर अपने गौरव को देश के गौरव में लीन कर, आर्यों की रीति के अनुसार अपनी भूल को स्वीकार करे। यदि उसके हृदय में इतनी उदारता नहीं है कि वह ऐसा कर सके, तो उसको इतना तो अवश्य चाहिए कि अपने को निर्दोष और दूसरों को, जो वस्तुतः निर्दोष हैं अथवा उतने दोषी नहीं जितना वह है, दोषी साबित करने के अनुचित प्रयत्न से हाथ खींचे। यदि देश-भक्ति सच्ची है और देश का कल्याण अभीष्ट है, यदि यह इष्ट है कि सूरत की शोचनीय घटना से बढ़ती हुई जातीय एकता पर जो कुठार चला है उसका बुरा फल दूर हो अथवा घटे, तो पहली आवश्यकता यह है कि उन लोगों को, जिनसे अपना मत नहीं मिलता, गाली देना बन्द किया जाय। मि० तिलक और मि० गोखले के पत्रों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि सूरत की सभा के विध्वंस का दोष किस पर है। हठ से बार बार अपना ही पक्ष प्रबल करने के यत्न से न उस दोष का ही प्रक्षालन होगा, न आगे के लिए निरोध कम होने की सम्भावना होगी। बिगड़े काम को फिर बनाने के मार्ग में पहला कार्य

यह है कि जो दोष बन पड़ा है, उसके विषय में पश्चाताप किया जाय और भविष्य के लिए यह संकल्प किया जाय कि आगे फिर कभी भूल से भी अपने व्यक्ति या अपने पक्ष को उस देश से अधिक गौरवयुक्त न समझेंगे जिसकी सेवा करना ही अपना प्रकाशित उद्देश्य है, और अपने हठ को रखने के लिए अथवा उन लोगों को नीचा दिखाने के अभिप्राय से, जिनका पक्ष अपने से नहीं मिलता, ऐसा कार्य न करेंगे जिससे उस जातीय एकता और जातीय शक्ति की वृद्धि में बाधा पड़े, जिसके ऊपर जाति और देश के उद्धार की सब आशा निर्भर है।

(माघ-कृष्ण ६, सं० १९६४)

३६
राज-धर्म २

जो लोग अपने प्राचीन ग्रंथों से अपरिचित हैं उनका मत है कि हम लोगों ने राजनीतिक विषयों का ज्ञान पाश्चात्य लोगों से प्राप्त किया है। हमारे देश में राजनीतिक विज्ञान का अभाव है। सच्ची और श्रेष्ठ राजनीति वही है, जिसके अनुसार देश का प्रबन्ध होने से प्रजा का अभ्युदय हो। प्रजा का अभ्युदय तभी होता है जब राजा "स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यते लोकहेतोः" अर्थात् अपने सुख की कुछ भी अभिलाषा न करते हुए प्रजा के हेतु कष्ट उठाता है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में, स्थान-स्थान पर राजा को अपने कर्त्तव्य-पालन का उपदेश दिया गया है, जिससे कि राज्य सुख-समृद्धि से सम्पन्न हो। अधिक नहीं, केवल महाभारत के शान्तिपर्व ही को पढ़कर यह भ्रम दूर हो सकता है कि हमारे ग्रंथों में राजनीति नहीं सिखायी गई है। शान्तिपर्व वास्तव में राजनीतिक ज्ञान का भंडार है। इसी प्रकार 'मनुस्मृति', 'रामायण' तथा अन्यान्य संस्कृत ग्रंथों में भी राजनीति-सम्बन्धी विषय भरे पड़े हैं। धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त काव्यों और नाटकों में भी राजा का कर्त्तव्य बड़ी उत्तम रीति से समझाया गया है। शकुन्तला नाटक में, कई स्थानों पर, नाना प्रकार से यह दिखाया गया है कि राजा के ऊपर कितना बड़ा भार है और उसका कर्त्तव्य कितना बड़ा है। राजा दुष्यन्त अपने न्यायालय का कार्य समाप्त करके अपने अन्तःपुर में चले गए हैं। इतने में कण्व ऋषि के शिष्य शकुन्तला को लेकर राजा दुष्यन्त से मिलने आये हैं। कंचुकी अपने मन में इस बात का सोच-विचार करने लगता है कि राजा राजकार्य से निवृत्त होकर अभी अन्तःपुर में चले गए हैं, अगर उनसे इनके आने का समाचार कहा जायगा तो उनके विश्राम में बाधा पड़ेगी। अन्त में उसने यही निश्चित किया कि चाहे जो हो, राजा को उनके आने का समाचार अवश्य ही देना चाहिए; क्योंकि राज्य के शासनकर्त्ता

के लिए विश्राम कहाँ है—

भानुः सकृद्युक्त तुरंग एव
रात्रिं दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहित भूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥

अर्थात् "सूर्य सदा अपने घोड़ों को जोते रहता है, वायु रात-दिन चलता रहता है, शेषनाग सदा भूमि के भार को उठाये रहता है। इसी प्रकार षष्ठांशवृत्ति अर्थात् राजा का भी धर्म है कि वह सदा प्रजा के सुख से लिए यत्न करता रहे।"

भवभूति-प्रणीत 'उत्तररामचरित' में भी राजा के धर्म का एक अच्छा उदाहरण मिलता है। भगवान् वसिष्ठ ने अष्टावक्र के द्वारा रामचन्द्र को संदेशा भिजवाया है कि "युक्तः प्रजानामनुरंजने स्याः", अर्थात्, तुम प्रजा को सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करना। इसके उत्तर में रामचन्द्रजी कहते है :

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथाः॥

अर्थात् "अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए अगर मुझे स्नेह, दया, सुख, इतना ही नहीं, किंतु यदि जानकी को भी छोड़ना पड़े तो मुझे दुःख नहीं होगा।" भारतवासी अब तक भी जो राजभक्ति को धर्म समझते चले आते हैं, इसका कारण यही है कि उनके पूर्वज ऐसे ही राजाओं के राज में रहते थे, जो अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। 'शकुन्तला' में दुष्यन्त के मृग को मारने की चेष्टा करते समय ऋषि उन्हें उपदेश देते हैं :

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं,
न प्रहर्तुं मनागसि।

अर्थात् "तुम्हारा शस्त्र दुःखित-त्रस्त लोगों की रक्षा करने के लिए है, निरपराधों के ऊपर प्रहार करने के लिए नहीं।"

क्या ही अच्छा उपदेश है ! अधिकारी और शक्तिमान् लोग यदि इसका अनुकरण करें कि उनको जो अधिकार और शक्ति दी गई है वह असमर्थों की रक्षा के लिए दी गई है, उनके ऊपर अत्याचार करने के लिए नहीं, तो संसार कई घोर दुःखों से बच जाय। इसी प्रकार के दृष्टान्त और उपदेश काव्यों और नाटकों में स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। काव्य और नाटकों के अतिरिक्त जिन ग्रंथों को हम लोग पूज्य और प्रामाणिक मानते हैं, वे ऐसी शिक्षाओं से परिपूर्ण हैं, जिनके अनुसार कार्य होने से प्रजा निर्दोष, शक्तिशाली और उत्कृष्ट बन

सकती है और उसकी आध्यात्मिक उन्नति और सांसारिक अभ्युदय हो सकता है। प्राचीन काल में जब राजा और प्रजा दोनों इन उपदेशों का अनुकरण करते थे, तब हमारा देश सब प्रकार से उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था। प्राचीन ग्रंथों के अवलोकन से विदित होता है कि हमारे पूर्वज ऋषिगण राजनीति के तत्वों को किस उत्तमता के साथ समझते थे। प्रजा के अभ्युदय के लिए राज्य में शान्ति और सुप्रबन्ध की अत्यन्त आवश्यकता होती है और बिना शासक के शान्ति और सुप्रबन्ध हो नहीं सकता। शासक को नियुक्त करने की आवश्यकता भगवान् मनु ने यों बतलायी है :

अराजके हि लोकेऽस्मिन्
सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य,
राजानमसृजत् प्रभुः॥
तस्य सर्वाणि भूतानि,
स्थावराणि चराणि च॥
भयाद्भोगाय कल्पन्ते,
स्वधर्मान्न चलन्ति च॥

अर्थात् "चारों ओर के भय से घबड़ाये इस अराजक संसार में सभी की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने राजा को उत्पन्न किया। उसी के भय से, स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के प्राणी भोग के समर्थ होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते।" पूर्वोक्त श्लोकों का एक-एक अक्षर सत्य है, क्योंकि अराजकता के समय सांसारिक काम बन्द हो जाते हैं।

(२८ फरवरी, १९०८)

४०

राज-धर्म

दुष्ट, स्वार्थी और लालची मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूरी करने के लिए भाँति-भाँति के उपद्रव मचाते हैं और देश को रहने के अयोग्य बना देते है। कहा है :

सर्वो दंडजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दंडस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते॥

"सब लोग दंड के भय के वश में रहते हैं, निर्दोष मनुष्य (जो कि बिना दण्ड के वश में रहे) दुर्लभ है। इसी दण्ड के भय से संसार भोग करने के योग्य होता है।"

इसलिए राजा का प्रथम कर्तव्य देश में शान्ति स्थापित करके अपनी प्रजा को अभय दान करना है, जिसमें लोग अपना कार्य और अपनी उन्नति निर्भय होकर कर सकें। राजा का धर्म भागवत में इस प्रकार कहा है :

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात्प्रजाः।

अर्थात् "आपत्तियों से जिस प्रकार पिता पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा की रक्षा करे।" उत्तम राजा का लक्षण भगवान् वेदव्यास ने इस प्रकार बतलाया है :

पुत्र इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥

अर्थात् "जिसके राज्य में मनुष्य इस प्रकार निर्भय होकर रहें जैसे कि पुत्र पिता के घर में रहता है, वह राजा सब से श्रेष्ठ है।"

किन्तु राजा को केवल अपने देश में ही शान्ति स्थापित करने का भार नहीं दिया गया था। उसके ऊपर प्रजा को सब प्रकार के कष्टों से बचाने का भार भी था। 'आपस्तम्ब' धर्मसूत्र में लिखा है :

न चास्य विषये क्षुधा रोगेण हिमातपाभ्यां नावसीदेत कश्चित् ।

अर्थात् "राजा के राज्य में कोई भूख से, व्याधिजनित अकाल-मृत्यु से, ठंड और गर्मी से न मरे।" प्रजा को अकाल और व्याधियों से बचाना उसका धर्म था। हमारे आर्य ऋषिगण इस बात को जानते थे कि कभी-कभी अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ जाते हैं और वे राजा का यह धर्म समझते थे कि वह प्रजा को इन दैवी आपत्तियों से बचावे। धर्मराज युधिष्ठिर से उनकी कुशल पूछते हुए नारदजी कहते हैं :

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहंति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥

"तुम्हारे राज्य में स्थान-स्थान पर भरे हुए और लम्बे-चौड़े जलाशय हैं कि नहीं ? तुम्हारे खेतिहर वृष्टि ही के ऊपर तो निर्भर नहीं हैं ?"

युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—"मेरे खेतिहर वृष्टि के ऊपर निर्भर नहीं हैं। अनावृष्टि के समय जल का अभाव मिटाने के लिए मेरे राज्य में कुएँ इत्यादिक जलाशय विद्यमान हैं।"

राजा के ऊपर इससे भी अधिक भार था। वस्तुतः वह अपने राज्य में सब प्रकार की आधि-व्याधि और आपत्तियों का उत्तरदाता समझा जाता था। भीष्म पितामह ने कहा है :

राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥

"हे महाबाहो (युधिष्ठिर)! धन का उपार्जन (योग) और उसकी रक्षा (क्षेम) अच्छी वृष्टि का होना, प्रजा में रोग फैलना, उनके ऊपर भय आ पड़ना और उसकी मृत्यु, इन सभी का कारण राजा है।" और भी कहा है :

कालो वा कारणं राज्ञो, राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो माभूद् राजा कालस्य कारणम् ॥

"राजा समय के अनुसार होता है, अथवा समय राजा के अनुसार होता है, ऐसा संदेह मत करो। अच्छा समय अच्छा राजा होने से होता है बुरा समय अर्थात् व्याधि, दुर्भिक्ष, दारिद्रय, दैन्य और अज्ञान से पीड़ित समय बुरा राजा होने से होता है।" ये बातें देखने में ठीक नहीं जान पड़तीं; किन्तु यदि विचार करके देखा जाय तो इस कथन का प्रत्येक वाक्य ठीक जान पड़ता है। वर्तमान काल की घटनाओं का विचार करने से भी भगवान् वेद-व्यास का यह कथन सत्य प्रतीत होता है। इसमें कहा गया है कि प्रजा का योग

और क्षेम राजा के ऊपर निर्भर है। योग राजा के ऊपर किस प्रकार निर्भर है, इसको समझाने के लिए जर्मनी के सम्राट् का दृष्टान्त लीजिये। उनकी प्रजा का डील-डौल अच्छा नहीं था। इसका कारण और इस त्रुटि को दूर करने का उपाय डाक्टरों के द्वारा खोजा गया। उन्होंने विचार करने के अनन्तर यह सम्मति प्रकाशित की कि यदि प्रजा को चीनी खाने के लिए मिले, तो उसका डील-डौल अच्छा हो जाय। चीनी उनके राज्य में बनती नहीं थी और न गन्ना उत्पन्न होता था। किन्तु उन्होंने रसायन-विद्या के विद्वानों को उत्तेजना और सहायता देकर एक पेड़ की जड़ से, जिसे कि बीटरूट अर्थात् चुकन्दर कहते हैं, चीनी बनवा ली। जब तक उसके बनाने और बेचने वालों को उसकी बिक्री से लाभ नहीं होने लगा तब तक उन्होंने उनको रुपया देकर सहायता दी। योग राजा के ऊपर किस प्रकार निर्भर है, यह उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है। प्रजाहितैषी राजा अपनी प्रजा की सम्पत्ति का क्षेम किस प्रकार करता है, उसका उदाहरण देने के लिए इंग्लैंड का दृष्टान्त देते हैं। जब भारतवर्ष के बने हुए माल से इंग्लैड के माल को, एवं उसकी धन-सम्पत्ति को हानि पहुँचने की शंका हुई तो इंग्लैड ने भारतवर्ष के बने हुए माल को रोकने के लिए उसके ऊपर कर लगा दिया और ऐसे नियम बना दिए जिससे कि भारतवर्ष में बने हुए माल का व्यवहार करने वालों को दंड मिलने लगा। इस प्रकार इंग्लैड के राजा ने अपनी प्रजा की सम्पत्ति का क्षेम किया। अब यह विचारना चाहिए कि व्याधि और मरण, इनके लिए राजा क्यों उत्तरदाता है। अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि जो समृद्ध हैं वे प्लेग इत्यादिक महामारियों से बचे रहते हैं। अँगरेज़ और हमारे सम्पन्न देशवासी प्लेग से बचे ही रहते हैं। देश में जितनी ही समृद्धि होगी, उतनी ही प्लेग से बचने वालों की संख्या भी अधिक होगी।

प्रजा को अपने कर्मचारियों के अत्याचार से बचाने के लिए राजा को उपदेश दिया गया है :

राज्ञो हि रक्षाधिकृतोः परस्वाकांक्षिणः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥

अर्थात् "राजा के कर्मचारी लोग प्रायः ऐसे शठ हो जाते हैं कि वे प्रजा के धन को छीन लेते हैं। राजा को ऐसों से अपनी प्रजा को बचाना चाहिए।" ऐसे कर्मचारियों के विषय में कहा गया है :

तेषां सर्बस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम्।

अर्थात् "उनके सर्वस्व को लेकर राजा उन्हें देश से निकाल दे।"

'रामायण' के अरण्यकाण्ड में मुनियों ने रामचन्द्रजी को उपदेश देते हुए कहा है :

अधर्मः सुमहान्नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः ।
यो हरेत् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ।।"

"उस राजा को महान् अधर्म होता है जो प्रजा से कर तो ले लेता है, पर उसकी पुत्र के समान रक्षा नहीं करता है ।" इससे अच्छा उपदेश राजा को किस देश के ग्रन्थों में दिया गया है और इससे अच्छी राजनीति कहाँ सिखलायी गई है ?

(२६ फरवरी, १९३५)

४१

दान का अभिप्राय

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।
गृह्णन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव वा ।।
न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ।।

—याज्ञवल्क्य

इन श्लोकों का अभिप्राय ध्यान देने के योग्य है । पहले श्लोक में दान का पात्र होने के लिए पुरुष में विद्या और तप का होना आवश्यक बतलाया गया है । याज्ञवल्क्य ने यह क्यों लिखा, इसको सोचना चाहिए । संसार में जितने काम होते हैं वे ज्ञान और विचार से होते हैं और उनको उत्पन्न करने तथा उनकी रक्षा करने का भार ब्राह्मणों को दिया गया था और केवल वे ही दान के अधिकारी बतलाये गए थे । भारतवर्ष, जो एक समय भूमण्डल में सच्ची उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था और जिसकी कि हम लोग महिमा गाते हैं और अपने भविष्य की उन्नति के लिए अपने देशवासियों को उत्तेजित करने के निमित्त उसी का स्मरण दिलाते हैं; जिसके विज्ञान, दर्शनशास्त्र और साहित्य से पाश्चात्य विद्वानों की भी बुद्धि चक्कर खाने लगती है; वह अपने ज्ञान और विचारों की उत्कृष्टता के कारण ही ऐसी उन्नत अवस्था को पहुँचा था । पाश्चात्य देशों में ग्रीस भी अपने साहित्य, फिलासफी इत्यादि से ही जगत् में प्रख्यात हुआ । संसार में यदि कोई वस्तु चिरस्थायी है तो ज्ञान और विचार ही हैं और देश की महिमा का अनुमान और उसका आदर उसकी आर्थिक सिद्धि से नहीं, अपितु उसके साहित्य, विज्ञान और आध्यात्मिक उत्कृष्टता से किया जाता है । इसीलिए जिन लोगों को ज्ञान, विचार, साहित्य इत्यादिक की रक्षा और उन्नति का भार सौंपा गया था, वे सबसे ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित किये गए थे और अन्न-

वस्त्र आदि सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त किये गए थे। जिस समाज के सर्व-श्रेष्ठ कार्य का भार उनके ऊपर रक्खा गया था, उसके अन्य वर्णों के मनुष्यों का यह कर्तव्य और धर्म रक्खा गया था वे उनको भोजन-वस्त्रादिक की चिंता से मुक्त रक्खें; अर्थात् उन्हें दान दें जिससे कि उन्हें अपने भोजन-वस्त्रादि की चिन्ता न करनी पड़े।

किसी मनुष्य को किसी लोकोपकारी कार्य में सहायता देना ही पुण्य है। इसीलिए शास्त्रकारों ने ब्राह्मणों को दान देना पुण्य बतलाया है। किन्तु उन्होंने कह दिया है कि :

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।

अर्थात् "जिसमें विद्या और तप नहीं है उसे दान न लेना चाहिए।"—यह क्यों कहा गया है? इसीलिए कि जिस मनुष्य में विद्या और तप नहीं है वह विचारों को उत्पन्न नहीं कर सकता और अतएव वह समाज का कुछ उपकार नहीं कर सकता, और जब वह समाज का कुछ उपयोगी काम नहीं करता तो समाज का यह कर्तव्य नहीं है कि वह उसे कुछ दे। यह भी कहा गया है :

"गृह्णन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव वा।

अर्थात् "यदि ऐसा मनुष्य, जो कि विद्या और तप से हीन है, दान ले, तो वह अपने को तो नीचे गिराता ही है साथ ही देने वाले को भी नीचे गिराता है—पाप का भागी बनाता है"—इसके अभिप्राय को भी ध्यानपूर्वक समझना चाहिए। हम कह चुके हैं कि जिस मनुष्य में तप और विद्या नही है, वह समाज का कुछ उपकार नहीं कर सकता। जिस मनुष्य को बिना कुछ उपकारी काम किये ही लोगों से धन मिल जाता है, वह अवश्य ही नीचे गिरेगा; अर्थात् उसमें आलस्य आदि अवगुण उत्पन्न हो जायेंगे और वह धीरे-धीरे दुराचारी हो जायेगा। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि दाता क्यों नीचे गिरता है—क्यों पाप का भागी बनता है? इसका उत्तर सहज है। क्योंकि यह केवल ईश्वर का ही नियम नहीं, किन्तु गवर्नमेंटों का भी नियम है कि जो कोई किसी अपराधी को अपराध करने में सहायता देता है, वह भी दंड का भागी होता है। इसीलिए जो कोई किसी मनुष्य को मुफ्त में खाना-पीना और रुपया देकर उसे आलसी एवं दुराचारी बनने में सहायता देता है, उसे अवश्य ही पाप का भागी कहना चाहिए। वास्तव में मनुष्य का सत्यानाश करने का सबसे सहज और अव्यर्थ उपाय यही है कि उसे मुफ्त में घर बैठे खाना-पीना दे दिया जाय। रात और दिन सबसे पतित लोग वे ही देखने में आते हैं जिन्हें मुफ्त खाने-पीने को पहिनने और मिलता है।

दूसरे श्लोक में कहा है—"केवल विद्या और तप से मनुष्य दान का पात्र

नहीं हो सकता। उसका सच्चरित्र होना भी आवश्यक है।" सच्चरित्र की आवश्यकता के ऊपर कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि मनुष्य उपकारी कार्य तभी कर सकता है जब कि उसका चरित्र अच्छा हो। दुराचारी मनुष्य यदि बड़ा विद्वान् भी हो, तब भी वह लोकोपकार नहीं कर सकता और उसका लोगों के ऊपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस लेख से हमारे नयी रोशनी वाले उन भाइयों को, जो कि अपने धर्म-शास्त्रों से परिचित न होने के कारण 'सुधार-सुधार', 'परिवर्तन-परिवर्तन' पुकार रहे हैं, समझ लेना चाहिए कि हमारे महर्षियों के बनाये हुए नियमों में किसी प्रकार के सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। वे बुद्धिमत्ता से भरे हुए हैं। किन्तु लोग आजकल उनके अभिप्रायों और तत्त्वों को नहीं समझते और इसीसे उनका दुरुपयोग हो रहा है, और उनसे लाभ के बदले हानि हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को शास्त्रोक्त वचनों का अभिप्राय और तत्त्व समझाया जाय और उनके अनुसार काम किया जाय।

(१० अप्रैल, १९०८)

४२
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्

कई मनुष्यों का मत है कि "हमारी अवनति हमारे धर्म के कारण हो रही है; वर्ण-व्यवस्था ने देश का सत्यानाश कर डाला, हिंदू धर्म में कई कुरीतियाँ हैं जो समाज के लिए हानिकारक हैं, इत्यादि-इत्यादि।" एक प्रकार से लोगों का ऐसा कहना ठीक भी है, क्योंकि किसी वस्तु के हानिकारक या लाभदायक होने का निर्णय उसके फल से किया जाता है। यदि किसी व्यवस्था से लाभ होता है तो वह लाभदायक कही जाती है; यदि हानि होती है तो वह हानिकारक कही जाती है। भारतवासियों में धर्म का अंग प्रधान है, धर्मभाव ही भारतवासियों का विशेषत्व कहा जाता है। परन्तु बिना सोचे-विचारे और बिना उचित कारणों के वर्तमान रहते हुए यह मान लिया जाता है कि भारतवासी धर्म में लगे हुए हैं। और इस कारण कि भारतवासियों की दशा आजकल अत्यन्त शोचनीय है, बिना किसी प्रकार के संकोच के यह कहा जाता है कि धर्म ही उनकी अवनति का कारण है, और उनकी परस्पर की फूट और आपस का वैर वर्ण-व्यवस्था का परिणाम है। किन्तु कोई इस बात का विचार करने को नहीं रुकता कि क्या भारतवासी वास्तव में धर्म में लगे हुए है और क्या प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कर्मों में लगा हुआ है ? यह सत्य है कि बहुत अंश में शास्त्र-विहित विधियों का अंधवत् अनुकरण करके धर्म की विडम्बना की जा रही है; किन्तु बिना किसी कर्म का तत्त्व और सिद्धान्त समझे उसे करना लाभदायक होने के बदले हानि-कारक होता है। इसके अतिरिक्त हमारे नित्य कर्मों में कई ऐसी प्रथाओं का समावेश हो गया है जो कि किसी प्रकार शास्त्र-विहित नहीं हैं। जहाँ कहीं धर्म के उपदेश होते भी हैं, वहाँ धर्म के मूल सिद्धान्त के ऊपर कुछ विचार नहीं किया जाता। बिना मूल सिद्धान्तों को दृढ़ किये धर्म का प्रचार और उसकी उन्नति करना ऐसा ही असम्भव है, जैसा कि बिना किसी आधार के किसी

इमारत को खड़ा करना। यही कारण है कि धर्म अपना स्वरूप नहीं ग्रहण कर रहा है और धर्म से उत्पन्न होने वाली लोकसंग्रहकारी (सोसायटी, समाज को बाँधने वाली) शक्ति उत्पन्न नहीं हो रही है। वस्तुत. धर्म उन व्यवस्थाओं, उन नियमों का नाम है जो समाज को, राज्य के भिन्न-भिन्न अंगों को, धारण किये रहते हैं और इसीलिए इसे धर्म कहते हैं :

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

वैशेषिक दर्शन में लिखा हुआ है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रयसः सिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् "जिससे इस लोक में सुख एवं समृद्धि हो और परलोक में मोक्ष प्राप्त हो वहा धर्म है।" जो कोई विचारपूर्वक हिंदू धर्म के नियमों और व्यवस्थाओं को देखता है, उसे अवश्य ही यह विश्वास हो जाता है कि हिंदू धर्मशास्त्रों के सब उपदेशों का यही अभिप्राय है कि संसार में सुख हो और परलोक में मोक्ष प्राप्त हो। परलोक-संबंधी बातों को जाने दीजिये, वे बहुत गहन और मतमतांतर-युक्त हैं; किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म के जो मूल सिद्धान्त हैं उन सबका उद्देश्य देश में शान्ति, समृद्धि और सुख उत्पन्न करना तथा मनुष्य को पारलौकिक गहन विषयों का चिन्तन करने के योग्य बनाना है।

धर्म के दस लक्षण, मूल सिद्धान्त, यों बतलाये गए है :

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

क्या इन गुणों में वे सब गुण नहीं आ गए, जिनसे कि लोगों में सदाचार की पवित्रता हो, एकता हो, बल आवे और वे सुखी हों ? देश को समृद्ध बनाने के लिए और गुणों की आवश्यकता नही है।

(१ मई, १९०८)

४३
वर्णाश्रम धर्म

लोगों का मत है कि वर्णाश्रम धर्म की प्रथा ही हमारी इस अवनति और परस्पर फूट का कारण है; किन्तु हमारी समझ में वर्णाश्रम धर्म के पालन न होने से ही हमारी यह अधोगति हो रही है और आपस में फूट फैल रही है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ब्राह्मणों को अपना सब कुछ छोड़कर परोपकार में निमग्न होना चाहिए। लोगों को विद्या पढ़ाना, विद्या के भण्डार को बढ़ाना, राज्य के सुप्रबन्ध के लिए नियम बनाना और ऐसी बातों का चिन्तन करना जिनसे संसार का उपकार हो, उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हो और समृद्धि बढ़े—यही उनका कर्त्तव्य था। ब्राह्मणों के लिए सांसारिक सुख-लाभ और सम्पत्ति तुच्छ बतलायी गई थी। यदि ऐसा नहीं बतलाया गया होता तो वे माया-मोह में पड़कर संसार की सेवा नहीं कर सकते और न निर्भय होकर राजा के कार्यों की आलोचना कर सकते थे; क्योंकि उन्हें अपने धन-दौलत के छिन जाने की चिन्ता हो जाती और वे राजा के सामने सत्य न बोल सकते। उनके लिए सांसारिक प्रतिष्ठा त्याज्य बतलायी गई थी। इसलिए वे एक पदवी के निमित्त या राजा के भय के कारण अपने स्वत्व, सत्य और देश के हित को नहीं बेचते थे। वे स्वार्थ-त्याग के पूरे आदर्श थे। परोपकार ही उनका प्रधान लक्षण था। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी; क्योंकि यह आजकल भी देखा जाता है कि प्रतिष्ठा उसी की होती है जो स्वार्थ-त्याग करके परोपकार में लगता है। यह स्वार्थ-त्याग और परोपकार ही है जिसके कारण कि लाला लाजपतराय और गोखले इत्यादि नेता नगर-नगरों में पूजे जाते थे। आजकल कहाँ ऐसे ब्राह्मण हैं जो स्वार्थ-त्याग करके अपना कर्त्तव्य और धर्म का पालन करके देशोपकार में लगे हुए हों?

ब्राह्मणों के बाद में क्षत्रिय! किन्तु कहाँ हैं वे सूर्यवंशी और चंद्रवंशी क्षत्रिय

जो अपने धर्म में प्रवृत्त हों ? क्षात्र धर्म केवल लड़ना ही नहीं है। क्षत्रिय भी विद्याओं में बड़े प्रवीण होते थे। राजा जनक विद्वान् और महात्मा तथा क्षत्रियों के आदर्श हैं। प्राणपण से भी देश के धर्म की रक्षा करना, शत्रुओं से उसकी रक्षा करना, सत्यनिष्ठा, देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों को तिनके के बराबर भी न समझना, रणशास्त्र में प्रवीण रहना यही उनका धर्म था। किंतु अब कहाँ वे अपने इन धर्मों में लगे हुए हैं और न उन्हें अब अस्त्र-शस्त्र में प्रवीण होने का अवसर है; क्योंकि अस्त्र-क़ानून के कारण न तो वे अस्त्र-विद्या सीख सकते हैं और न उन्हें सेना में बड़े-बड़े पद मिलते हैं, जिसमें रहकर वे रण-संबंधी विषयों में प्रवीण हो सकें। वैश्यों का धर्म देश की आर्थिक दशा को सुधारना और उसके धन की रक्षा करना था। किंतु उन्होंने अपना कर्म व्यापारियों के हाथ में दे दिया है।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी अपने-अपने कर्मों और धर्म से गिर गए हैं और सभी किसी न किसी प्रकार से दास बने हुए हैं। दासवृत्ति शूद्रों का लक्षण है, इसलिए हम लोग सब एक प्रकार से शूद्र हो गए हैं। ऐसी व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म कहाँ रहा ? सामाजिक दृष्टि से देखने और विचार करने से यही जान पड़ता है कि वर्णाश्रम धर्म समाज और देश की स्थिति को स्थिर रखने के लिए और उसको समृद्ध बनाने का एक नियम है। पाश्चात्य देशों में जिसे 'डिवीज़न ऑफ़ लेबर' अर्थात् कार्य-विभाजन कहते हैं, उसी को ऋषियों ने वर्णाश्रम धर्म के नाम से कहा और इस कार्य-विभाग का क्रम सभी देशों में प्रचलित है; और वास्तव में बिना इसके देश का कार्य चल नही सकता। देश के लिए विद्वानों की भी आवश्यकता है और ऐसे लोगों की भी आवश्यकता है जो अपने देश को बाहरी शत्रुओं से बचाने के लिए अपने प्राणों को न्योछावर कर दें; और ऐसों की भी आवश्यकता है जो देश के व्यापार, कला-कौशल और व्यवसाय की उन्नति करें। इन सब श्रेणियों के लोग अन्य सभ्य देशों में विद्यमान हैं और अपना-अपना कार्य किये जाते है; अर्थात् वे एक प्रकार से वर्णाश्रम धर्म का पालन कर रहे हैं और इसीलिए समृद्ध भी है। किन्तु हम लोग अधिकतर शूद्रोचित धर्म का ही पालन कर रहे हैं। जिस समय हम अपने-अपने धर्मों के पालन में लग जायेंगे, अर्थात् जिस समय से यहाँ चारों वर्णों के लिए जो-जो धर्म बतलाये गए हैं, उनका अर्थात् वर्णाश्रम धर्म का पालन होने लगेगा, उस समय से हमारे दुःखों का भी विनाश होना आरम्भ होगा।

(१ मई, १६०८)

४४

सच्चा सुख

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य जो-जो कार्य करता है, उन सब में सुख को प्राप्त करना ही उसका उद्देश्य रहता है—वह सुख सच्चा हो, अथवा मिथ्या, यह दूसरी बात है। इसके अतिरिक्त सुखों की भी भिन्न श्रेणियाँ हैं : एक सुख वह है जो स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ-साधन में प्राप्त करता है; एक वह है जो परोपकारी मनुष्य परोपकार में प्राप्त करता है। एक प्रकार का सुख वह है जो निर्दयी क्रूर मनुष्य निर्दयता के साथ निरपराधी को क्लेश देने में प्राप्त करता है; और दूसरे प्रकार का सुख वह है जो दयावान् सहृदय मनुष्य आर्तों के दुःख दूर करने में प्राप्त करता है। अन्त के इन दो प्रकार के सुखों का उदाहरण देने के लिए हम दो वृत्तान्तों का उल्लेख करते हैं, जिनके विषय में हमारे पाठकों में से बहुतों ने सुना होगा। पहले प्रकार के सुख का उदाहरण उस निर्दयी मुग़ल बादशाह के जीवनचरित्र में पाया जाता है, जिसको निरपराध मनुष्यों को कटहरों में छोड़कर व्याघ्र आदि हिंसकजंतुओं से फड़वाने और सर्प तथा बिच्छुओं से डसवाने और फिर उनको तड़पते और कलपते हुए देखने में सुख मिलता था। दूसरे प्रकार के सुख का उदाहरण अमेरिका के एक भूतपूर्व प्रेसीडेण्ट की जीवनी में मिलता है। एक दिन प्रेसीडेण्ट साहब राजसभा में पहुँचे। उनके वस्त्रों में कीचड़ लिपटा हुआ देखकर सभासदों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उन्होंने इसका कारण पूछा। प्रेसीडेण्ट साहब ने कहा कि "मैं घर से आ रहा था। मार्ग में मैंने एक सूअर को कीचड़ में फँसा हुआ देखा। वह निकलने का बहुत प्रबल प्रयत्न कर रहा था, पर निकल नहीं सकता था। मुझसे उसकी वह दशा देखी नहीं गई। मैंने कीचड़ में जाकर सूअर को निकाल दिया।" एक सभासद ने प्रेसीडेण्ट साहब की इस दयालुता की सराहना की। प्रेसीडेण्ट साहब बोल उठे, "इसमें दयालुता की क्या बात है! यह कार्य मैंने अपने स्वार्थ के

लिए किया। इसको मैंने अपने सुख के लिए किया। सूअर की दशा को देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। अपने दुःख को दूर करने के लिए मैंने उसे निकाला।"

एक प्रकार का सुख वह है, जिसको एक शक्तिमान् पुरुष असहाय की सहायता और रक्षा करने में अनुभव करता है; एक प्रकार का वह है, जिसे बलवान् निर्बल को सताने और दबाने में, उसके ऊपर अत्याचार करने में, प्राप्त करता है। एक सुख वह है जो योगी को ध्यान में मिलता है; एक वह है जो कामी को भोग-विलास में मिलता है। एक सुख वह है जो धन-लोलुप को पर-धनहरण में मिलता है; एक वह है जो त्यागी को त्याग में मिलता है। इसी प्रकार सुखों के भेदों का वर्णन किया जा सकता है जो परस्पर विपरीत हैं। सुख में परमार्थ और सात्त्विकता का जितना ही अधिक अंश होगा, उतना ही वह सच्चा और चिरस्थायी होगा।

अब यह देखना है कि सुख क्या वस्तु है। यह चित्त का वह भाव है जो मनुष्य के हृदय में उसकी अभिलाषाओं के पूरा होने से या जिस कार्य में वह लगा हो, उसकी सफलता में या उसके उद्देश्य की सफलता से उत्पन्न होता है। आविष्कर्ताओं को सबसे अधिक सुख उस समय मिलता है, जब उनके आविष्कार (ईजाद) सिद्ध होते हैं। गणितज्ञ को सबसे अधिक सुख उस समय प्राप्त होता है जब वह किसी कठिन प्रश्न या साध्य को सिद्ध कर लेता है। वैज्ञानिक को सबसे अधिक सुख उस समय मिलता है जिस समय वह विज्ञान में किसी नये तत्त्व अथवा सिद्धान्त को निकालने में समर्थ होता है। राजनीतिज्ञ को सबसे अधिक सुख उस समय मिलता है, जिस समय वह किसी लाभकारी क़ानून (ऐक्ट) को पास करवाने में या किसी हानिकारक ऐक्ट को रद्द करवाने में और अपने पक्ष वालों को कुछ अधिकार दिलवाने में सफल होता है। देशभक्त को उस समय परम आनन्द प्राप्त होता है जब वह देश के हित के लिए कोई कार्य कर चुकता है। संगीतप्रेमी के सुख और आनन्द का उस समय क्या ठिकाना, जबकि उसे ताल-स्वर के साथ मालवकोशिक (मालकोंस) या दरबारी कान्हड़ा सुनने को मिलता है। विद्यार्थी के सुख की उस समय क्या सीमा, जबकि वह परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास होता है। चोर और डाकुओं को उस समय सबसे अधिक सुख मिलता है जिस समय उनके हाथ माल लगता है। कामी उस समय सुख का अनुभव करता है जिस समय उसे काम्य वस्तु मिलती है; किन्तु इन्द्रियों या मनुष्य में जो आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं उनको तृप्त करके जो सुख मिलता है वह क्षणिक होता है और यथार्थ में सुख नहीं कहा जा सकता। वह परिणाम में विष के समान होता है। पहले जितना सुख मिलता है, पीछे उसकी अपेक्षा

सहस्र गुना, लक्ष गुना अधिक आपत्तियाँ और कष्ट भोगने पड़ते हैं। किन्तु परोपकार से, आर्तों के आर्तिनाशन से जो सुख मिलता है वह चिरस्थायी और सच्चा होता है और उसकी कोई सीमा नहीं होती :

अपहृत्यार्तिमार्तानाम् सुखं यदुपजायते ।
तस्य स्वर्गोपवर्गो वा कलां नार्हति षोडशीम् ॥"

इन कामों में यदि मनुष्य को कष्ट भी उठाना पड़ जाता है, तो वह उस कष्ट को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है। किन्तु बुरे कर्मों में मनुष्य को क्षणिक सुख के समय भी उससे भविष्य में होने वाली हानियों की चिन्ता उस सुख का पूरा भोग नहीं करने देतीं। सत्कार्य में जिस समय कोई महान् संकट आ भी पड़ता है, उस समय उस कार्य का पुण्य और कार्य की सिद्धि से होने वाले अच्छे परिणाम की आशा उसको उस घोर संकट को सहने के योग्य बना देती है।

उपर्युक्त बातों से यह सिद्ध हुआ कि—

(१) मनुष्य भले-बुरे जितने कार्य करता है, अपने 'सुख' के लिए ही करता है।

(२) सुख उसके उद्देश्य और अभिलाषाओं की पूर्ति होने में मिलता है।

(३) उद्देश्य और अभिलाषाएँ जितनी ही ऊँची हों, उतना ही अधिक सच्चा और चिरस्थायी सुख मिलता है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि सच्चे सुख का अनुभव वही मनुष्य करता है, जिसके चित्त में उत्कृष्ट अभिलाषाएँ और उद्देश्य हों और जो उनकी पूर्ति के लिए दृढ़तापूर्वक यत्न करता जाय। जिन मनुष्यों के चित्तों में सदा निकृष्ट विचार ही रहा करते हैं, जिनके चित्तों में उच्च श्रेणी की अभिलाषाएँ और उदार भाव स्थान नहीं पाते, उनके लिए अपने चित्त में उत्कृष्ट अभिलाषाओं और उद्देश्यों को स्थान देना कठिन है, किन्तु असम्भव नहीं। मनुष्य का चित्त बड़ा कोमल होता है। वह जिस ओर झुकाया जाता है उसी ओर झुक जाता है। यदि वह एक बार परोपकार, देशोपकार के मार्ग की ओर झुकाया जाय और फिर यत्न करके उस मार्ग से विचलित न होने दिया जाय, तो उसमें ये गुण सदा के लिए गड़ जायँगे और ये ही उस मनुष्य की अभिलाषा और उद्देश्य बन जायेंगे। इस अभिलाषा और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह ज्यों-ज्यों यत्न करता जायगा, त्यों-त्यों वह सच्चे सुख का अनुभव करने लगेगा। और इस सुख के आगे उसे और कोई सुख रुचिकर न होगा।

हम अपने पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे इस लेख पर गम्भीरता के साथ विचार करें और आज से इस बात का प्रण कर लें कि हम जितने कार्य

करेंगे, उनमें हमारा मुख्य उद्देश्य अपने भाइयों के क्लेशों को दूर करना, उनकी यथाशक्ति सेवा करना होगा। वे इस बात का अपने चित्त में संकल्प कर लें कि हम यथासम्भव उन गुणों को स्वयं उपार्जन करने में और अपने देश-भाइयों में उनका समावेश करने में अपना सर्वस्व अर्पण करेंगे, जिनके द्वारा हमारे पूर्वजों ने भारत में ऐसी ज्योति फैलायी थी, जिसकी मंद आभाएँ आज तक हमारी इस अन्धकार से आच्छादित दशा में भी हमारा मुँह कुछ उज्ज्वल कर रही हैं।

भाइयो ! स्वार्थ से तुमने अपने को इस अधोगति को पहुँचाया; अब स्वार्थ-रहित हो देश का उद्धार करके अचल सुख का अनुभव करो और अटल कीर्ति एवं पुण्य के भाजन बनो !

(७ अगस्त, १९०८)

४५

धर्मो रक्षति रक्षितः

जो हठ राखै धर्म की,
तेहि राखै करतार !

सृष्टि के आदि से जब से हिन्दू जाति, आर्य-सन्तानों, का कुछ इतिहास हमको मिलता है, उस समय से आज तक सब समय में और सब दशाओं में—सतयुग, त्रेता और द्वापर में—और कलियुग में भी, यदि हिन्दू जाति ने कोई सबसे अधिक विशेषता दिखलायी है तो वह उसका धर्म का प्रेम, धर्म का हठ है। वेदों में और उपनिषदों में, स्मृतियों में और धर्मशास्त्रों में, इतिहासों में और पुराणों में, और अन्ततः काव्यों में और नाटकों में, पृथ्वीराज के रासो में और आल्हा-ऊदल की कथा में, टाड के राजस्थान में और विदेशीय यात्रियों के लेखों में, यदि आर्य-सन्तान का कोई एक गुण सबसे अधिक जाज्वल्यमान पाया गया है, तो वह उसका धर्म का प्रेम है।

राजा हरिश्चन्द्र ने राज-पाट त्याग दिया, अपनी स्त्री को बेच डाला, और अन्त में अपने को चांडाल के हाथ बेच दिया—केवल धर्म की रक्षा के लिए ! दशरथजी ने अपने प्राण से अधिक प्रिय पुत्र युवराज रामचन्द्र को वन भेज दिया, और उनके विरह में अपना प्राण त्याग दिया—केवल धर्म के लिए ! भगवान् रामचन्द्र ने राज्यसिंहासन की संपदा और सुख को छोड़कर वन-वन में घूमने का व्रत धारण किया—केवल अपने धर्म के पालन के लिए ! जब वे वन को जाने लगे, तब माता कौशल्या ने हृदय के दुःख को रोक कर उनका जो मंगल मनाया, उस समय कहा है :

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।।

अर्थात्—"हे रघुकुलशार्दूल ! जिस धर्म का तुम प्रीति और नियम के साथ

पालन करके वन को जाते हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करे !"

पतिव्रता-शिरोमणि सीता ने धर्म ही का पालन करने में अयोध्या का सब सुख छोड़कर, वनचारिणी का वेश धारण कर, अपने प्राणपति के साथ वन की यात्रा की थी और सोने की लंका के स्वामी, तीन लोक को कँपाने वाले प्रचंड प्रतापशाली रावण ने उनको जब अनेक प्रकार का लालच और डर दिखाया, तब धर्म ही का प्रेम था जिसके कारण पतिव्रताओं की सिरमौर सीता ने उस पापी के सहस्रों प्रलोभनों का तिरस्कार कर उससे कहा :

श्री रघुनाथ प्रताप पतिव्रत,
सीता सत नहिं टरई ।

द्वापर में भगवान् कृष्णचन्द्र ने धर्म की रक्षा के लिए ही कंस और उसके साथी राक्षसगणों को मारा था और उत्तरा के मरे हुए पुत्र के जिलाने के समय यही कहा था :

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽद्य पुनः संजीवतादयम् ॥

अर्थात्—"जैसे मैंने धर्मपूर्वक कंस और केशी को मारा था, उसी सत्य के बल से आज यह बालक जी उठे !"

भगवान् कृष्णचन्द्र के विषय में अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है । यह प्रसिद्ध वचन "यतो धर्मस्ततो कृष्णः, यतो कृष्णस्ततो जयः" उनके समस्त उपदेश और कार्यों को संक्षेप में प्रकट करती है । इसके अतिरिक्त धर्मराज युधिष्ठिर और उनके चार धर्मचारी भाइयों का पवित्र चरित्र, आदि से अन्त तक, बड़े संकट में भी धर्म के पालन करने की रोमहर्षण कथा है । उनका समस्त आचरण धर्मात्मा युधिष्ठिर के इस एक वचन से भली भाँति प्रकाशित हो जाता है कि :

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां,
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च,
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥

अर्थात्—"मेरी प्रतिज्ञा को सत्य जानो । मैं धर्म को जीवन से और मोक्ष से भी अधिक अच्छा समझता हूँ । राज्य और पुत्र, एवं यश और धन—ये सत्य की एक कला के बराबर भी नहीं हैं ।"

आधुनिक समय में, जब से इस देश पर यवनों का आक्रमण प्रारम्भ हुआ, तब से भी लाखों आर्यसन्तानों और आर्यललनाओं ने प्राण दे करके अपने धर्म की रक्षा की है और अपने रुधिर की मसि से भारत-भूमि पर ये अमिट वाक्य

लिख दिया है :

प्राण जाहिं वरु धर्म न जाहीं !

चित्तौड़ और राजपूताना की अनन्य वीरभूमि में, जहाँ लाखों आर्य-ललनाओं ने चिता लगाकर अपने सुकुमार शरीर को जला देना स्वीकार किया, किन्तु अपने धर्म से डिगने का विचार तक मन में नहीं आने दिया और जिस भूमि में सहस्रों वीर क्षत्रिय शत्रु से लड़ते-लड़ते मर गए और उनको माथा नहीं नवाया, उसी के वीरों का यह सिंहनाद था :

जो हठ राखै धर्म को,
तेहि राखै करतार !

न केवल राजपूताना में, अपितु भारतवर्ष के सभी छोटे और बड़े, ऊँचे और नीचे विभागों में, हिमालय के ऊँचे शिखरों पर और समुद्र के तट पर, अनन्त आर्य-सन्तान कठिन से कठिन समय में भी प्राण को पण कर अपने आर्य-धर्म की रक्षा करते चले आए हैं। औरंगज़ेब के समय में क्या-क्या अत्याचार हिन्दुओं पर नहीं हुए, कितने द्विजों के माथे का तिलक नहीं मिटा दिया गया, कितनों के जनेऊ नहीं उतार लिये गए, किन्तु उस समय भी करोड़ों हिन्दू अपने धर्म से नहीं डिगे। इतिहास के पढ़ने वालों को उस समय के विकराल अत्याचारों की कुछ आभा-मात्र दिखायी देती है। छत्रपति शिवाजी का नाम यदि आर्य-सन्तान आज आदर, धन्यवाद और हर्ष के साथ स्मरण करती है, तो इसका कारण उस अत्याचार की पराकाष्ठा है जो हिन्दुओं को औरंगज़ेब के समय में सहना पड़ता था और जिससे शिवाजी ने उनको छुड़ा कर फिर आर्य धर्म को सनाथ और सजीव किया था। लेख के विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। सब विदेशी लेखक भी इस बात को स्वीकार करते आए हैं, कि इतिहास के आदि से हिन्दू-समाज एक धर्मप्रधान समाज चला आया है। आर्य-सन्तान धर्म को सबसे बड़ा धन मानते आए हैं।

राज्य खो दिया है, धन-धान्य त्याग दिया है, बन्धुओं का बिछोह सह लिया है और प्राण को भी त्याग दिया है—किन्तु, सामर्थ्य रहते अपने धर्म का त्याग नहीं किया। और कैसे करें ? भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कह गए हैं :

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

और वेदव्यासजी ने सब वेदों और पुराणों के उपदेशों के निचोड़ को महाभारत के अन्त के इस उपदेश में भर दिया है :

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्यत्व नित्यः ॥

अर्थात्—"धर्म को कभी काम के वश होकर, भय से अथवा किसी प्रकार के लोभ में पड़कर भी कभी न छोड़े। प्राण बचाने के लिए भी न छोड़े! धर्म अविनाशी है, सुख और दुःख आते-जाते हैं। जीव अविनाशी है, जिन कारणों से वह देह को धारण करता है, वे अनित्य हैं!"

हमको विश्वास है कि यदि आर्य-सन्तानों को उनके धर्म का उपदेश होता जायगा, तो जब तक पृथ्वीमंडल पर वेद और उपनिषद्, स्मृति और पुराण, रामायण और महाभारत स्थित हैं—जब तक गंगा और यमुना, सिंधु और गोदावरी और अन्य पुण्यतोया नदियाँ भारतभूमि पर प्रवाहित हैं—जब तक मरीचिमालि भगवान् सूर्य, तथा सुधा-रश्मि चन्द्रमा ईश्वर की महिमा का स्मरण दिलाते भारत के गगनमंडल में उदित होते हैं—तब तक भारत-सन्तान अपने पवित्र पुरातन परम उत्कृष्ट धर्म का कदापि त्याग न करेंगे। किन्तु हमारा हृदय इस बात को सोचकर दुःखित होता है कि जिस धर्म को हमारे पूर्वजों ने, हमारे भाइयों ने और हमारी बहिनों ने अनेक प्रकार की यातनाएँ सहने पर, अनेक प्रकार का लालच दिखाये जाने पर भी नहीं छोड़ा, उस धर्म की महिमा न जानने के कारण आज हम उसकी उपेक्षा करने लगे हैं। हम उस लोभ के वश में हो रहे हैं, जिसको भीष्मपितामहजी ने सब पापों का मूल कहा है और जिसके विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है—

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥

अर्थात्—"जिस प्रकार सुन्दर रूप को श्वेत कुष्ठ का एक छोटा-सा भी दाग़ नष्ट कर देता है, उसी प्रकार थोड़ा-सा लोभ भी यशस्वियों के शुद्ध यश को और गुणवानों के प्रशंसनीय गुणों को नष्ट कर देता है!"

जो लोग अज्ञान के कारण अपने धर्म से विमुख हो जाते हैं, उनके विषय में समस्त हिन्दू जाति और विशेषकर हमारे ब्राह्मण भाई अपराधी हैं, जो अपने धर्म का ज्ञान अपने अज्ञानी भाइयों में नहीं फैलाते।

ज्ञानं प्राप्य तु संसारे यः परेभ्यो न यच्छति ।
ज्ञानरूपी हरिस्तस्मै अप्रसन्नो हि लक्ष्यते ॥

अर्थात्—"संसार में ज्ञान प्राप्त करके जो दूसरों को ज्ञान नहीं देता, उसके ऊपर ज्ञानरूपी ईश्वर अप्रसन्न-से दिखलायी देते हैं।"

(२३ अक्तूबर, १९०८)

४६
तप

समय के हेर-फेर से जहाँ हमारे देश में धर्म, राजनीति, इतिहास-प्रभृति विषयों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, वहाँ शब्दों के अर्थ और उनके आभ्यन्तरिक भावों में भी ऐसी तब्दीली हुई कि जिसने हमारे विचारों, चरित्रों, रीतियों और व्यवहारों को कुछ का कुछ बना दिया है, और इसके कारण हमारे जातीय जीवन की काया ऐसी पलटी है कि जब तक उन शब्दों के वास्तविक तात्पर्य और अर्थ को हिन्दू जाति के सम्मुख दुबारा पूर्ण रूप से न रखा जायेगा और उन शब्दों के साथ श्रेष्ठ और उच्च भावों और विचारों से सम्बन्ध न पैदा किया जायगा, तब तक हमारे सामाजिक व्यवहार और नीति-रीति का सुधार होना बहुत कठिन है।

हमारे वर्तमान सब कुसंस्कारों, कुरीतियों, अनाचारों, असद् व्यवहारों और कुलक्षणों के अनेक कारण है। किसी जाति का अधःपतन किसी एक ही कारण से नहीं होता, बल्कि सूक्ष्म और स्थल रूप से होता है। कोई कारण तो साफ तौर से दृष्टिगत होता है और कोई धीरे-धीरे अन्दर से अपना कार्य करता है। यदि हम शब्दों की महान् शक्ति की मीमांसा करें और मनुष्य-समाज तथा मानव-जीवन के प्रत्येक व्यवहार और व्यापार पर ध्यान दें, तो मालूम होगा कि शब्दों ही से बहुत-कुछ होता है। यदि शास्त्रानुसार जगत् का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि सृष्टि के दो अवयव हैं—शब्द और अर्थ। यदि शब्दों के और के और अर्थ कर दिए जायँ तो दुनिया में बड़ी गड़बड़ हो जाय; और ऐसा अनर्थ होने से जीवन के प्रत्येक विभाग में कोई व्यवस्था न रहे। यदि किसी शब्द का दुरुपयोग किया जावे तो वह अपने प्रयोजन और वास्तविक अर्थ को ठीक-ठीक वर्णन नहीं करेगा—और परिणाम यह होगा कि अनेक प्रकार के शब्दों द्वारा मूर्खता और हठ का प्रचार होगा। अतः लोगों को शब्दों के स्वरूप का ज्ञान

कराना अत्यन्त आवश्यक है। किसी जाति के मानसिक और व्यावहारिक जीवन की सभ्यता की इस बात से भली प्रकार परीक्षा हो सकती है कि उसकी धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक शब्दावली के क्या मानी हैं; अर्थात् इन शब्दों को बोलते और सुनते समय वक्ता और श्रोता के मन में क्या भाव और विचार उत्पन्न होते हैं। यदि भाव अच्छे हैं तो जाति की मानसिक और व्यावहारिक दशा अच्छी है, और बुरे हैं तो बुरी। किसी जाति की भाषा का एक-एक शब्द उस जाति के समग्र जीवन का दर्पण है। इसमें हम उनकी अवस्था का पूर्ण रूप से अनुभव कर सकते हैं। यदि शब्दों के उच्चारण करते ही अच्छे विचारों और संस्कारों की लड़ी बँध जाती है, श्रेष्ठ जीवन, विमल चरित्र और उच्च आदर्श चक्षुओं के सामने आ जाते हैं, तो वह जाति आचार के विचार से (Morally) उन्नतिशील कही जा सकती है; और यदि पापमय और नीच संस्कारों का सिलसिला बँध जाता है तो वह जाति अधोगति को प्राप्त है।

हमारे देश में एक अनर्थ तो यह है कि जिन शब्दों के अन्दर हज़ारों वर्ष के उच्च से उच्च और पवित्र से पवित्र भाव भरे थे, उनमें अब नीच से नीच और अपवित्र से अपवित्र भाव उपस्थित हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि बुरे शब्द तो बढ़ते गए और अच्छे शब्दों का अनर्थ होता गया। शब्द से ही मृत्यु है और शब्द ही अमरत्व देता है। वही शब्द संन्यासी है, जिसका मानी सच्चा त्यागी, राग-द्वेष से रहित, परोपकारी, सत्याचरणी, विद्वान् है। वही शब्द संन्यासी है, जिसके मानी भगवा वस्त्र पहने भिखारी के हैं। शब्द तो बैरागी एक ही है, जिसके असली माने वैराग्यमय और त्यागी भाव वाले पुरुष के हैं; लेकिन आजकल उसी के अर्थ, गँजेड़ी, भँगेड़ी, लड़ाकू, मोटे चिमटे वाले फक्कड़ के समान समझे जाते हैं। इसी प्रकार अनेक शब्द हैं, जिन का हमारे देश में दुरुपयोग हो रहा है। उदाहरणार्थ—प्रारब्ध, शौच, योगी, ब्राह्मण, गुरु, व्रत, अहिंसा, विवाह और तप ये सब के सब ऐसे शब्द है जिनकी व्याख्या करने की बहुत आवश्यकता है। हम आज 'तप' शब्द की व्याख्या लिखते हैं और पाठकों को बतायेंगे कि तप क्या पदार्थ है। प्रायः ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न के समय चारों ओर अग्नि जलाकर बैठ जाना, सरदी में जल के अन्दर रातें काटना, पाँव में रस्सा डालकर उलटे लटकना या झूला झूलना, लोहे की कीलों पर नंगे पैर बैठना, नखों और बालों को बढ़ाना, उपवास करना, हाथों और पैरों को बेकाम कर देना, मौन धारण करके वाणी से किसी प्रकार की वार्ता न करना—इस प्रकार की तमाशेबाज़ी को तप समझा जाता है; परन्तु वास्तव में यह तप नहीं। जिस प्रकार हीरे को जलाने से कोयला रह जाता है और वह अपने असली मूल्य को भी खो देता है,

उसी तरह ये वृथा नामधारी तपस्वी अपने शरीर और आयु को नष्ट करते हैं। परमात्मा ने हम को यह शरीर इसलिए नहीं प्रदान किया कि हम इसको वृथा क्षीण करें, बल्कि यह शरीर एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा आत्मा परमात्मा तक पहुँच सकता है। अतः ऐसा तप करना बहुत अनुचित है, आत्मघात है, आत्मा और शरीर की शक्तियों के विकास को रोकने वाला है। ये मूर्ख लोग इस दुष्प्राप्य मानव-जीवन को नष्ट करते हैं और न तो अपने को ही कुछ लाभ पहुँचाते हैं और न दूसरों को।

इसके विपरीत जिस प्रकार अग्नि में स्वर्ण को तपाने से उसके तमाम मल नष्ट हो जाते हैं, कान्ति अधिक आती और मूल्य बढ़ जाता है, इसी प्रकार जो सत्य-रूपी अग्नि में प्रवेश करते हैं, उनका केवल शारीरिक बल ही नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक बल भी अहर्निश वृद्धि को प्राप्त होता है। सच्चा तप निर्बल को सबल, निर्धन को धनी, प्रजा को राजा, शूद्र को ब्राह्मण, दैत्य को देवता, दास को स्वामी और भिक्षुक को दाता बना देता है। सच्चे तप का भाव उस देशभक्त में है जो अपने देश एवं अपनी जाति के गौरव और प्रतिष्ठा, कीर्ति और मान, सम्पत्ति और ऐश्वर्य की वृद्धि और उन्नति के लिए दृढ़ इच्छा रखता है। अनेक प्रकार के दुःखों, संकटों और कष्टों को सहन करने, कठिन से कठिन मेहनत और श्रम को उठाने और विघ्नों से मुक़ाबला करने के लिए उद्यत रहता है। सच्चे देश-प्रेमी और देशानुरागी कल्याण की इच्छा करते हुए तप का अनुष्ठान करते, आत्मा और मन को धर्माचरण-रूपी प्रचण्ड अग्नि में दग्ध करके, अपने और अपने देश की अपवित्रता, मलिनता और अन्य अशुद्धियों को दूर कर जाति को आरोग्यता एवं सुख-सम्पत्ति की योग्यता प्रदान करते हैं। जिन देशानुरागी पुरुषों में तपश्चर्या नहीं, जो मुसीबतों, विघ्नों और आफ़तों का मुक़ाबला करने से घबराते हैं, जो द्वन्द्वों को सहन नहीं कर सकते, जो भूख और प्यास, सर्दी और गर्मी, धूप और छाँह, कोमल और कठोर, मीठा और खट्टा आदि द्वन्द्वों के दास है, वे संसार-रूपी युद्ध-क्षेत्र में कदापि कृतकृत्य नहीं हो सकते।

विधाता ने इस महान् सृष्टि—सूर्य, चन्द्र, तारागण, पर्वत और नदी, सागर और महासागर, अग्नि, वायु और अन्तरिक्ष—को उत्पन्न किया; किस बल से ये सबके सब अपने-अपने कार्य को निर्विघ्न कर रहे हैं? तप से ही इन सबके धर्म की स्थिति है! तप से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। तप से ही आत्मा अज्ञात मार्ग पर चलता और दूसरों को चलाता है। तप से ही कणाद, गौतम, व्यास आदि महर्षियों ने उपनिषदादि शास्त्रों और दूसरे

ग्रन्थों की रचना की थी। तप से ही न्यूटन, डारविन और कांट आदि विद्वानों ने वैज्ञानिक संसार की काया पलट दी है। तप से ही भारत के मनीषी पुत्र अध्यापक बोस ने नवीन चमत्कारों और आविष्कारों को प्रकट कर भारतवर्ष की सूक्ष्म बुद्धि और वैज्ञानिक मेधा का प्रमाण दिया है। तप के बल से ही योरुप और अमेरिका में आज दिन शिक्षा, मनोविज्ञान, चिकित्सा, रसायनविद्या आदि के अनुभूत सिद्धान्तों का आविर्भाव हो रहा है। इन्हीं तपस्वियों ने विचित्र संसार के चित्र उतार कर बड़े-बड़े पहाड़ों और सागरों को नाप डाला और बड़े-बड़े गिरीन्द्रों को चूर्ण कर और महावनों को तृणरहित कर सुन्दर मार्गों और नगरों को बनाया है। अनन्त कोस दूरस्थ नक्षत्रों और तारागणों की गति, स्थान और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को जान लिया है। अनेक कला-कौशलों से आश्चर्यमय अस्त्र-शस्त्र बनाकर देश-देशान्तरों को विजय किया है। अभिप्राय यह है कि तप से अभ्युदय और निःश्रेयस्, स्वर्ग और मोक्ष, धन और सम्पत्ति, नाम और यश, बल और पराक्रम, सुख और शान्ति, राज्य और अधिकार सब की ही प्राप्ति होती है और होगी।

जिस जाति में जितना, जिस प्रकार का और जिस दरजे का तप होगा, वह उतनी ही अधिक बलवान्, तेजस्वी, बुद्धिमान, धर्मनिष्ठ और ज्ञानवान् होगी। क़ौमी इमारत का तप ही मूल, तप ही मध्य और तप ही अन्त है। जिसने इस रहस्य को समझ लिया, उसको दुनिया की कोई राजसत्ता अपने अधीन नहीं कर सकती। जो कुछ दुस्तर है, दुष्प्राप्य है और दुष्कर है, वह तप से सिद्ध हो जाता है।

तप अपने उद्देश्य, प्रयोजन या ग़रज़ से अच्छा या बुरा, ऊँचा या नीचा, तामसी, राजसी और सात्विक एवं कायिक, वाचिक और मानसिक कहलाता है। वर्णों का तप और है और आश्रमों का दूसरा। तप एक को गिराता है, वह ही दूसरे को उठाता है। जो संन्यासी को शक्तिवान् बनाता है, वह ही गृहस्थ को शक्तिहीन करता है।

राजा का तप प्रजा से भिन्न है। ब्रह्मचारी और गृहस्थ के तप में बहुत अन्तर है। जो तप निष्काम-भाव से, फल की इच्छा त्याग कर, शम-दम से सम्पन्न होकर, श्रद्धा और धैर्य के साथ मन, वाणी या शरीर से किया जाता है, वह सात्विक तप कहलाता है। मन को जीतना अर्थात् काम-क्रोध-लोभ-मोह से बचना और शुद्ध संकल्प-युक्त रहना, किसी विषय-वृत्ति के कारण विक्षिप्त होकर फिर भी उस पर विजय प्राप्त करना, व्यवहार-काल में छल-कपट, धोखा और फ़रेब से मन को दूर रखना, मन को सात्विक बनाना—यह मन

द्वारा सात्त्विक तप करना है। वाणी का सात्त्विक तप यह है कि जो वाक्य असत्य, दुःखदायी, अप्रिय और खोटा हो उसको किसी समय, किसी भी अवस्था में मुंह से न निकालना; बल्कि प्रिय, सत्य, मीठे और मधुर वचन बोलना—यह वाणी द्वारा सात्त्विक तप करना है। शरीर से, अर्थात् शरीरावयवों, हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियों—के द्वारा दूसरों की सहायता और सेवा करना, गिरे हुओं को उठाना, देश और जाति के लिए, अपने शरीर के दुःख और कष्ट की परवाह न कर, बल्कि यदि आवश्यकता हो तो धर्म और परोपकारार्थ अर्पण कर देना—यह काया का सात्त्विक तप है। परन्तु अपनी स्तुति, मान, पूजा, उत्कार, प्रतिष्ठा और नाम या भोग-विलास के लिए इन्हीं सब कामों को मन, वाणी व शरीर द्वारा करना इनको राजसी बना देता है। जो तप अविवेक से दूसरों को हानि पहुँचाने, दिल दुखाने, द्वेष और शत्रुता के साथ किया जाता है, वह तामसी है। इन तपों का भिन्न-भिन्न वर्णन करने से अभिप्राय यह है कि लोग अपनी-अपनी मन वाणी और शरीर की परीक्षा करें और सात्त्विक तपों को ग्रहण करते हुए राजसी और तामसी को त्याग दें। क्या चोर और डाकू, कपटी और फ़रेबी लोग, अपने-अपने कामों को हिम्मत, हौसला और दिलावरी के साथ तकलीफ़ों और आफ़तों से लापरवाह होकर नहीं करते ? लेकिन भेद इतना है कि इनकी हिम्मत या हौसला तामसी है, न कि सात्त्विक। ये लोग भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के संकट और मुसीबतों को सहन करते हुए मन और शरीर को मज़बूत बनाते हैं और हमेशा अनेक प्रकार के विघ्नों के आने पर भी अपने काम से विरत नहीं होते; लेकिन इनका साहस और पुरुषार्थ पाप और अधर्म को बढ़ाता है; और सच्चा साहस और पुरुषार्थ पाप और अधर्म को घटाता और मनुष्य-समाज में सुख और शान्ति के राज्य को स्थापित करता है।

(१५ जनवरी, १९०९)

४७

धर्मानुसार प्रतिनिधियों का चुनाव

यह भली-भाँति प्रतिपादित हो चुका है कि धर्म के आधार पर प्रतिनिधियों का चुनाव अनावश्यक और असम्भव है। अब, इससे क्या-क्या हानियाँ होंगी, इस पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। **मुसमलानों की यह प्रबल पुकार है कि नीचे से लेकर ऊपर तक मुसलमान प्रतिनिधियों को मुसलमान ही छाँटें;** अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों, ज़िला-बोर्डों और भावी विलेज-बोर्डों (ग्राम-सभाओं) आदि के लिए भी मुसलमान प्रतिनिधियों को मुसलमान ही चुनें। छोटे लाट और बड़े लाट की कौंसिलों के लिए भी मुसलिम प्रतिनिधियों का चुनाव मुसलमानों के द्वारा ही हो। **जो लोग इस प्रकार के चुनाव के पक्षपाती हैं, उन्होंने मानों इस बात को स्वयं-सिद्ध की तरह मान लिया है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के हित में परस्पर-विरोध है।** इस प्रकार से चुनाव करना अशिक्षित ग्रामवासियों से लेकर वाइसराय की कौंसिल के शिक्षित प्रतिनिधियों तक को मानो यह बतलाना है कि हिन्दू और मुसलमान, इन दोनों जातियों में परस्पर भेद ही नहीं, अपितु विरोध भी है। किन्तु यह बात बिल्कुल असत्य है। लार्ड मार्ले के प्रकाशित किये हुए मसविदे की जिन दो बातों के कारण लोगों को सब से अधिक सन्तोष हुआ था, वे यह थीं कि उसमें मुसलमान और हिन्दू जाति में कोई भेद नहीं रक्खा गया था और भेद और विरोध की सम्भावना मिटा दी गई थी और प्रान्तीय कौंसिलों में ग़ैरसरकारी सभासदों की संख्या अधिक रखी गई थी। किन्तु यदि अलग-अलग चुनाव की प्रणाली निश्चित की जायगी, तो हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर भेद और विरोध बढ़ता जायेगा और कौंसिलों में ग़ैरसरकारी सभासदों की संख्या का अधिक होना प्रजा के लिए निष्फल हो जायगा। क्योंकि ग़ैरसरकारी सभासदों की संख्या अधिक होने का लाभ तभी प्राप्त हो सकता है जब कि सब ग़ैरसरकारी प्रतिनिधि एकमत होकर कार्य करेंगे; किन्तु ऐसा

होना अत्यन्त कठिन है। जब हिन्दू और मुसलमान भिन्न-भिन्न द्वारों से चुने जायँगे और इस प्रकार उनको यह दिखलाया जायगा कि जो एक जाति के लिए हितकर है, वह दूसरी जाति के लिए अहितकर है, तब क्या मुसलिम प्रतिनिधि यह न समझेंगे कि उनका कर्तव्य है कि वे और जातियों के प्रतिनिधियों के प्रस्तावों का विरोध करें? कौंसिलें तभी शक्तिमान् और लाभदायक हो सकती हैं, जब उनमें उदार चित्त वाले और योग्य प्रतिनिधि चुने जायँ। लार्ड मार्ले ने चुनाव की जो प्रणाली प्रकाशित की थी, उससे यह बहुत सम्भव था कि कौंसिलों के लिए ऐसे प्रतिनिधि चुने जायँ जो योग्य हों और यह भलीभाँति समझते हों कि भिन्न-भिन्न जातियों के हितों में परस्पर घना सम्बन्ध है। **जो प्रतिनिधि हिन्दू और मुसलमानों के द्वारा मिल कर चुना जाता, वह भलीभाँति यह समझता कि मैं हिन्दू और मुसलमान दोनों का प्रतिनिधि हूँ और मुझे दोनों जातियों का हित करने का यत्न करना चाहिए, किन्तु जब मुसलमान प्रतिनिधि अलग चुने जायँगे, तो यह बात न हो सकेगी।** आश्चर्य नहीं, यदि मुसलमान प्रतिनिधि यह समझें कि हमें मुसलमानों का ही हित करना चाहिए और यह भी सम्भव है कि वे हिन्दुओं के प्रस्तावों का विरोध करें और इस प्रकार हिन्दुओं को हानि पहुँचाने के साथ ही साथ अपने को भी हानि पहुँचायें। क्योंकि कौंसिलों में जो प्रस्ताव पेश होंगे, वे सभी जातियों के लिए हितकारी होंगे और उनके पास न होने से सभी जातियों को हानि पहुँचेगी। **सब विचारवान् देश-हितैषियों का यह मुख्य उद्देश्य है कि हमारे देश में जो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, वे एकमत होकर कार्य करना सीखें और हमारा देश एक राष्ट्र बने; किन्तु भिन्न-भिन्न जातियों में इस प्रकार भेद बढ़ने से इस उद्देश्य का सफल होना असम्भव है।** इस प्रकार के भेदयुक्त चुनाव से न केवल प्रजा को हानि पहुँचेगी, अपितु

गवर्नमेंट के कार्य में बाधा

भी पड़ेगी। कौंसिलों में शान्ति के साथ कार्य नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त जब मुसलमानों के ऊपर उनकी 'राजभक्ति' आदि के विचार से विशेष कृपा की जायेगी, तो आश्चर्य नहीं होगा यदि सिक्ख-पारसी आदि जातियाँ भी अपने को विशेष कृपापात्र दिखलाने के लिए अपने दावे पेश करें। विशेषकर, सिक्ख लोग अपने राजनीतिक महत्त्व का सच्चा दावा पेश करेंगे; क्योंकि सिक्ख सिपाही अंगरेज़ी राज्य के कितने प्रबल सहायक हैं, यह बात सिक्ख भली-भाँति जानते हैं और गवर्नमेंट भी जानती है। 'मेंचेस्टर गार्जियन' में एक लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "यदि गवर्नमेंट मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का अधिकार देगी तो वही अधिकार सिक्खों, मराठों, राजपूतों, पारसियों, ईसाइयों

आदि को भी देना पड़ेगा। पर प्रत्येक जाति और धर्म के लोगों को अपने-अपने प्रतिनिधियों को अलग-अलग चुनने का अधिकार देने से न केवल प्रत्येक प्रान्त और गाँव के निवासियों में परस्पर द्वेष और ईर्षा बढ़ जायेगी, अपितु इससे राजनीतिक आपत्तियाँ भी उत्पन्न होंगी और वे इतनी भयानक होंगी कि उनका अनुमान अनुभव-प्राप्त और दूरदर्शी प्रबन्धकर्त्ता ही कर सकते है।"

इस भेद की नीति से देश की प्रगति के कार्य में कितनी भयंकर गड़बड़ी पड़ेगी, यह प्रत्येक विचारवान् और निष्पक्ष व्यक्ति सोच सकता है। जो अँगरेज़ इस समय मुसलमानों का पक्ष कर रहे हैं, उनसे हमारा यही कथन है कि Divide Et Impera अर्थात् **दो जातियों को आपस में लड़ा कर उनके ऊपर शासन करने की नीति, अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। ऐसी नीति से कोई राज्य स्थिर नहीं रह सकता। राज्य वही स्थिर रह सकता है जो सत्य और न्याय के आधार पर स्थित है।** उसी पत्र में लेखक ने इस विषय में जो लिखा है, उसका अर्थ यह है कि "यदि अँगरेज़ी शासक इस प्रकार भेद-नीति को काम में लायेंगे तो भारतवर्ष में अँगरेज़ों का राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिकेगा। कुछ शासक लोग अवश्य ही मुसलमानों को इसलिए इनाम देना चाहेंगे कि वे कांग्रेस से अलग रहें, किन्तु जब पारसी और हिन्दू अधिकारों और सुधारों के लिए लड़ें, उस समय उनसे अलग रहना; तथा उनके प्रयत्नों के द्वारा फलस्वरूप जब अधिकार मिलें, तो उनमें सबसे बड़े भाग के लिए दावा करना—क्या यही विशेष राज्यभक्ति का प्रमाण है? गवर्नमेंट आॅफ इडिया अभी इतनी नीचे नहीं गिर गई है कि वह एक जाति को न्याययुक्त और नियमबद्ध आन्दोलन से दूर रहने के लिए घूस दे। यदि समान योग्य और अभिमान रखने वाली और समान राजभक्त जातियों में से कोई जाति-विशेष कृपा के लिए चुनी जायगी, तो भारतवर्ष में बहुत बड़ी राजनीतिक आपत्तियाँ उपस्थित होंगी।"

अनुभव से भी यही सिद्ध होता है। सर फुलर ने पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को अपनी प्रिय ललना (Favourite wife) कहा था, और कुछ स्वार्थी लोगों ने मुसलमानों और हिन्दुओं में वैमनस्य उत्पन्न करने का यत्न किया था। इसका परिणाम कितना भयंकर और शोचनीय हुआ, यह सभी लोग जानते हैं। किन्तु गवर्नमेंट का धर्म है कि वह ऐसे क़ानून बनाये और उपाय करे, जिससे देश की भिन्न-भिन्न जातियों में एकता बढ़े, न कि ऐसे जिनसे उनमें भेद बढ़े। हम आशा करते हैं कि जिन अफसरों के ऊपर देश के प्रबन्ध का भार है और देश में सुप्रबन्ध जिनका धर्म है, वे उन लोगों को किसी प्रकार प्रश्रय न देंगे, जो दो जातियों में भेद उत्पन्न करने का यत्न कर रहे हैं। **(१९ फरवरी, १९०९)**

४८
धर्मानुसार प्रतिनिधियों का चुनाव (२)

एक ओर से अँगरेज़ जाति का अनुदार दल हिन्दुओं की राजनीतिक आकांक्षाओं का विरोध और मुसलमानों का पक्ष कर रहा है और दूसरी ओर मुस्लिम लीग आदि सभाएँ हिन्दुओं का विरोध कर रही हैं। हिन्दुओं को एक ओर उस अँगरेज़ी दल के विरोध का सामना करना है, जो भारतवासियों को वास्तविक अधिकार देने की चर्चा-मात्र से घबड़ाता है और भारतवासियों में स्वतंत्रता की पवित्र आकांक्षा के आविर्भाव के चिह्नों को भी राजविद्रोह समझता है। दूसरी ओर उन्हें उन मुसलमानों के विरोध का सामना करना है, जो क्षणिक लाभ के लालच में पड़ देश के चिरस्थायी लाभ की जड़ को काटते हैं, या स्वार्थ के कारण यह भूल जाते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही दशा में हैं, एक ही नाव में बैठे हुए हैं; या जो भारतवासियों को अधिकार देने के विरोधियों के जाल में फँस कर यह भूल जाते हैं कि जो लोग हिन्दू और मुसलमानों को लड़ाने का प्रयत्न करते हैं, वे केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और दोनों जातियों को निर्बल बनाना चाहते हैं। किन्तु हिन्दुओं को इन लोगों से द्वेष न करना चाहिए। ये बहकाये हुए लोग द्वेष के नहीं, वरन् दया के पात्र हैं। हमें केवल यही प्रार्थना करनी चाहिए कि ईश्वर इन्हें सुबुद्धि दे। न हम लोगों को हताश होना चाहिए। हमारे मार्ग में निस्सन्देह अगणित कठिनाइयाँ हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य को कठिनाइयों का सामना करने से ही बल प्राप्त होता है। जिस मनुष्य को कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, उसमें यथार्थ बल उत्पन्न नहीं होता। संसार में जितने मनुष्यों ने या जितनी जातियों ने बड़े कार्य सिद्ध किये हैं, उन सभी को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। क्या राजनीति में, क्या धर्म में, क्या विज्ञान में सफलता प्राप्त करने में, राजनीतिज्ञों, धर्मप्रचारकों, आविष्कर्ताओं—सभी को अत्यन्त घोर

संकटों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। जितना कड़ा कार्य होता है, उसके सिद्ध होने में उतनी ही बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं और उतना ही अधिक उसमें स्वार्थ-त्याग करना पड़ता है—और सिद्धि-प्राप्ति के अनन्तर उससे उतना ही यश और पुण्य प्राप्त होता है। अपनी जाति को संसार की सभ्य जातियों के समान बलवान् बनाना, उनके बीच आदरणीय पद पाना, इससे अधिक बड़ा एवं पुण्य का कार्य और क्या हो सकता है! इसके लिए हमें बड़े-बड़े स्वार्थत्याग करने पड़ेंगे और कष्ट सहने पड़ेंगे। जिनमें सामर्थ्य है और जो समृद्ध हैं, उनको अपने सुख-दुःख की कुछ भी चिन्ता न करके अपनी सामर्थ्य और समृद्धि को अपने असमर्थ और दीन भाइयों की सेवा में अर्पण करना पड़ेगा। मनुष्य और पशु में क्या भेद रहा, यदि वह अपने असंख्य भाई-बहिनों को अत्यन्त क्लेश की दशा में देख कर भी स्वयं सुख भोग करता रहे? चाहे हम कुछ काल तक वज्र-सा हृदय बना कर अपने पीड़ित भाइयों के बीच में आनन्द और सुख-भोग कर लें, किंतु सदा हम ऐसा नही कर सकेंगे। जो दशा हमारे भाइयों की हो रही है, उसका कभी न कभी हमें भी भागी बनना पड़ेगा। यदि भाग्यवश हमें न बनना पड़े, तो हमारी सन्तानों को अवश्य बनना पड़ेगा।

इसलिए सब हिन्दुओं को इस समय सावधान होना चाहिए। उन्हें इस बात का बार-बार चिन्तन करना चाहिए कि जिस आर्य जाति ने संसार में सभ्यता को जन्म दिया, जिस जाति ने सभ्यता को पराकाष्ठा तक पहुँचाया, जिस जाति ने सब विद्याओं को जन्म दिया; उसी जाति की अपनी ही भूमि में, अपनी ही आर्यभूमि में, आज गिनती नहीं हो रही है और मुसलमानों के कुछ नेताओं को यह कहने का साहस हुआ है कि वे अधिक राजनीतिक महत्त्व के पात्र हैं। स्वाभिमान-सम्पन्न जीवन ही सार्थक है। सब हिन्दुओं को पूर्वोक्त बात स्मरण रखनी चाहिए और अपनी जाति में उचित गुणों को उत्पन्न करके यह दिखला देना चाहिए कि वह संसार की किसी जाति से, किसी भी गुण में कम नही है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा किसी जाति से राजनीतिक महत्त्व में कम समझा जाना हमारी जाति के लिए अत्यन्त अपमान और कलंक का विषय है। इस कलंक और अपमान को मिटाना सब हिन्दुओं का कर्तव्य होना चाहिए। यह मुसलमानों या किसी और जाति का विरोध करने से नहीं मिटेगा। इसको मिटाने का एकमात्र उपाय अपने

कर्तव्यों का पालन

करना है। जिस समय हम सब अपना-अपना कर्तव्य पालन करने लग जायेंगे, उस समय हमारे सब दुःख-दारिद्र्य और कलंक स्वयं दूर हो जायेंगे; हमारे

धर्म-गुरुओं और आचार्यों का कर्त्तव्य है कि वे हमें धर्मोपदेश करें। हमारे धर्म में कहा है—**सत्यान्नास्ति परो धर्मः**। हमारे आचार्यों को चाहिए कि वे प्रथम हम लोगों को सत्य का उपदेश करें और हमें उसका पालन करना सिखायें। जो मनुष्य सत्यवादी होता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। सत्य ही से सब कार्य सफल होते हैं। सब कार्य, विशेषकर बड़े-बड़े कार्य संहति-साध्य हैं; अर्थात् वे कई मनुष्यों के मिलकर कार्य करने से सिद्ध होते हैं। बिना कई लोगों के मिले कोई बड़ा कार्य नहीं हो सकता। लोग आपस में मिलकर तभी कार्य कर सकते हैं, जब उनमें परस्पर विश्वास हो। परस्पर विश्वास तभी हो सकता है, जब सब-के-सब सत्य के अनुगामी हों। हमारे शास्त्र में 'निष्काम' कर्म की भी बड़ी महिमा गायी गई है। भगवद्गीता में निष्काम कर्म की ही महिमा गायी गई है। जो लोग निष्काम भाव से काम नहीं करते, किन्तु अपने यश-कीर्ति या किसी और उद्देश्य से करते हैं, वे अपने कार्यों में सफल नहीं होते। न ऐसे कई लोग आपस में मिलकर किसी कार्य को चला सकते हैं। कारण यह कि एक समझता है कि 'इससे अमुक का नाम हो रहा है, मैं इसमें क्यों अपना समय और शक्ति नष्ट करूँ ?" ऐसा ही दूसरा समझता है और ऐसा ही तीसरा—परिणाम यह होता है कि उन लोगों में परस्पर ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं और कार्य सफल नही होने पाता। किन्तु जहाँ निष्काम भाव से कार्य होता है वहाँ लोग एक-दूसरे की सफलता देखकर प्रसन्न होते हैं और एक-दूसरे के प्रति प्रेम और सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है और कार्य में शीघ्र ही सफलता प्राप्त होती है। सकाम भाव से कार्य करने वालों को, आपत्तियाँ कार्य करने से विमुख कर देती हैं। किन्तु निष्काम भाव से कर्म करने वाले लोग यह समझकर कि जो कार्य हम कर रहे हैं, वह ईश्वर का कार्य है और इसमें ईश्वर हमारा सहायक है, किसी विघ्न या बाधा के कारण पीछे नहीं हटते। एक और बड़ा उपदेश, जो हमारे धर्म में सिखलाया गया है, वह यह है—**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**। इसका आशय यह है कि जो कार्य अपने लिए अहितकर हो, उसे पराए के लिए न करे। यदि हमारे आचार्य लोग इस वचन का हमें उपदेश करें और इसका हमसे प्रतिपालन करायें, तो देश में परस्पर फूट और विरोध के एवं जातीय दुर्बलता के जितने कारण हैं वे सब दूर हो जायेंगे। जब एक मनुष्य अपने को लाभ पहुँचाने के लिए दूसरे को हानि पहुँचाने का यत्न करता है और सत्य का पालन नहीं करता, तभी तो आपस में झगड़े हुआ करते हैं और हर महीने लाखों रुपए अदालतों में व्यय होते हैं, और इस पर भी झूठी गवाहियों के कारण न्याय नहीं हो पाता। 'अलोभ' की भी हमारे शास्त्रों

में बहुत महिमा लिखी गई है। यह लोभ में पड़ने का फल है कि हमारे अनेक देशभाई एक-दूसरे का गला काटने के लिए तैयार हो जाते हैं। यदि हमारे देशभाई लोभ को छोड़ दें तो देश-द्रोहियों एवं धर्मद्रोहियों, सभी का लोप हो जाये। हमारे शास्त्रकारों ने हमें उपदेश किया है—"ईश्वर ने हमें जो कुछ भी दिया है, उसे हम ईश्वर की सेवा में अर्पण करें। ईश्वर की सेवा करना उसके उत्पन्न किये हुए प्राणियों की सेवा करना है। जो ईश्वर की दी हुई शक्तियों को उसकी सेवा में, अर्थात् उसके प्राणियों को सहायता देने के काम में, नहीं लाता, वह चोर कहा गया है" :

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तान् प्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

यदि हमारे आचार्य और धर्मगुरु हमें इन बातों का उपदेश करें और इनका पालन करायें, तो देश के दुःख-दारिद्र्य को मिटाने का काम अत्यन्त सहज हो जाय। यदि प्रत्येक धनी मनुष्य यह समझे कि मुझे ईश्वर ने जो धन दिया है, वह मेरा नहीं है, किन्तु उसी का है और उसे उसी के प्राणियों की सहायता के लिए व्यय करना चाहिए, तो असंख्य दीन प्राणियों का पालन हो जाय। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि धनी लोग मनुष्यों को मुफ्त में खाना-पीना दें। उनको चाहिए कि वे अपने रुपए को विद्या के प्रचार में व्यय करें, जिसमें देशवासी पढ़-लिख जायँ और रुपया कमाने के योग्य हो जायँ। इस प्रकार अनेक देश-वासियों को रोज़गार मिलता जायगा और जिन लोगों को अपनी जठराग्नि की शान्ति के लिए निन्दित और घृणित तथा देश के लिए हानिकारक कार्य करने पड़ते हैं, वे भी कल-कारख़ानों में नौकरी करके प्रतिष्ठा के साथ जीवन-निर्वाह कर सकेंगे।

(२६ मार्च, १९०९)

४६

हमारी सनद और राजकर्मचारी

पाठकों को विदित होगा कि सन् १८५८ में, जब भारतवर्ष का शासन ब्रिटिश गवर्नमेंट के हाथ में आया, उस समय महारानी विक्टोरिया की ओर से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया था, जिसके आशाप्रद वाक्यों पर दृढ़ विश्वास करके प्रजा-समूह शान्त हो गया। परन्तु यह देखकर दुःख होता है कि सब समय हमारे साथ वैसा बर्ताव नहीं किया जाता है, जैसा कि उस घोषणा में कहा गया था। उक्त घोषणा में एक जगह लिखा है—

And it is our further will, that, so far as may be, our subjects, of whatever race or creed, be freely and impartially admitted to offices in our service, the duties of which they may be qualified by their education, ability and integrity, duty to discharge.

अर्थात् "हम लोगों की यह भी इच्छा है कि हम लोगों की प्रजा में जो लोग सुशिक्षा, कार्यदक्षता और ईमानदारी से राजकार्य करने के योग्य हुए हैं, वे जहाँ तक हो सके, जाति-धर्म आदि का बिना विचार किये; अर्थात् बिना पक्षपात के, हम लोगों के अधीन राजकार्य में बहाल किये जायँ।"

परन्तु खेद का विषय है कि हमारे शासक इस प्रतिज्ञा के अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। सन् १६०५ ई० में माननीय मिस्टर गोखले ने सरकारी कागज़-पत्रों के सहारे एक तालिका तैयार करके भारतीय व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित की थी, जिससे यह अच्छी तरह प्रमाणित होता था कि भारतवासियों में योग्यता होते हुए भी उन्हें राजकार्य में ऊँचे पद नहीं दिये जाते। किन्तु उसका कुछ भी फल नहीं हुआ; क्योंकि वह लार्ड कर्ज़न के शासन का समय था, जिन्होंने अपने प्रत्येक काम में इस पवित्र घोषणा-पत्र की

प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन किया और उसे 'असम्भव सनद' (Impossible Charter) कहकर उड़ा दिया था। जिन लार्ड कर्ज़न के दो-एक कार्यों का उल्लेख करके डाक्टर वालेस ने कहा था कि "महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र एक पवित्र प्रतिज्ञा-पत्र होने पर भी कल्पित और निर्जीव-सा हो गया है। लार्ड जार्ज हैमिल्टन और लार्ड कर्ज़न को ही यह काम सौंपा गया है कि वे विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का उल्लंघन करें, उसकी खूबसूरती को नष्ट कर दें, उसे कपट (Duplicity) का जामा पहना दें और इस पवित्र स्वर्गीय प्रतिज्ञा को प्रतारणा के रूप में परिणत कर दें।" उनके समय में ऐसे कार्यों का होना स्वाभाविक ही था। किन्तु इस समय भी भारतीय राज्य-सचिव (Secretary of State for India) के कथन में इस कुटिल नीति का आभास पाकर किसको दुःख और आश्चर्य नहीं होगा?

अभी हाल में हाउस ऑफ कॉमन्स में इसी विषय का एक प्रश्न उठा था। मिस्टर मैक्कालम स्कॉट ने भारतीय राज्य-सचिव से महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के उपर्युक्त अंश का हवाला देकर पूछा था :

"क्या आप जानते है कि स्टेट सैटिलमेंट्स की औपनिवेशिक गवर्नमेंट (Colonial Office) ने हाल में वहाँ के सिविल और पुलिस विभाग की नौकरियों से उन सब लोगों को अलग कर दिया है जिनके पिता और माता दोनों यूरोपियन नहीं हैं और वहाँ के अधिवासीगण इस कार्य से अपने उन स्वत्वों (Civil rights) की उपेक्षा समझ रहे है, जो उन्हें घोषणा-पत्र के अनुसार दिये गए थे? यदि जानते है, तो आप गवर्नमेंट को इस विषय में क्या करने की सम्मति देते हैं?" इसके उत्तर में सहायक राज्य-सचिव (Under Secretary) ने कहा, "इस समय हम इसका निर्णय करना नहीं चाहते कि घोषणा-पत्र का प्रयोग उस उपनिवेश में भी हो सकता है या नहीं, जो गत ४५ वर्षों से भारत-गवर्नमेंट के अधीन नहीं है; किन्तु हम आपका ध्यान इन शब्दों के प्रयोग की ओर आकर्षित करते हैं 'So far as may be' अर्थात्, 'जहाँ तक हो सके।' उत्तम शासन के ख़याल से यह आवश्यक है कि वर्तमान नियम के अनुसार ही कार्य किया जाय, जिसका प्रयोग बहुत दिनों से होता आया है।" इस पर मिस्टर मैक्कालम स्कॉट ने फिर पूछा—"क्या आप समझते हैं कि 'जहाँ तक हो सके' इस वाक्यांश के प्रयोग का यही अर्थ है कि जिनके माता-पिता दोनों यूरोपियन नहीं हैं, वे सब एकदम अलग रक्खे जायँ?" मिस्टर हारकोर्ट ने उत्तर में कहा, "जी हाँ!"

मिस्टर हारकोर्ट का यह उत्तर कहाँ तक उचित हुआ है, सो पाठक स्वयं

समझ सकते हैं। मिस्टर हारकोर्ट ने जिस वर्तमान नियम पर इतना ज़ोर दिया है वह राजकीय घोषणा तथा पार्लमिण्ट ऐक्ट के भी विरुद्ध है। ऐसी अवस्था में क्या कोई भी विचारशील पुरुष इसे उचित समझेगा कि इस अनुचित नियम के अनुसार कार्य हो और राजकीय घोषणा की उपेक्षा की जाय? हमारे देश-भाई चिरकाल से इस अनुचित नियम का विरोध करते आ रहे हैं, और जब तक यह नियम उठा न दिया जायगा, तब तक वे कदापि सन्तुष्ट नहीं होंगे। राज्य-कार्य का भार योग्य पुरुषों के हाथ में रहने से ही देश में शान्ति और सुव्यवस्था प्रतिष्ठित हो सकेगी, चाहे वे अँगरेज़ हों या भारतवासी। हमारे कई भाइयों ने देशी रजवाड़ों में ऊँचे से ऊँचे पदों पर रहकर दिखा दिया है कि भारतवासी कितने ही सिविलियनों की अपेक्षा अधिक योग्यता से शासनकार्य कर सकते हैं। फिर इसकी क्या आवश्यकता है कि उनकी योग्यता का तिरस्कार करके भारतीय प्रजा-वृन्द को असन्तुष्ट किया जाय और राजकीय प्रतिज्ञा भंग की जाय तथा व्यर्थ के जातीय पक्षपात के वशीभूत होकर शासन का व्यय बढ़ाया जाय? प्रजा की उचित आकांक्षाओं की उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित और हानिकारक है।

(२ मई, १९१२)

५०

भारतीय सेना

पाठकों को विदित होगा कि जनरल सर विलियम निकल्सन के सभापतित्व में एक कमेटी भारतीय सेना-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिए बैठी है। निःसन्देह यह उचित ही हुआ है, तथापि यह कहने का साहस नहीं होता कि इससे हम लोगों को कुछ लाभ अवश्य ही होगा; क्योंकि हम जानते हैं कि हम भारतवासी हैं और आजकल भारनवासी के पर्यायवाचक शब्द दीन, दुःखी, और जिसकी आशा कभी भी फलीभूत न हो, है। अस्तु

कमेटी इसलिए बनायी गई है कि वह इस प्रश्न पर विचार करे कि भारत में सेना किस प्रकार की और कितनी हो। यह बड़े दुःख की बात है कि रिपोर्ट प्राइवेट रहेगी, वह हाउस ऑफ कॉमन्स में न रक्खी जायगी। सर्वसाधारण के सामने कमेटी की रिपोर्ट रखने से तथा उनकी सम्मति लेने से अधिकतर लाभ ही होता है। अस्तु

दो भावों से सेना-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है : एक तो भारतीय-भाव से और दूसरे समस्त ब्रिटिश साम्राज्य के भाव से। हम आशा करते हैं कि कमेटी के सभ्य कृपा कर भारतीय भाव को अधिक महत्त्व प्रदान करेंगे। भारतीय सेना-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम लोग यह जान लें कि सेना की आवश्यकता क्यों है। सेना इसलिए रक्खी जाती है कि (१) वह आभ्यन्तरिक शान्ति रक्खे, और अन्य राष्ट्रों के आक्रमणों से भारत की रक्षा करे; या इसलिए कि (२) वह समस्त एशियाई ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करे और इंग्लैंड की प्रभुता बढ़ावे ? यदि सेना पूर्वकथित बातों के लिए है, तब हम लोगों को यह विचार करना आवश्यक है कि जितनी सेना वर्तमान समय में है वह उस कार्य के लिए काफ़ी है या अधिक है। यदि सेना दूसरी बातों के लिए है, तब यह विचार उपस्थित होता

है कि समस्त साम्राज्य की रक्षा का भार ग़रीब भारतवासियों के माथे ही क्यों रक्खा जा रहा है ?

यहाँ पर बहुत-से सज्जन यह कहने को उद्यत हो जायँगे कि इंग्लैंड केवल भारत की हितेच्छा से इतना झंझट उठाये हुए है; भारत से उसे तनिक भी लाभ नहीं है और ऐसी अवस्था में इंग्लैड का एक पैसा भी खर्च करना ठीक नहीं है। हम यहाँ पर इस प्रश्न को उठाकर व्यर्थ का वितण्डावाद खड़ा नही करना चाहते कि इंग्लैंड को भारत से कितना लाभ है।

माना कि इंग्लैंड को भारत से तनिक भी लाभ नहीं है, और इसीलिए, अन्य आत्मशासन की योग्यता वाली (Self governing) कॉलोनीज़ की भाँति वह सेना के व्यय से मुक्त नहीं हो सकता; किन्तु क्या यह भी सम्भव और सत्य है कि इंग्लैंड को एशिया के अन्य अधिकृत देशों से भी कुछ लाभ नहीं है ? ऐसी अवस्था में क्या यह न्यायोचित और धर्मयुक्त है कि उन समस्त प्रान्तों की रक्षा करने वाली सेना का भार भी हम ग़रीब, नित्यप्रति अकाल, प्लेग और मलेरिया से पीड़ित भारतवासी ही वहन करें ? हम आशा करते हैं कि कमेटी के माननीय सभ्य इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि समस्त एशियाई ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करने वाली सेना के व्यय में कितना अंश इंग्लैंड और कितना अन्य अधिकृत देशों को देना चाहिए। सन् १८७३ ई० में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने पार्लमेण्ट की आज्ञा से गठित राजस्व (Finance) कमेटी के सामने साक्षी देते हुए कहा था :

"We charge Canada, Australia, Cape of Good Hope and all the round of British Colonies nothing, why should we charge India anything ? The only difference is that Canada or Australia would not hear of it ; Whereas India is at our mercy and we can charge her what we like."

"अर्थात् कैनाडा, आस्ट्रेलिया प्रभृति उपनिवेशों से हम लोग कुछ भी नहीं लेते हैं—ऐसी अवस्था में हम लोग भारत से ही कुछ क्यों लें ? अन्तर केवल इतना ही है कि कैनाडा आदि देशों में हमारी बातों पर कोई कान नहीं देता; किन्तु भारत हमारे आधीन है और उससे हम मनमाना वसूल कर सकते हैं।" —यह एक पार्लमेण्ट के मभ्य का ही कथन नही है, लार्ड रिपन, लैंसडाउन और नार्थब्रुक जैसे बड़े भारतीय लाटों की भी यही राय थी और अपने समय में उन लोगों ने इसके लिए बहुत-कुछ लिखा-पढ़ी भी की थी। इंग्लैंड को साम्राज्य की सामरिक शक्ति के निर्वहन में जितनी सहायता भारत से मिलती है, उतनी

उसे किसी भी अन्य अधिकृत देश से नहीं मिलती। उपनिवेशों की रक्षा का भार इंग्लैंड पर है, इससे इंग्लैंड को उनके लिए बहुत व्यय करना पड़ता है, किन्तु इसके बदले में उनसे इंग्लैंड को कुछ भी नहीं या नाममात्र को लाभ होता है; पक्षान्तर में हम ग़रीब भारतवासी, जिनमें से अधिकांश को एक समय भोजन भी कठिनता से नसीब होता है, प्रायः ३५ करोड़ रुपये प्रति-वर्ष खर्च कर सेना रखते हैं—इसलिए नहीं कि वह केवल हमारी रक्षा करे, वरन् इसलिए कि वह अन्य पूर्वीय देशों में भी इंग्लैंड की कीर्ति-पताका को उज्ज्वल रक्खे और इंग्लैंड को सुविधा हो कि पूर्वी देशों में वह अपनी प्रभुता फैलावे। गत १८३८ ई० से १९०० ई० तक अफ़ग़ानिस्तान, चीन, फारस, चित्राल, ट्रांसवाल प्रभृति देशों के बारह युद्धों के कारण ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा है—राज्य बढ़ने से इंग्लैंड का हित हुआ है या नहीं, यह इंग्लैंड वाले खूब जानते हैं—किन्तु यहाँ पर क्या कोई यह प्रश्न करने का साहस कर सकता है कि इन युद्धों के व्यय में इंग्लैंड का कितना अंश रहा है? हम भारतवासी केवल इतना ही चाहते हैं कि हम लोगों पर उतनी ही सेना का भार रहे, जितनी सेना की हम लोगों की आवश्यकता है। यदि ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा और प्रभुत्व के लिए अधिकतर सेना की आवश्यकता है तो उसका खर्च ब्रिटिश राज्यकोष से दिया जाय या उससे लिया जाय जिसके हित के लिए वह सेना है। सेना का यह दुर्वह भार नित्य-प्रति भारत के दरिद्र लोगों पर बढ़ता जाता है।

सन् १८०७ के पहले भारत में ३७ हज़ार विदेशी और २ लाख ३० हज़ार देशी सेना थी। कुछ समय के बाद यह निश्चय हुआ था कि यहाँ देशी सेना की संख्या गोरी सेना के दुगुने से अधिक नहीं रहेगी। उसी समय विदेशी सेना की संख्या ६५ हज़ार की गई थी, किन्तु लार्ड लारेंस के समय में देश की आर्थिक दशा बहुत क्षीण होने से सेना ५५ हज़ार कर दी गई थी। सन् १८७३ ई० में लार्ड लारेंस ने अनुसन्धान-समिति के सामने साक्षी देते हुए कहा था कि भारत में विद्रोह के दमन के लिए ६० हज़ार विदेशी सिपाही बहुत हैं। सन् १८७९ में सामरिक समिति के अधिवेशन में यह निश्चय हुआ था कि भारत में भीतरी शान्ति के लिए ६१ हज़ार से अधिक सेना की आवश्यकता नहीं है। सन् १८८५ में गोरी सेना की संख्या ५५ हज़ार थी। अनन्तर अँगरेज़ों से रूस वालों की लड़ाई छिड़ जाने के कारण दस हज़ार गोरी सेना बढ़ायी गई थी। सेना बढ़ाने के समय ही हमारे प्रतिनिधियों ने अनुरोध किया था—यह नहीं कि बढ़ी हुई सेना का व्यय ब्रिटिश राजकोष से दिया जाय,

वरन् यह कि लड़ाई बन्द हो जाने पर यह बढ़ी हुई सेना तोड़ दी जाय, जिसमें यह सदा के लिए न बढ़ जाय; किन्तु उनकी अन्य सब बातों की भाँति यह भी गजट में छपकर रह गई।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोरी सेना नित्य-प्रति बढ़ती जाती है जिससे अधिकतर इंग्लैंड का ही हित है; क्योंकि सिपाही थोड़े दिन नौकरी कर फिर विलायत चले जाते हैं। इन्हें शस्त्रविद्या सिखाते हैं ग़रीब भारतवासी, किन्तु ये कार्य पड़ने पर काम आवेंगे इंग्लैंड में—और इस प्रकार बिना कुछ खर्च किये ही इंग्लैंड में एक रिज़र्व फोर्स तैयार होती जाती है। यदि इनकी अपेक्षा हमारे सैनिक भाइयों की सेवा का काल कम कर दिया जाय, तो थोड़े दिन में ही भारत में एक बहुत बड़ी रिज़र्व सेना तैयार हो सकती है। इसके सिवाय विलायत से जल्दी-जल्दी सिपाहियों को बुलाने और भेजने में भी हम लोगों का बहुत-सा रुपया व्यर्थ व्यय होता है। यदि गोरे सिपाहियों की भाँति हमारे भाइयों को भी थोड़े दिन काम करना पड़े, यदि दोनों सेनाओं के लिए एक ही से नियम हो जायँ, तो हमारा बहुत-कुछ मंगल हो सकता है और धर्म और न्याय की मर्यादा भी रक्षित रह सकती है। हमारे भाइयों को थोड़े दिन काम करने पर यदि छुट्टी दे दी जाय और उनके स्थान पर नये सिपाही तैयार किये जायँ, तो देश में युद्ध-विद्या में निपुण सैनिकों की संख्या बढ़ जायगी, सरकार को इतना व्यय कर इतनी बड़ी सेना रखने की आवश्यकता न होगी। वर्तमान समय की अपेक्षा चौथाई सेना से हमारा काम चलेगा और हम दरिद्रों का रुपया सेना में व्यय न होकर देश के स्वास्थ्य-सुधार में, शासन और न्याय-विभाग अलग करने में, खेती की उन्नति में और शिक्षा के प्रचार आदि में व्यय होगा। भारत में रिज़र्व सेना बढ़ाने के लिए लार्ड राबर्ट्स ने १८७९ में आर्मी कमीशन को बताया था कि देशी सिपाहियों का सेवा-काल घटाकर रिज़र्व सेना बढ़ाने की यदि चेष्टा की जाय तो प्रत्येक दस वर्षों में भारत में ५२ हज़ार से ८७ हज़ार तक सेना तैयार रह सकती है। हम लोग निरस्त्र हैं, प्रायः ३३ कोटि भारतवासी आत्मरक्षा करने में असमर्थ हैं! विपत्ति पड़ने पर ये अपनी या देश की क्या रक्षा कर सकते हैं? स्वदेश की पवित्र सेवा से इन्हें वंचित रखना जितना बड़ा पाप है, स्थायी सेना (Standing army) पर निर्भर रह कुछ न करना उतना ही बुद्धि के विरुद्ध भी बात है। देश के निवासियों से उत्तम देश की रक्षा कौन कर सकता है? सेना का व्यय भारतीय वालण्टियरों के रहने से बहुत कम हो सकता है। हिज़ रॉयल हाइनेस ड्यूक ऑफ़ कनॉट ने शस्त्र-

विद्या का एक कालेज खोलने का भी प्रस्ताव किया था। सब विद्याओं में शस्त्र-विद्या प्रधान है, इसी की रक्षा से देश का शासन भी हो सकता है। उपर्युक्त सभी बातें आवश्यक और विचारणीय हैं। हम आशा करते हैं कि कमेटी के सभ्य इन पर विचार करेंगे और हम दरिद्रों का भार कुछ हलका कर धन्यवाद के भागी होंगे।

(६ मई, १६१२)

५१
सबसे हानिकारी वस्तु

वर्तमान समय में पराधीन देशों की स्थिति से यह साफ़-साफ़ प्रगट होता है कि पराधीनता कितनी हानिकारक होती है। इससे अधिक हानिकारी वस्तु संसार में कोई भी नहीं है। इससे जेता और विजित दोनों समुदायों में से मनुष्यत्व दूर भागता है और एकमात्र इसी कारण से, मनुष्य में मनुष्यत्व को क़ायम रखने के लिए ही, यह आवश्यक है कि संसार से पराधीनता और विदेशीय शासन (Foreign domination) का अंकुर भी निकाल बाहर फेंका जाय। इनके कारण मनुष्य को केवल स्वतंत्रता को ही तिलाजंलि नहीं देनी पड़ती—यद्यपि अधिकांश मनुष्य आनन्दमयी, सुखदात्री स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ को भी नहीं जानते, और इस कारण इसके ह्रास से जो हानियाँ उन्हें भुगतनी पड़ती हैं उनका भी उन्हें ज्ञान नहीं होता—अपितु स्वतंत्रता का न होना, उन्नति के अवसरों का खोना है; उन्नति के अवसरों का खोना अधःपतन है और अधःपात मृत्यु के तुल्य है (Loss of Freedom means loss of opportunities. Loss of opportunities means degeneration and degeneration means death.)।

हेगल नाम के एक पश्चिमीय महात्मा ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा था कि 'धर्म, स्वतंत्रता का पर्यायवाचक है।' इसमें सन्देह नहीं कि इस कथन में महात्मा हेगल ने धर्म का गूढ़ मर्म कह डाला है। वास्तव में धर्म है क्या ? धर्म हम उसे ही कहते हैं, और यही वास्तव में है भी, जिससे मनुष्य का पशुत्व (Animality) दूर हो जाय और ईश्वरत्व (Divinity) बढ़ जाय (Religion is nothing but the evolution of humanity from animality to divinity)। मनुष्य के पशुत्व को ईश्वरत्व में परिणत करने के अतिरिक्त, धर्म का अभिप्राय और कुछ नहीं है। धर्म का उद्देश्य यह है कि वह मनुष्य में ईश्वरत्व की

वृद्धि करे। सब धर्मों का मर्म 'आत्मा का ज्ञान' है। जिस आत्मा के ज्ञान की आवश्यकता है, वह पवित्र, शुद्ध, चिदानन्दमय और स्वतंत्रतापूर्ण है। यह मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मा नहीं है, यह उसकी उच्च महान् आत्मा है, यह विश्वात्मा (Universal Self) है। धर्म, सच्चरित्रता आदि सभी का उद्देश्य मनुष्य में ईश्वरत्व पैदा करना है। यही जीवन का उद्देश्य है और यही संसार में सार है। मनुष्यत्व का विकास ही ईश्वरत्व और ईश्वर है। मनुष्य का मानसिक, नैतिक (Intellectual, moral) और आध्यात्मिक (Spiritual) जीवन केवल ईश्वरत्व ही से विकास प्राप्त करता है और उसी में लीन होता है। ईश्वर मनुष्य की मानसिक शक्ति का ज्ञान और विकास है और इस कारण से किसी के बुद्धि के विकास को रोकना, उसमें ईश्वरत्व के प्रादुर्भाव को रोकना है। मनुष्य के विचारों को बाँधना या दमन करना, उसमें पैदा होने वाले ईश्वरत्व को रोकना और दमन करना है। मनुष्य के विचारों के विस्तार को रोकना, उसे अपना स्वतंत्र विचार प्रगट करने से रोकना और उसे ऐसे मौक़े न देना कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलों में योग देकर अपने विचारों को कर्म द्वारा परिपक्व करे, बुद्धि को अंगहीन करना और धीरे-धीरे उसकी हत्या करना और पाप करना है। पराधीनता से यह सब होता है। विदेशी शासन और एक जाति की सामाजिक विजय से विजित जाति की मानसिक शक्तियों का नाश होता है और इससे बढ़कर और क्या हानि कोई जाति सह सकती है ? सामाजिक और राजनैतिक उन्नति में योग देने से, अपने व्यक्तिगत लाभ को सर्वसाधारण के लाभ के लिए तिलांजलि देने से, परोपकार और देशहितैषिता के कार्यों के करने से मनुष्य ईश्वर से उसके ईश्वरत्व में हिस्सा बँटाता है। इस अवस्था में वह ईश्वर की उसके जीवों की रक्षा करने के कार्य में सहायता करता है। किन्तु यह सब कुछ पराधीन देश में होना असम्भव है, जहाँ वास्तविक परोपकार, देश-हितैषिता दण्डनीय होती है और जहाँ मनुष्यत्व का प्रादुर्भाव राजद्रोह समझा जाता है। किसी जाति के ऊपर शासन की इच्छा निस्सन्देह मनुष्यों में नीच और स्वार्थ से भरे विचारों को पैदा करती है, यह जीवन का या सच्चे मनुष्यत्व का उद्देश्य नही है। जब किसी मनुष्य के सब सार्वजनिक कार्यों और अन्य बड़े महत्त्व के कार्यों का सम्पादन करना दूसरे के अधीन है, जब उसे केवल व्यक्तिगत (निज से सम्बन्धित) कार्यों के करने की ही स्वाधीनता है, तो स्वभावतः वह स्वार्थी हो जाता है और धीरे-धीरे उसमें से ईश्वरत्व कम होता जाता है एवं पशुत्व की वृद्धि हो जाती है। उसका अधःपतन होता है और वह इसी में सन्तुष्ट रहता है कि उसे खान-पान और आराम की

पूरी स्वतंत्रता है। किन्तु सत्य बात तो यह है कि मनुष्य में सर्व-हितैषिता (Universal good) और सम्पूर्ण सत्यता (Universal truth) का ह्रास हो जाता है, और उस अवस्था में वह नाममात्र को ही मनुष्य रह जाता है। वह अपना सब-कुछ खो चुकता है; क्योंकि इन सबके साथ वह अपने को और साथ ही साथ ईश्वर को खो देता है। पराधीनता का यह शोचनीय फल होता है और इसीलिए इससे बढ़कर हानिकारक वस्तु संसार में अन्य नहीं है।

(१६ मई, १६१२)

५२
स्वतन्त्रता की दार्शनिक व्याख्या

आजकल देश में स्वतन्त्रता की आकांक्षा से लोग लालायित हो रहे हैं। इसका कारण पश्चिमीय शिक्षा और पश्चिमीय देशों का संघर्ष कहा जाता है। इसी कारण पश्चिमीय देशों का अन्धानुकरण (आँख बन्द कर नक़ल करना) भी कुछ समय पहिले श्रेयस्कर समझा जाता था। यह बड़े आनन्द की बात है कि अब पूर्वीय देशों के निवासियों के विचारों में परिवर्तन हो रहा है। अब वे समझने लगे हैं कि नक़लबाज़ी बुरी है; यही नहीं, वे यह भी समझने लगे हैं कि सभी बातों में पश्चिमीय देशों की नक़ल करना श्रेय नहीं, वरन् हानिकारक है। इतना परिवर्तन अवश्य हुआ है, किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है, अभी लोगों में इतना भ्रम अवश्य बाक़ी है कि वे समझते हैं कि सब न सही तो पश्चिमीय शिक्षा और पश्चिमीय प्रजातन्त्र की नक़ल करना आवश्यक और श्रेयस्कर है। पश्चिमीय शिक्षा के लिए यहाँ पर कुछ न कह कर आज हम लोग केवल मानवीय स्वतन्त्रता या प्रजातन्त्र पर ही विचार करेंगे। स्वतन्त्रता की दार्शनिक व्याख्या कुछ निराली है और उसी का यहाँ पर उल्लेख करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस पर अधिकतर विचार सांख्य में किया गया है। मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए पहली आवश्यक वस्तु सांख्य के मत से यह है कि आत्मा को इतना ज्ञान हो कि वह अपने को अपने (Enviroments) परिसर से अलग समझ सके, या यह कि अपनी स्थिति को वह अपनी आत्मा से भिन्न समझ सके।

इसका नाम 'विवेक' है। जब तक आत्मा में यह विवेक नहीं रहता, तब तक आत्मा व्याकुल, व्यग्र, निस्तेज और निर्जीव रहती है। इस अवस्था में आत्मा को यह ज्ञान नहीं रहता कि कौन-सी वस्तु अपनी है और किससे विरक्त रहना उचित है। किन्तु ज्यों ही उसमें विवेक उत्पन्न होता है, त्यों ही स्थिति

की भिन्नता का ज्ञान उसमें उत्पन्न हो जाता है। उसमें आत्मिक बल उत्पन्न होता है और उसमें एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसे अध्यक्षता कहते हैं। वेदान्त के मतानुसार स्वतन्त्रता का तात्पर्य इसी को प्राप्त करना या स्थिति और परिसर को विवेक द्वारा जान कर और भिन्न समझ कर उसका शासन करना है। इसमें यह ध्वनि है कि उसमें आधिपत्य की शक्ति-अध्यक्षता-जागृत हो जाती है, जिससे वह कहता है—"यह ऐसा ही होगा यह नहीं होगा' ; 'इस पर अधिकार हमारा होगा' इत्यादि। जो सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन के लिए उपयुक्त है, वह राष्ट्रीय जीवन के लिए भी उपयुक्त है। यह एक स्वयंसिद्ध बात है और इसके प्रमाण में बहुत-सी बातों को कह कर हम पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते। जब तक कि राष्ट्रीय आत्मा या जीवन में 'विवेक' नहीं है, जब तक वह अपनी स्थिति को अपने से भिन्न नहीं समझ सकती, तब तक वह अस्वतन्त्र रहती है; किन्तु जब राष्ट्र में विवेक उत्पन्न हो जाता है, जब उसमें अध्यक्षता की शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, तभी वह स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यही दार्शनिक सूत्र है। दर्शनों के मतानुसार यही स्वतन्त्रता है और इसी स्वतन्त्रता को प्राप्त करना समस्त मनुष्यों और जातियों का कर्त्तव्य होना चाहिए। कपिल ने अपने दर्शनों में स्वतन्त्रता की व्याख्या करते हुए ललित उपाख्यानों और उदाहरणों का भी यत्र-तत्र समावेश किया है। पहला उदाहरण, जो महात्मा कपिल ने दिया है, वह एक युवराज का है जो एक चांडाल के घर में पला था। कपिल कहते हैं कि किसी मनुष्य को स्वतन्त्र होने के लिए यही आवश्यक है कि वह यह जान ले कि वह प्रकृति से ही स्वतन्त्र है। जैसे कि युवराज को यह जानते ही कि वह राजवंश का है, अपने राजत्व का ज्ञान हो गया, यद्यपि स्थिति के अनुसार वह चांडाल था। दूसरे स्थान पर यह समझते हुए, कि केवल श्रवण-मात्र से या आकस्मिक रीति से भी प्राकृतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो सकती है, उन्होंने उस राक्षस का उपाख्यान वर्णन किया है जिसने केवल कृष्ण के अर्जुन के प्रति उपदेश को सुन कर मोक्ष या स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। अनन्तर उन्होंने यह भी आदेश किया है कि एक-दो बार के श्रवण करने से यदि मनुष्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता जागृत न हो, तब उसे बार-बार निरन्तर यही श्रवण करना उचित है। जैसा कि आरुणि और श्वेतकेतु (Sutra 6. B. IV) के सम्बन्ध में हुआ था। आगे चल कर स्वतन्त्रता की मीमांसा करते हुए महात्मा ने कहा है कि स्वतन्त्रता वह है जिसके सहारे मनुष्य अपनी स्थिति को बदल सके और व्यर्थ और हानिकारक वस्तुओं, आदतों, व्यसनों को अलग कर सके—जैसे कि सर्प अपने केंचुल को फेंक दिया करते हैं।

अनन्तर उन्होंने स्वतन्त्रता चाहने वाले के लिए आदेश किया है कि वह दूसरे के ऊपर निर्भर न हो और न झूठी आशाओं को चित्त में स्थान दे; नहीं तो पिंगला की भाँति, जो कि यह समझा करती थी कि उसके पास आने वाले सभी उससे प्रेम करते हैं, उसे धोखा खाना होगा। महात्मा कपिल ने स्वतन्त्रता के और भी बहुत-से सूत्रों का उल्लेख किया है, जिनका उल्लेख कभी आगे किया जायगा।

(२३ मई, १९१२)

५३
आत्मा

जब कि मनुष्य सांसारिक झगड़ों से विरक्त हो जाता है, उस समय स्वभावतः उसका मन अपनी ओर झुकता है और उसी समय से मनुष्य को दर्शन और वेदान्त पर विचार करने का अधिकार हो जाता है—क्योंकि उसी समय से मनुष्य अपने अस्तित्व पर विचार करना आरम्भ करता है। वह इस बात को भली प्रकार जानने के लिए प्रयत्न करने लगता है कि वह स्वयं क्या है, संसार से उसका क्या सम्बन्ध है, वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र, परतन्त्र है तो मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है, स्वतन्त्र कैसे हो सकता है, आदि-आदि। इन प्रश्नों पर विचार करते ही उसे विदित होता है कि उसकी शारीरिक और मानसिक स्थितियाँ जीवनकाल में सदा बदलती रही हैं और इतना होने पर भी वह अपने को वही पुराना 'अहम्' समझता है और सोचता है कि वह वही है, जब कि उसका शरीर एक बालक का था, वह अपने को बालक समझता था; जब उसका शरीर कमज़ोर था, वह अपने को कमज़ोर समझता था; जब उसका शरीर युवा था, वह अपने को युवा समझता था।

एक कमज़ोर शरीर में आत्मा कमज़ोर रहती है, मज़बूत शरीर में आत्मा मज़बूत होती है, ज्वर से पीड़ित शरीर में यह ज्वर से पीड़ित रहती है—इससे यह प्रत्यक्ष है कि आत्मा स्वयमेव न कमज़ोर है न मज़बूत, न वह हिन्दू है न मुसलमान—क्योंकि इन सबसे भेद प्रगट होता है। जो नाशवान् है, और इस लिए, वह सांसारिक अवश्य होगा। आत्मा आन्तरिक है, वह बदलती नहीं, उसका नाश नहीं होता; वह हत्या नहीं करती, न कोई उसकी हत्या कर सकता है :

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

विचारवान् मनुष्य को यह भी प्रगट हो जाता है कि यद्यपि उसका बालकपन, उसकी जवानी शेष नहीं रही है, तथापि उसकी आत्मा सदा उसके साथ रही है। इस नित्यप्रति बदलते हुए संसार में एक उसकी आत्मा ही ऐसी है जो नहीं बदलती; जो न सुखी है न दुःखी है; जो सब प्रकार के बन्धनों से रहित है और जो हर प्रकार से स्वतन्त्र है। उसे यह भी विदित हो जाता है कि आत्मा का जब शरीर से सम्पर्क होता है, तब उसके सम्बन्ध से बहुत-सी बातों का इसमें समावेश हो जाता है, गुण-अवगुण इसमें दिखायी देने लगते हैं, यद्यपि प्रकृति से इसमें गुण-अवगुण कुछ नहीं हैं, और यह एक आईने की तरह स्वच्छ है जिसमें पास पड़ी हुई वस्तुओं का काला-पीला प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, वास्तव में आईने में कोई रंग नही है। अनन्तर उसे यह विदित होता है कि आत्मा अनादि, अनन्त और स्वतन्त्र है। किसीके यह प्रश्न करने पर कि जब आत्मा अनादि है, अनन्त है, सच्चिदानन्द है, स्वतन्त्र है—तब फिर क्या कारण है कि मनुष्य को पूरा ज्ञान नहीं रहता, वह दुःख भोगता है, बन्धनों से वह जकड़ा जा रहा है, परतन्त्र रहता है? वह उत्तर देता है कि "सत्यमेव तुम स्वतन्त्र हो, तुम्हारी आत्मा अनादि, अनन्त और सच्चिदानन्द-स्वरूप है; परन्तु तुम्हें पूरा ज्ञान नहीं है, इससे तुम दुःखी हो। तुम बन्धनों से जकड़े हो, इसका एकमात्र कारण यही है कि तुम अपने को भूल गए हो और तुम अपने को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। तुम आत्मा और शरीर को एक समझते हो, तुम्हें सत् और असत् का ज्ञान नहीं है। तुम अपनी स्थिति को अपने से भिन्न नहीं समझते, तुम पर तुम्हारी स्थिति का इतना प्रभाव पड़ रहा है—तुम्हें अपनी शरीरबद्ध आत्मा की अनन्यता पर ऐसा मूढ़ विश्वास है कि तुम अपनी अनादि, अनंत, स्वतन्त्र आत्मा का स्वप्न भी नहीं देख सकते। यही नहीं, यदि कोई तुम से यह कहे कि तुम स्वतन्त्र हो, तुम अनादि हो, अनन्त हो, शरीर और स्थिति अनित्य है और नाशवान् है—तो तुम हँस कर उसे मूर्ख कहने को प्रस्तुत होते हो। जब अन्धकार में पड़ कर तुम अपने शरीर और स्थिति को महत्त्व प्रदान करते हो,

उसी समय तुम्हारे ज्ञान, सुख, स्वच्छन्दता सब सीमाबद्ध हो जाते हैं; क्योंकि शरीर अनादि-अनन्त नहीं है। यदि तुम अपने को अपने शरीर, स्थिति से अलग कर सको, तभी और उसी समय तुम्हें अपना पूरा ज्ञान होगा और उसी समय तुम अपने को स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, अनादि और अनन्त समझ सकोगे। उस समय तुम्हें पूर्ण ज्ञान हो जायगा। तुम्हारा सब पर अधिकार हो जायगा और तुम यह समझ सकोगे कि सब-कुछ तुम्हारे भीतर है, तुम पर निर्भर है और तुम्हीं, जो चाहो, कर सकते हो।"

स्वामी विवेकानन्द ने एक समय कहा था—

"The fact that we can be freed from this or that weakness shows that we are not separated from God, that weakness is not evil in the sense in which we take it but we are Portions of such matter as has not as yet gone through the refining process in order to cast aside the coarser external which makes the rate of vibrations very slów. Hence we remain in it longer than we would if our thought-force were stronger in the higher direction, as it is the power of thought which makes matter vibrate faster and higher and in proportion the matter will become finer and the inner finer energy will become expressed accordingly."

अर्थात्, "एक यही बात कि हम लोग अपनी कुछ बुराइयों से मुक्त हो सकते हैं, यह साबित करता है कि हम लोग ईश्वर से दूर नहीं हैं; हम लोगों की कमज़ोरियाँ उसी अर्थ में बुराइयाँ नहीं हैं, जिस अर्थ में हम उन्हें बुराइयाँ समझते हैं, वरन् हम लोग तत्त्वों के पिण्ड हैं जिनका अभी तक पूरा-पूरा संस्कार नहीं हुआ है ; जिसमें उनके वे सब बाह्य विकार दूर हो जायँ, जिनके कारण उनकी स्वाभाविक गति में रुकावट होती है।

"अतएव उसकी अपेक्षा अधिक समय तक उसमें बँधे रहते हैं जिस समय तक हम लोग उस हालत में बँधे रहते, जबकि हम में उच्च भावों के मनन करने की शक्ति अधिक बलवती होती। क्योंकि मनन-शक्ति ही तत्त्वों की गति को तीव्र करती है और उसी के परिमाणानुसार तत्त्व सूक्ष्म होते हैं और आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति का विकास होता है।"

जो व्यक्तिगत आत्मा के लिए ठीक है, वही जनसमुदाय की और राष्ट्रीय आत्मा के लिए भी ठीक है। अन्तर केवल इतना ही है कि राष्ट्रीय आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम लोगों को महात्मा शंकराचार्य के अर्थ को नहीं भूलना चाहिए और यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि जीव शरीर या प्रकृति

से श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु एक-दूसरे में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक को हीन कर हम दूसरे को महत्त्व नहीं प्रदान कर सकते। यदि शरीर पर हमारा अधिकार नहीं है, तो धीरे-धीरे आत्मा पर से भी हमारा अधिकार जाता रहेगा; क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर का सब प्रकार से पुष्ट रहना पहली और सबसे जरूरी आवश्यकता है।

(२ जून, १९१२)

५४

सकल पदारथ हैं जग माहीं...

सकल पदारथ हैं जग माहीं ।
भाग्यहीन नर पावत नाहीं ।।

गोस्वामी श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि संसार में समस्त पदार्थ हैं, पर भाग्य-रहित नर उन्हें नहीं पाते ।—यह बात बहुत यथार्थ है । सोचने-समझने से यह चौपाई बड़े-बड़े गम्भीर भावों से भरी हुई पायी जाती है । 'पदार्थ' शब्द पृथिव्यादि सात वस्तुओं का बोधक तथा चतुर्वर्ग (अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का भी ज्ञापक है । प्रथम यह निर्णय होना चाहिए कि 'भाग्य' शब्द का अर्थ क्या है । प्रत्यक्ष में भाग्य सब लोग उसी को कहेंगे जो सामान्य जनों के मत में किसी के कर्म अथवा ललाट में लिखा है । अथवा पूर्व-जन्म का शुभाशुभ संचित कर्म, दैव-दृष्टि, भवितव्यता आदि को भी भाग्य कहा जाता है । परन्तु व्याकरण और कोष की रीति से इस शब्द की व्याख्या की जाय तो और भी भाव निकलते हैं । व्युत्पत्तिरूपी पक्षी के दो पक्ष हैं—एक व्याकरण, दूसरा कोष ।

यथोक्तं—व्युत्पत्तिपक्षिणीपक्षौ कोषव्याकरणात्मकौ ।
ताभ्यां विना कथं गच्छेच्छब्दाकाशे महेश्वरि ।।

व्याकरण कहता है—**भगस्य भावो भाग्यं** । 'शब्दार्थप्रकाशिका' कोष में 'भग' शब्द के अर्थ इतने हैं—श्री, वीर्य्य, इच्छा, ज्ञान, वैराग्य, कीर्त्ति, माहात्म्य, ऐश्वर्य, यत्न, धर्म, मोक्ष, यश और सौभाग्य । एक कोषकार ने लिखा है :

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, यशसो विभवस्य च ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भाग इति स्मृतः ।।

महात्मा तुलसीदास के इस वचन का यह तात्पर्य स्पष्ट रीति से ज्ञात होता है कि जिन मनुष्यों में वीर्य, पराक्रम, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यत्न, धर्म, कीर्त्ति,

माहात्म्य तथा प्रचार आदि गुण बसते हैं, वे ही मनुष्य सकल पदार्थों को पा सकते हैं। अब इस स्थल पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन सब पदार्थों की प्राप्ति के कारण और निमित्त कारण कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि धर्म के साथ विद्योपार्जन और सद्गुरुजनों की सेवा-संगति। इस वर्णन का सिद्धान्त यह है कि सकल पदार्थ के प्रापक गुण विद्या-धर्म के द्वारा मानुष तन में ही प्रगट होते हैं। पूर्वकाल में दैवी सम्पदा वाले आर्य पुरुषों में उक्त गुण स्वाभाविक थे, जिससे वे लोग अपनी भाग्यशक्ति के समस्त पदार्थों को प्राप्त करते थे। देखिये, भगवद्गीता के अध्याय १६ के आरम्भ में दैवी संपदा वालों के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं :

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
ज्ञानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

अर्थात्—१ अभय, २ सत्त्वसंशुद्धि, ३ ज्ञानयोग में व्यवस्थिति, ४ दान, ५ दम, ६ यज्ञ, ७ स्वाध्याय, ८ तप, ९ आर्जव, १० अहिंसा, ११ सत्य, १२ अक्रोध, १३ त्याग, १४ शान्ति, १५ अपैशुन, १६ भूतों पर दया, १७ अलोलुपता १८ मृदुता, १९ लज्जा, २० अचापल्य, २१ तेज, २२ क्षमा, २३ धृति, २४ शौच, २५ अद्रोह (मैत्री) और २६ नातिमानिता।

देखिये, फिर आगे पाँचवें श्लोक में भगवान् ने कहा है :

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

अर्थात्, "दैवी सम्पत्तियों वाला पुरुष विमुक्त होता है और आसुरी सम्पत्तियों वाला बाँधा जाता है। हे अर्जुन, तुम मत शोच करो; क्योंकि तुम दैवी सम्पत्तियों से युक्त उत्पन्न हुए हो।"

सोचने की बात है कि जिस भय को हमारे आर्य-पुरुषों ने भूषण बना रक्खा है, उनका भगवान् ने पहले ही वाक्य में निराकरण किया है 'अभयं'। सिद्धान्त यह कि दैवी सम्पत्तियों से समृद्ध आर्य पुरुष को सदैव निर्भय रहना उचित है; क्योंकि डरना बड़ी तुच्छता और कायरपन है। डरने के कारण अनेक शुभ कर्मों का आरम्भ और सिद्धि रुकी रहती है। ऐसे ही चित्त की शुद्धि और ज्ञान के प्रयत्न में सन्नद्ध रहना भी 'भग' शब्द के शब्दार्थ में संयुक्त है। सिद्धान्त यह

कि जो लक्षण दैवी सम्पत्ति वालों के हैं, वे ही भाग्यवान् के हैं। हम लोग त्रिविध (दैहिक-दैविक-भौतिक) उत्पात-जनित दुःख भोग रहे हैं, तो उसका यही कारण है कि हम दैवी सम्पत्तियों का अर्जुन-रूप पुरुषार्थ नहीं करते। इसी से भाग्यहीन की पदवी धारण कर सकल पदार्थों की प्राप्ति, किंवा भोग से रहित, हो गए हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थ हमारे लिए दुर्लभ प्रतीत होते हैं। सब लोग कहते हैं और जानते हैं कि लक्ष्मी सत्य की चेरी है; सो उस सत्य का व्यवहार-बर्ताव दिन-प्रतिदिन उठता जाता है। प्रस्तुत समय में सत्य का ऐसा अनादर फैल गया है कि बड़े-बड़े श्रीमन्त अपनी प्रतिज्ञा और वचन के मिथ्या अथवा भंग होने का कुछ सोच नहीं रखते। थोड़ी लालच में पड़कर झटपट सत्य-मार्ग से फिसल पड़ते हैं, जिसके कारण प्रथम पदार्थ अर्थ (धन) से बहुत रहित हो गए हैं। दूसरा पदार्थ धर्म है; सो स्वाध्याय और दम (इन्द्रिय-निग्रह) आदि साधनों के अभाव से जाता रहा। ऐसे ही तीसरा पदार्थ काम (भोग) है, जो सुख-विलास-विश्राम से सम्बन्ध रखता है, सो क्रोध, कुटि-लता, कठोरता और हिंसा आदि दुर्गुणों के कारण नहीं होने पाता। दैवी सम्पत्तियों के इच्छुक के लिए नवाँ गुण आर्जव, दसवाँ अहिंसा, बारहवाँ अक्रोध, सोलहवाँ कोमलता, बाईसवाँ क्षमा, पच्चीसवाँ अद्रोह आदि हैं। इन गुणों से सब लोगों में मेल-मिलाप और मित्रता बढ़कर सुख की सारी सामग्री इकट्ठी हो जाती है। इन्हीं गुणों के सहारे विदेशी लोग उत्तम से उत्तम सुख की सामग्री और साहित्य बना लेते हैं। हम सब भारतीयों से कुछ नहीं होता। लाखों-करोड़ों रुपया हम सब भय के वश होकर (जो दैवी सम्पत्ति 'अभय' के विपरीत है) चंदा देकर औरों के नाम से उत्तम वाटिका-स्थान आदि बनवा देते हैं; समु-दाय-सहित अपने बैठने के योग्य एक विस्तीर्ण स्थान या नहाने का घाट या रम्य उपवन नहीं बनाते। कारण यह कि अद्रोह हमारा धर्म था और अब हम उसके विपरीत आपस में द्रोह रखते हैं। इससे हमारा 'सुख' पदार्थ भी जाता रहा। रहा मोक्ष, सो भी बिगड़ा ही समझो; क्योंकि **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—बिना** ज्ञान के मोक्ष होता नहीं। सो ज्ञान की सावित्री विद्या और सहायक सत्संग दोनों का अभाव है; और जब प्रत्यक्ष और प्रयत्न-साध्य लोक ही बिगड़ गया, तो परोक्ष और अनुमान-प्रमाण-सिद्ध परलोक की दृढ़ता क्यों कर हो सकती है! कपिलदेवजी ने कहा है—**अत्रैव नरकः स्वर्गः**। बड़ी भाग्यहीनता यह है कि एक तो हमारे देश में भयरहित तेजस्वी पुरुष बहुत अल्प हैं; दूसरे यत्किंचित् हैं भी, वे अपने स्वार्थ-कुण्ड में डुबकी मार-मारकर नहा रहे हैं, और उनके

विचार में उससे बढ़कर कोई श्रेष्ठ जलाशय पृथिवी पर नहीं है। इसीलिए तुलसीदासजी ने लिखा है :

सकल पदारथ हैं जग माहीं।
भाग्यहीन नर पावत नाहीं॥

(२६ जनवरी, १६३५)

५५

एकादशी-व्रत और माहात्म्य

'हेमाद्रि' में आया है कि ब्राह्मणादि चार वर्ण और वर्णाश्रम धर्म से रहित और जो कोई भी हों, उन सबको एकादशी-व्रत का अधिकार है :

चतुर्णामपि वर्णानां वर्णाश्रमेतराणां च एकादशीव्रतेऽधिकारः ।

'तत्वसागर' में आया है :

मातेव सर्व बालानामौषधं रोगिणामिव ।
रक्षार्थं सर्वलोकानां निर्मितैकादशीतिथिः ॥
संसाररोगग्रस्तानां नराणां पापकर्मणाम् ।
एकादश्युपवासेन सद्य एव सुखं भवेत् ॥

अर्थात्—"एकादशी तिथि बालकों के लिए अत्यन्त हित करने वाली माता के समान एवं रोगियों के लिए हित करने वाली औषध के तुल्य है । इस कारण संसार की रक्षा के लिए एकादशी तिथि को रचा गया है । संसार-रूपी रोग से ग्रसे हुए और पापाचरण वाले मनुष्यों को एकादशी के उपवास से तुरन्त ही सुख पहुँचता है ।" तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक एकादशी व्रत करने से पुण्य की वृद्धि और पाप का ह्रास होता है, अतः मनुष्य कुप्रवृत्ति से हटकर धीरे-धीरे सुख का अनुभव करने लगता है ।

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में आया है—"एकादशी व्रत सूखे तथा गीले, अर्थात् पुराने या ताज़े, सभी तरह के पापों का शोधन करने वाला है; विद्वद्‌जनों से इसके स्वरूप का श्रवण, तीर्थस्नान से भी अधिक महत्त्व का समझा गया है । एकादशी तिथि स्वर्ग और मोक्ष को देने वाली है, एवं राजपुत्र, साध्वी स्त्री, और शरीरारोग्य को देने वाली है ।"

इसी प्रकार 'सौरपुराण' में आया है—"वैष्णव हो, शैव हो, या सौर हो, किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, उसे यह व्रत अवश्य करना चाहिए ।"

वैष्णवो वाऽथ शैवो वा सौरोऽप्येतत्समाचरेत् ।

पूर्ण रीति से व्रत को न कर सकने वाले अतिवृद्ध, बाल और रोगियों के लिए शास्त्र का आदेश है कि उन्हें दूध, फल, मूल और रात्रि के समय एक ही बार भोजन करके एकादशी-व्रत करना चाहिए :

एकभक्तेन नक्तेन बालवृद्धातुरः सदा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि ननिर्व्दादशिको भवेत् ॥
उपवासे त्वशक्तानामशीते रुर्ध्व जीविनाम् ।
एक भक्तादिकं कार्यमाह बौधायनो मुनिः ॥

(मार्कण्डेय बौधायन)

यदि श्राद्ध, जन्मतिथि, संक्रान्ति और ग्रहण के दिन एकादशी पड़ जावे, तो अभ्युदयार्थी को उस दिन व्रत नहीं करना चाहिए । वानप्रस्थी और संन्यासी-प्रभृति त्यागी जनों को दोनों पक्ष की एकादशी को उपवास करना चाहिए । परन्तु गृहस्थ को शुक्लपक्ष की ही एकादशी तिथि मनानी चाहिए । एकादशी-व्रत के अपवाद-रूप में यदि आहिताग्नि (अग्न्याधान वाला गृहस्थी) और विद्याभ्यास वाला ब्रह्मचारी पूर्ण रीति से उपवास न कर सके, तो कोई हानि नहीं है; क्योंकि शास्त्रों में आया है कि ब्रह्मचारी, आहिताग्नि और बैल ये तीनों खूब भोजन करने से ही अपने कार्य की सिद्धि कर सकते हैं । भूखे रहने पर इन लोगों की कार्यसिद्धि नही हो सकती :

आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः ।
अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥

यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार अपने-आप व्रत करने में असमर्थ हो, तो दक्षिणा देकर पुरोहित से कराना चाहिए । शास्त्र का कथन है कि ऐसा करने से भी व्रत को कराने वाले को पूर्ण फल मिल जाता है—**तस्य पूर्णफलं भवेत् ।** एकादशी के दिन मसूर, महुआ, कोदों वगैरह अशुद्ध अन्न नहीं खाना चाहिए । एवं सहवास का त्याग करके ब्रह्मचर्य-नियम का पालन करना चाहिए । सौभाग्यवती स्त्री को अपने पति की आज्ञा पाकर ही व्रतोपवास आदि करना चाहिए—**कामं भर्तुरनुज्ञया व्रतोपवासादीनारभेत् ।** शास्त्रानुसार मैंने यह एकादशी-व्रत और माहात्म्य की चर्चा आप लोगों के सन्मुख संक्षेप में कर दी है ।

एकादशी लोक-माता, अर्थात् लोक का कल्याण करने वाली तिथि, प्रत्येक महीने में दो बार आती है । एकादशी का दिन हरि-वासर है, अर्थात् इस दिन विशेष रूप से हरि का स्मरण, पूजा-पाठ आदि करना चाहिए; यद्यपि

नित्य प्रातः और सायं संध्या का विधान द्विजाति-मात्र को तथा अन्य वर्गों को भजन करने को कहा गया है, जिससे न केवल पाप दूर होते हैं अपितु मन भी निर्मल होता है। पाप दो प्रकार के कहे गए हैं : एक प्रकार के वे हैं जो आर्द्र अर्थात् अभी के किये हुए होते हैं; तथा दूसरे वे जो शुष्क अर्थात् पहले के संचित हैं। इन दोनों तरह के पापों से निवृत्ति पाने को एकादशी तिथि का व्रत परमावश्यक है। यह व्रत करने से प्रायश्चित्त हो जाता है और मनुष्य आगे को ऐसी भूल करने से बच जाता है जो माता-पिता की आज्ञा भंग करने से, अनादर करने से या झूठ बोलने से हो जाता है। एकादशी मन को दर्पण की तरह उज्ज्वल कर परमात्मा की ओर ले जाती है। वह सात्त्विक भावना पैदा करती है। इस भावना की जागृति परमात्मा के गुण-गान, भजन-कीर्तन तथा भगवत-भक्तों की कथा सुनने से अवश्य हो जाती है। छात्रों के लिए यह लज्जा की बात है कि वे विदेशी भाषा और इतिहास तो सीखते-पढ़ते हैं, पर अपने आचार का महत्त्व नहीं समझते। हर छात्र को अपना प्राचीन धर्म और सिद्धान्त जानना परमावश्यक है।

(अगस्त ६, १९३५)

५६
लोकमान्य तिलक

लोकमान्य तिलक एक बहुत असाधारण व्यक्ति थे। उनका जीवन उपदेश-मय और मनुष्यों में विद्या का प्रेम, देश-भक्ति, धैर्य और उत्साह बढ़ाने वाला है। भर्तृहरि का नीचे लिखा हुआ प्रसिद्ध कथन उनके विषय में प्रचुर अंश में घटता है :

> **विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा**
> **सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।**
> **यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ**
> **प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥**

लोकमान्य को युद्ध के प्रबन्ध का अवसर नहीं मिला; नहीं तो जैसा अनन्य देशभक्त गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था, लोकमान्य उसमें भी निपुण पाये जाते। लोकमान्य तिलक अनेक अंश में एक आदर्श पुरुष हुए हैं और मैं चाहता हूँ कि देश के भविष्य की आशा के मूल, हमारे होनहार नवयुवक लोकमान्य के जीवन के उपदेशों को हृदय में धारण करें और बाल्यावस्था में ही हिन्दुस्थान और हिन्दू जाति की सेवा का महान् व्रत धारण कर सब प्रकार से अपने को उसके योग्य बनावें।

यहाँ पर मैं लोकमान्य-सम्बन्धी केवल दो-चार बातों पर सामान्य रीति से देश और समाज का हित चाहने वाले पाठकों का, और विशेषकर विद्यार्थियों का, ध्यान खींचना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि वे इस बात को ध्यान में लावें कि तिलक के पिता गंगाधरराव जी ने संस्कृत और गणित में स्वयं अपने ही प्रयत्न से प्रवीणता प्राप्त की थी। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आरम्भ में उनको केवल पाँच रुपये महीने वेतन मिलता था और बहुत दिनों तक उनको दरिद्रता का सामना करना पड़ा था। जो विद्यार्थी आज निर्धन हैं, उनको इस

बात को विचार कर ढाढ़स ग्रहण करना चाहिए और यह स्मरण करना चाहिए कि एक नहीं, असंख्य धनहीन माता-पिताओं की सन्तानें दृढ़ अध्यवसाय से विद्या और चरित्र का धन संग्रह कर संसार में यशस्वी और लोक-सेवा में निरत होकर लोकमान्य हुए हैं और भविष्य में भी हो सकते हैं। इसीलिए भगवान् मनु का उपदेश है :

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योर्यन्तिमातिष्ठेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥

अर्थात्, "पहले ही दुःख और दरिद्रता का सामना करना पड़ा एवं सुख और सम्पत्ति नहीं मिली, इस कारण अपना अनादर नहीं करना चाहिए। वरन् जब तक मृत्यु न आवे तब तक यत्न करते जाना चाहिए और समृद्धि को, सम्पत्ति को दुर्लभ नहीं मानना चाहिए।"

दूसरी बात, जिस पर विद्यार्थियों को ध्यान देना चाहिए, यह है कि तिलक अधीर विद्यार्थियों की तरह, कुसमय में पढ़कर, रात का दिन नहीं किया करते थे। किन्तु जब पढ़ने बैठते थे, उस समय यदि कोई उनके कान के पास नगाड़ा भी पीटने लगता, तो वे उधर ध्यान तक न देते थे।

तीसरी बात यह कि कालेज में प्रवेश करने के समय उनका स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ था, किन्तु उन्होंने पहले ही वर्ष में नियम से व्यायाम कर उसको सुधार लिया। प्रातःकाल का समय वे अखाड़े में कुश्ती लड़ने या नदी में तैरने में बिताते थे। इस रीति से उन्होंने अपना स्वास्थ्य ऐसा बना लिया था कि समस्त जीवन उन्होंने उसका लाभ उठाया।

चौथी बात यह कि जब तिलक कालेज में ही थे, तभी उन्होंने यह संकल्प कर लिया था कि वे देश और समाज की सेवा में अपना जीवन अर्पण करेंगे। धन-उपार्जन करने की अभिलाषा ने भी उनको नहीं सताया; जो लोग अपना कर्तव्य करते हैं, उनको यश स्वयं ही ढूंढ़ लेता है।

पाँचवीं बात यह है कि कालेज के दिनों से लेकर अन्त तक उनकी देशभक्ति, देश के उद्धार की अभिलाषा और प्रयत्न, एकरस बने रहे। किसी प्रिय या अप्रिय घटना से उसमें अन्तर नहीं पड़ा। देश ही उनका सर्वस्व था!

छठी बात यह है कि देश की सेवा से भी अधिक प्रबल उनका शास्त्र का व्यसन था। शास्त्र का, सद्ग्रंथों का अभ्यास करते रहना देशभक्त का परम धर्म है। इसीलिए ऋषियों ने यह नियम किया है—**अहरहः स्वाध्यायमधीयीत**। प्रतिदिन वेद-वेदांगों, उपवेदों तथा अन्य उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना

चाहिए । जैसा सम्पत्ति में, वैसा ही विपत्ति में—लोकमान्य का शास्त्र का व्यसन एक समान बना रहा ।

लोकमान्य की राजनैतिक बुद्धि और नीति के सम्बन्ध में यहाँ पर मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि अँगरेज़ों की नीति को जैसा वे समझते थे, वैसा और नेताओं में से बहुत कम पुरुषों ने समझा था ।

सब से बड़े दो गुण, निर्भयता और धैर्य, लोकमान्य में प्रचुर मात्रा में थे । "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" (Home Rule Is My Birth-right) ये स्वतन्त्र जनोचित भाव उसीके हृदय में रह सकते हैं और उसीके मुख से निकल सकते हैं जिसका हृदय भय से कभी दुर्बल नही हुआ और जिसके धैर्य को प्रबल से प्रबल पवन भी विचलित नही कर सकता । लोकमान्य को पुत्र का वियोग हुआ, स्त्री का वियोग हुआ, ऋण का संकट हुआ, तीन बार जेल जाना पड़ा और अन्य अनेक विपत्तियाँ भी आयीं—किन्तु उनका धैर्य नहीं डिगा ।

मुझे नीचे लिखे श्लोक स्मरण आते हैं :

पुत्रदारैर्वियुक्तस्य वियुक्तस्य धनेन वा ।
भग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥
चलन्ति गिरयः कामं युगान्तपवनाहताः ।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः ॥

मैं आशा करता हूँ कि लोकमान्य के चरित्र को पढ़कर और उनके गुणों को मनन कर हमारे लाखों भाई और बहिन परमात्मा से प्रार्थना करेंगे कि देश में बाहु-बल, विद्या-बल, धर्म-बल से सम्पन्न उनके समान देशभक्त आर्य सन्तानें प्रचुर संख्या में हों और देश को स्वतन्त्रता के मान और विभव से फिर विभूषित करें !

(अगस्त ६, १९३५)

५७

भगवान् कृष्ण की महिमा

इस बात को मैं कई बार कई अवसरों पर कह चुका हूँ कि मनुष्य-जाति के इतिहास में जितने पुरुषों की कथा संसार में विदित है, उनमें सबसे बड़े भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति का जितना ऊँचा विकास उनमें हुआ, उतना किसी दूसरे पुरुष में नहीं हुआ। जैसे विमल ज्ञान और जैसी सात्त्विक नीति का उन्होंने उपदेश किया, वैसा किसी और ने नहीं किया। उनकी महिमा के विषय में मैंने अपना सब अभिप्राय दो श्लोकों में लिख दिया है :

सत्यव्रतौ महात्मानौ भीष्मव्यासौ सुविश्रुतौ ।
उभाभ्यां पूजितः कृष्णः साक्षाद्विष्णुरिति ह्यलम् ॥
माहात्म्यं वासुदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
तमेव शरणं गच्छ यदि श्रेयोऽभिवाञ्छसि ॥

अर्थात् "जिन भगवान् कृष्ण ने अपने प्रकट होने के समय से अन्तर्धान होने के समय तक साधुओं की रक्षा, दुष्टों का दमन, न्याय की स्थापना आदि अनेक अद्भुत कर्म किये, उनका माहात्म्य केवल इसी बात से भली भाँति विदित है कि महाभारत के रचयिता श्री वेदव्यास और भीष्मपितामह, जिनका सत्य का व्रत प्रसिद्ध है और जो दोनों भगवान् कृष्ण के समकालीन थे और इसलिए जो उनके गुणों से भलीभाँति परिचित थे, दोनों ही महात्माओं ने भगवान् कृष्ण को साक्षात् विष्णु मानकर पूजा है। इसलिए जो लोग अपना मंगल चाहते हैं, उनको चाहिए कि भगवान् कृष्ण की शरण में आवें। कृष्ण की प्रतिज्ञा है कि :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

"अन्य सब धर्मों का भरोसा छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ—मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दगा, शोच मत करो !"

महाभारत के सभा-पर्व में, ३७ वें अध्याय में वैशम्पायनजी कहते हैं कि कि युधिष्ठिरजी के राजसूय-यज्ञ के प्रारम्भ में जब सब देवर्षि-महर्षि, राजर्षि और आचार्य, ऋत्विज और स्नातक एवं मान के योग्य अनन्त पुरुषों की सभा में युधिष्ठिर ने पूछा कि सबसे पहले किसकी पूजा की जाय, उस समय सनातनधर्म के स्वरूप भीष्म पितामह ने विचार कर कहा—"संसार में सबसे अधिक पूजा के योग्य कृष्ण हैं।" शिशुपाल ने इस बात का विरोध किया। उस समय भीष्म-पितामह जी ने कृष्ण की जो महिमा कही है वह सभापर्व के ३८ वें अध्याय में वर्णित है। उसको पढ़ने से ही उनका महत्त्व ध्यान में आ सकता है। भीष्म पितामह ने कहा—"केवल हमारे लिए ही कृष्ण सबसे अधिक पूजा के योग्य नहीं हैं, बल्कि ये महापुरुष तो तीनों लोकों से पूजा पाने के योग्य हैं। मैंने बहुत से ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा की है और मैंने उनको इकट्ठा होकर श्रीकृष्ण के बहुत-से गुणों को वर्णन करते सुना है और कृष्ण ने जन्म से जो-जो अद्भुत कर्म किये हैं, उनको भी मैंने बहुत बार लोगों को कहते सुना है। हे शिशुपाल ! हम कृष्ण की इसलिए पूजा करते हैं कि वे पृथ्वी पर सब प्राणियों को सुख पहुँचाने वाले हैं और उनके यश को, उनकी शूरवीरता को और उनकी जय को समझ करके सत्पुरुषों ने उनको पूजा है, इसीलिए हम उनकी पूजा करते हैं। ब्राह्मणों में जिसका ज्ञान अधिक हो, उसका मान होता है, क्षत्रियों में जिसका बल अधिक हो, वैश्यों में जो धन-धान्य से सम्पन्न हो और शूद्रों का केवल उनके आचरण से मान होता है। कृष्ण के पूजनीय होने के दोनों ही कारण हैं—वेद-वेदांग का ज्ञान और सबसे अधिक बल। संसार में ऐसा कौन है जो कृष्ण के समान गुणसम्पन्न हो, इनमें दानशीलता है, निपुणता है, शास्त्र का ज्ञान है, बल है, नम्रता है, यश है, उत्तम बुद्धि है, विनय है, लक्ष्मी है, धैर्य है, सन्तोष है, हृष्टि-पुष्टि है। ये सब गुण केशव में सदा पाये जाते हैं। ये आचार्य, पिता, गुरु, अर्घ्य पाने के योग्य, पूजे हुए और पूजा के योग्य प्रजापालक और लोकप्रिय हैं। इसलिए हमने इनको पूजा के योग्य माना है।"

कृष्ण का प्रथम गुण, जिस पर इस समय मैं पाठकों का ध्यान खींचूंगा, वह उनकी धर्म में दृढ़ता है। स्वयं भगवान् ने उद्योगपर्व में कहा है :

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥

अर्थात् "मैं काम से या क्रोध से, द्वेष से या धन के कारण, हेतुवाद के वश

या लालच से, धर्म को कभी नहीं छोड़ सकता।" इस बात की पुष्टि राजा युधिष्ठिर ने भी की है। भगवान् कृष्ण के विषय में उनका वचन है :

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः॥
धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः॥

अर्थात् "जो न काम से, न भय से, न लोभ से, न धन के कारण कभी अन्याय का अनुवर्त्तन करते हैं, जिनकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है, और जिनमें लालच का दोष नहीं है, ऐसे कृष्ण धर्म के जाननेवाले, धृतिमान्, सब प्राणियों में बुद्धिमान् और सब प्राणियों में श्रेष्ठ, देवताओं के देव और पूजनीय हैं।"

जन्म के समय परीक्षित निष्प्राण बालक हुआ था। उसको भगवान् कृष्ण ने अपने योग-बल से जीवित कर दिया था। उस समय का भगवान् का वचन है कि, "सत्य और धर्म मुझमें प्रतिष्ठित रहते हैं अर्थात् मैं कभी सत्य और धर्म से विरुद्ध नहीं चलता—यदि यह बात सत्य है तो यह अभिमन्यु का मरा हुआ बालक जी उठे!" धर्म को भगवान् कृष्ण सबसे ऊपर मानते थे, इस बात का भी यह प्रमाण है कि जब छः महीने की तपस्या के उपरान्त शिवजी ने भगवान् कृष्ण को दर्शन दिया और कहा कि इच्छा के अनुसार वरदान माँगो, तो पहला वरदान कृष्ण ने 'धर्मे दृढत्वं' अर्थात् सदा धर्म में दृढ़ता का ही माँगा।

दूसरा गुण भगवान् का सत्य का प्रेम है। द्रौपदी के उत्तर में भगवान् कृष्ण ने स्वयं उद्योग-पर्व में कहा है :

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा भवेत्।
द्यौः पतेत सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥

अर्थात् "हिमवान् पर्वत चल जाय तो चल जाय, पृथ्वी सौ टूक हो जाय तो हो जाय, आकाश नक्षत्रों के साथ पृथ्वी पर गिरे तो गिरे—पर मेरा वचन निष्फल नहीं हो सकता।" इसीलिए उद्योग-पर्व में अर्जुन ने कहा है :

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

"जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है और जहाँ ऋजुता है, वहाँ गोविन्द हैं। जहाँ गोविन्द हैं, वहाँ विजय है।"

एक तीसरा गुण भगवान् का, जिसका मैं पाठकों को स्मरण कराना चाहता हूँ, वह अक्रोध है। वह क्रोध के वश कभी नहीं होते थे। उद्योग-पर्व में लिखा है :

सत्कृतोऽसत्कृतो वाऽपि न क्रुध्येत जनार्दनः ।
नाऽलभेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥

"उनका कोई सत्कार करे या न करे, कृष्ण कभी क्रोध नहीं करते थे। उनका अनादर कोई नहीं कर सकता था। उनका अनादर करना सम्भव ही नहीं था।"

कृष्ण का चतुर्थ गुण उनका असीम धैर्य था। किसी अवस्था में भी कृष्ण घबराये नहीं। कितने ही शत्रुओं के बीच में क्यों न हों, कैसा ही संकट क्यों न सामने हो, उनका धैर्य कभी नहीं डिगता था। तभी अर्जुन ने कहा था :

अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः ।
पुरुषः सनातनतमो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

"कृष्ण के तेज का वारापार नहीं था। कितने ही शत्रुओं से वे घिरे हों उसके कारण उनके चित्त में कभी घबराहट नहीं होती थी। वे सनातन पुरुष थे—परमात्मा के रूप थे। जहाँ कृष्ण थे, वहाँ विजय निश्चित थी।"

इस छोटे-से लेख में भगवान् कृष्ण के अनन्त गुणों का वर्णन करना सम्भव नहीं है, इसलिए इस प्रयास को मैं यहीं समाप्त करता हूँ।

दुर्योधन और अर्जुन दोनों से भगवान् कृष्ण का सम्बन्ध था। जब यह निश्चय हो गया कि महाभारत होगा, तो दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही कृष्ण से सहायता माँगने गये। भगवान् ने कहा—"मैं लड़ाई में हथियार नहीं उठाऊँगा; चाहे एक मुझ निहत्थे को ले लो और चाहे एक लाख घुड़सवार योद्धा ले लो!" दुर्योधन ने एक लाख योद्धा माँगे, अर्जुन ने निहत्थे कृष्ण को। भगवान् अपने भक्त अर्जुन के साथ युद्ध में सदा साथ रहने के लिए और उनको उत्साह देने के लिए उनके सारथि बने। जब महाभारत में दोनों दलों की सेनाएँ आमने-सामने आकर खड़ी हो गईं, एवं सम्बन्धियों तथा मित्रों को लड़ने-मरने के लिए तैयार देखकर अर्जुन के मन में विषाद हुआ कि लड़ाई न लड़ें—तब भगवान् कृष्ण ने उनको वह ऊँचा उपदेश दिया, जो भगवद्गीता के नाम से जगत् को अद्यावधि पावन कर रहा है। यह उसी उपदेश का फल था कि अर्जुन के हृदय का सब सन्देह मिट गया और वह लड़ने के लिए खड़े हो गए तथा उन्होंने विजय प्राप्त की। अर्जुन और कृष्ण के इस सम्बन्ध को और उसके लोकोत्तम फल को भगवान् वेदव्यास ने गीता के नीचे लिखे श्लोक में 'कूजे में मिश्री' के समान भर दिया है :

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्री विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण हों, तथा जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन हों (जहाँ मस्तिष्क-बल, हृदय-बल और बाहु-बल एकत्र हों) वहाँ लक्ष्मी है, वहाँ विजय है, वहाँ विभूति और निश्चित नीति है।"

ये कृष्ण प्राणी-प्राणी के हृदय में बैठे हुए हैं। स्वयं भगवान् का वचन है :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

"हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठा है।"—इस बात को स्मरण रखते हुए कि ईश्वर हृदय में बैठा हुआ है और गांडीवधारी अर्जुन के समान बाहुबल का प्रयोग करते हुए जो प्राणी धर्मयुद्ध उपस्थित होने पर, क्रोध और अमर्ष को छोड़कर युद्ध करेगा, वह अवश्य विजय पावेगा।

भगवान् कृष्ण में भीष्मपितामह की कैसी भक्ति थी, यह भीष्मस्तवराज से, जिसके द्वारा भीष्म ने मरने के समय भगवान् कृष्ण की स्तुति की थी और जो स्तोत्रों में एक अति उत्तम स्तोत्र है, विदित होता है। उस स्तोत्र में से मैं केवल दो श्लोक लिखकर इस लेख को समाप्त करता हूँ :

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम्॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

"तीसी के फूल के समान जिनका वर्ण है, जो पीताम्बर को धारण किये हैं, ऐसे अच्युत गोविन्द को जो नमस्कार करते हैं उनको किसी प्रकार का डर नहीं रहता है। जो ब्रह्मण्य देव हैं और गौ एवं ब्राह्मण के हित की रक्षा तथा उपकार करने वाले हैं और जो सारे जगत् के प्राणियों का हित करने वाले हैं, ऐसे कृष्ण को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ !"

(अगस्त २०, १९३५)

टिप्पणियाँ

अफ़ग़ानिस्तान के अमीर की भारत-यात्रा

श्रीमान् अमीर अफ़ग़ानिस्तान के इस देश में आने से अनेक प्रकार के शुभ फल हुए हैं और आशा है कि और भी फल होंगे। प्रथम तो हम आशा करते हैं कि अमीर के इस देश और उसके निवासियों को देखने से उनके साथ सहानुभूति बढ़ी है और वह इस देश की गवर्नमेंट के साथ उनकी मित्रता को दृढ़ करेगी। हमारे मुसलमान भाइयों को अमीर के आने से विशेष आनन्द और उत्साह हुआ है। उनके धर्म का मानने वाला एक स्वतन्त्र देश का नरपति, जिसको हमारी ब्रिटिश गवर्नमेंट प्रति वर्ष अठारह लाख रुपया देकर अपना मित्र बनाये रहना उचित समझती है, उनके देश में आया और जहाँ अवसर हुआ, अपने उदार बर्ताव से उनमें से छोटे और बड़े सबों के हृदय में यह भाव उत्पन्न किया कि वह उनका धर्म-भाई है। इस बात से हमारे मुसलमान भाइयों को यदि आनन्द और उत्साह न होता तो वे मनुष्य की गणना से नीचे गिने जाने के योग्य होते। अलीगढ़ कालेज में अमीर का जाना और वहाँ उसकी अवस्था को जाँचना और २०००० रु० नकद और ६००० रु० साल की सदा के लिए सहायता करना, न केवल उनको जो अलीगढ़-कालेज से सम्बन्ध रखते हैं, अपितु देश-भर के मुसलमान और पढ़े-लिखे हिन्दुओं को भी प्रसन्नता का कारण हुआ है। और यह प्रसन्नता इस समाचार को सुनकर और बढ़ रही है कि श्रीमान् अमीर लाहौर में इस्लामिया कालेज की नीव डालेंगे। विद्या की उन्नति के स्थान हमारे देश में जितने ही बढ़ते है, उतना ही देश का हित चाहने वाले सब पढ़े-लिखे भारतवासियों को सन्तोष होता है। और यह बात कि हमारे पड़ोस के एक स्वतन्त्र राज्य का स्वामी हमारे देश में विद्या की वृद्धि में उत्साह प्रकट करता है, हमको अधिक प्रसन्नता देता है।

जब से श्रीमान् अमीर इस देश में आये हैं, उनका स्वागत-सत्कार देखकर न केवल मुसलमान, अपितु हिन्दू भी प्रसन्न हो रहे हैं। जो यह सम्मान और मित्रता का भाव अमीर की ओर हिन्दुओं का था, उसको अमीर ने अपनी

उदारता से कई गुना बढ़ा दिया है। अमीर को यह बात विदित थी कि हिन्दुओं को गौओं के वध से बहुत दुःख पहुँचता है। वह यह भी जानते थे कि हिन्दुस्तान में अँगरेज़ी राज्य में प्रतिदिन कितनी ही गौओं का वध होता है। परन्तु उनको यह बात प्रिय नहीं हुई कि उनके द्वारा किसी हिन्दू का चित्त दुःखे। इसलिए उन्होंने हिन्दुस्तान में अपने बकरीद मनाने के समय गोवध होना बन्द किया। उनके इस कार्य से समस्त हिन्दुओं के चित्त को जो सुख हुआ है, उसके कहने की आवश्यकता नहीं। उनकी इस उदारता को हिन्दू कृतज्ञता के साथ स्मरण रक्खेंगे।

अमीर ने अपने इस काम से हमारे मुसलमान भाइयों को और गवर्नमेंट को एक बहुत उत्तम उपदेश दिया है। और यह दिखाया है कि यदि हमारे मुसलमान भाई हिन्दुस्तान में गौओं का वध करना छोड़ दें—अर्थात् वे मुसलमान जो करते हैं—तो उनके धर्म में कोई बाधा नहीं पड़ेगी और उनमें तथा हिन्दुओं में उस शोचनीय विद्रोह की आग कभी न भड़केगी, जो समय-समय पर उनमें भड़क उठती है। और दोनों समाज के प्राणियों को दुःख एवं सन्ताप तथा कहीं-कहीं नाश का कारण होती है। हमको बड़ा दुःख है कि इस वर्ष भी बकरीद पर गोवध के कारण हिन्दू और मुसलमानों में रंगून से नौ मील दूर इन्सेन नामक स्थान में एक भयंकर विद्रोह मच गया। कुछ लोगों की जानें गयीं और बहुतों को अभी उस विद्रोह का भयंकर परिणाम भोगना पड़ेगा। क्या हम आशा करें कि अमीर के उस उदार आचरण का उदाहरण निष्फल न जायेगा!

हमारी गवर्नमेंट को इस घटना से यह ज्ञान नया और दृढ़ हो जाना चाहिए कि गोवध के बन्द होने से उसकी हिन्दू प्रजा कैसी प्रसन्न और कृतज्ञ होगी। हम इसको असम्भव नही समझते कि ब्रिटिश गवर्नमेंट भी, जो अपनी प्रजा के धर्म के विषय में और बातों में बड़ी प्रशंसनीय उदारता से शासन करती आई है, अपनी अनेक कोटि प्रजा की प्रसन्नता और कृतज्ञता के लिए एक दिन हिन्दुस्तान में गौओं का वध होना बन्द करेगी। इस देश में गौओं के वध के बिना भी अँगरेज़ों को पौष्टिक भोजन मिल सकता है। गौओं की संख्या दिन-दिन घटती चली जाती है और कई स्थानों में खेती के लिए भी गौ-बैल नहीं मिलते। खेती की रक्षा और उन्नति के विचार से भी गवर्नमेंट को गोवध बन्द करा देना चाहिए। हम आशा करते हैं कि गवर्नमेंट इस गम्भीर विषय पर ध्यान देगी।

कुछ समाचार-पत्रों ने यह गप्प उड़ा दी थी कि अमीर ने गोवध के बन्द

करने की आज्ञा ही नहीं दी । इस झूठ का प्रतिवाद करने के लिए २६ जनवरी के 'पायोनियर' में गवर्नमेंट की ओर से यह प्रकाश कर दिया गया है कि अमीर ने इस विषय में अवश्य आज्ञा दी और वह सर्वथा अपनी इच्छा से दी । न मुसलमानों ने उनसे इस बात की इच्छा प्रकाश की थी कि वे उनके दिल्ली जाने पर गोवध करें, न हिन्दुओं ने ऐसी प्रार्थना की थी कि वे गोवध न करें । बल्कि अमीर ने सरहिन्द में ही यह प्रकाश कर दिया था कि वे गोवध को बन्द करना चाहते हैं और हिन्दुस्तान की भूमि में पैर रखने से पहले ही उन्होने अपने अफ़सरों से यह इच्छा प्रकाश कर दी थी कि वह हिन्दुस्तान में गोवध का होना रोकेंगे । श्रीमान् अमीर का और भी अधिक सम्मान हो !

(माघ-शुक्ल पूर्णिमा, सं० १९६३)

बच्चों में देशभक्ति के अंकुर

हमारे देश का अभ्युदय तब होगा, जब हमारे देश में माँ के दूध के साथ बच्चों के हृदय में देश-भक्ति का संचार होगा । तभी यह सम्भव होगा कि हमारे देश-बन्धु देश का हित और गौरव बढ़ाने के लिए अपने सुख और स्वार्थ का त्याग करने में संकोच न करेंगे । अभी हमारी इस गिरी हुई दशा में हमारे बहुत-से भाइयों को यह अचम्भा ही मालूम होगा कि बच्चों में भी देश-भक्ति हो सकती है और देश के गौरव के लिए वे जान-बूझकर दुःख सह सकते हैं । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि इस समय तो हमारे देश में अनपढ़ों की कौन कहे, पढ़े-लिखे लोगों में भी बहुतों ने देश के हित के लिए अपने सुख और स्वार्थ का त्याग करना नहीं सीखा है । हमको देश-भक्ति में जापान के छोटे-छोटे बच्चों से शिक्षा लेनी चाहिए । बम्बई के एल्फिस्टन कॉलेज के एक प्रोफ़ेसर ने अपनी 'जापान में शिक्षा के क्रम की रिपोर्ट' में लिखा है कि "इस समय, अर्थात् जून १९०६ में, बहुत-से बच्चों ने दिन में एक बार भोजन करना छोड़ दिया है इसलिए कि उनके माता-पिता उन अनेक चन्दों में अधिक दान दे सकें, जो लड़ाई के सम्बन्ध में जापान में खुले हैं ।" जिस जाति में बच्चों में यह भाव है वही जाति उस उन्नति को पहुँच सकती है जो जापान ने प्राप्त की है । और यह तभी हो सकता है जब छोटे और बड़े, सबों में, विद्या का प्रचार हो और अपना हित-अनहित समझने का ज्ञान बढ़े और धर्म का भाव बढ़े । इसके लिए

यत्न करना सब देश-हितैषियों का कर्त्तव्य है।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

विद्या के प्रचार का उपाय

विद्या का प्रचार केवल स्कूलों और पाठशालाओं के द्वारा ही नहीं हो सकता। एक बहुत सीधा और बहुत फल देने वाला उपाय यह है कि हर एक पढ़ा-लिखा पुरुष और स्त्री यह संकल्प करे कि जहाँ तक उससे हो सकेगा, वह अपने आस-पास के रहने वालों और नौकरों तक को भी इतनी शिक्षा अवश्य देगा या दिलाने का प्रबन्ध करेगा, जिससे वे अपनी भाषा अच्छी तरह लिख-पढ़ सकें और मामूली हिसाब कर सकें और उनको अपने धर्म का भी कुछ ज्ञान हो जाय। सारांश यह कि उनको प्रारम्भिक शिक्षा दी जाय। हम आशा करते हैं कि इस प्रस्ताव का कुछ फल दिखायी देगा।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

जापान और अमेरिका

४ तारीख के 'पायोनियर' से यह जान पड़ता है कि अमेरिका के समाचार-पत्र जापान से युद्ध करने के विषय मे बहुत ही बेसमझी के लेख छाप रहे हैं। वे लिखते हैं कि जापान युद्ध करने पर तत्पर है। प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट के सम्बन्ध में ऐसा लिखा गया है कि उन्होंने यह कहा है कि जिस प्रकार हो सके, जापान के साथ जो द्रोह फैल रहा है उसको दूर करना चाहिए; क्योंकि वीर और प्रभावशाली जापान के साथ युद्ध वैसा ही सरल न होगा, जैसा स्पेन का युद्ध हुआ था। यूरोपीय देशों के समान राजनीति के सब ढंगों को काम में लाने का आसरा जापान न देखेगा, किन्तु एकबारगी समय पाते ही चोट करेगा।

अमेरिका के इस प्रकार के लेखों से सभी देशों के शान्तिप्रिय मनुष्यों को खेद होगा। ऐसे लेखों से सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं हो सकता। परन्तु जापान का ऐसी अवस्था में भी धैर्य और गौरव प्रशंसनीय है। बात भी यही

है कि सामर्थ्यवान् पुरुष प्रायः बड़े धैर्यशील होते हैं।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

स्वदेशी पर दो मत

इस समय देश में दो मत फैल रहे हैं। एक वह नूतन मत है जिसके एक प्रधान प्रतिपादक मिस्टर विपिनचन्द्र पाल हैं। उनका महामंत्र 'बायकाट' है। उनका यह सिद्धान्त है कि बायकाट ही हमारे सब दुःखों के दूर करने और हमारे मनोरथों के पूरा करने की महा औषध है। दूसरा मत वह है जिसके मानने वालों के अत्यन्त सम्मानित प्रतिनिधि मि० गोखले हैं। ये कहते हैं कि स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार और व्यापार बढ़ाने के लिए और अपने देश का धन विदेशों को जाने से बचाने के लिए जहाँ तक सम्भव हो, हम लोग स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार करें। यह हमारा कर्त्तव्य है और इसमें हमको कोई विचारवान् पुरुष दोष नही दे सकता। यह स्वदेशी धर्म के अन्तर्गत है। इसको बायकाट कहना ऐसे शब्द का प्रयोग करना है जिससे अभिप्राय ठीक नहीं प्रकाश होता। 'बायकाट' शब्द का अर्थ है कि दूसरे को हानि पहुँचाने के प्रयोजन से उससे व्यवहार बन्द करना, चाहे उससे अपने को भी हानि पहुँचे। अनुपयुक्त शब्द के प्रयोग से निष्कारण भावों में भेद बढ़ता है। स्वदेशी की उन्नति चाहने वाले लोग जिस अर्थ में बायकाट का प्रयोग करते हैं, अर्थात् स्वदेशी वस्तु और व्यापार की उन्नति के लिए विदेशी वस्तुओं का त्याग, वह अवश्य हितकारी है और जितना ही यह भाव देश में फैलेगा, उतना ही देश का व्यापार बढ़ेगा और कल्याण होगा। इसकी वृद्धि के लिए जो लोग यत्न करते हैं, वे देश का उपकार करते हैं।

इससे परे राजनैतिक बायकाट है, इस अभिप्राय से कि उसके द्वारा गवर्नमेंट को अपनी अप्रसन्नता दिखावें और उसको अपनी कामना पूरी करने के लिए मजबूर करें। यह स्थान और अवस्था-विशेष में किया जा सकता है, और कुछ फलदायक भी हो सकता है; किन्तु वह फल बहुत थोड़ा होगा, उससे हमारे मनोरथ पूरे नहीं हो सकते। हमारी अवस्था में देश-भर में इसका फैलाना असम्भव है और यह हानिकारी भी है। लाभ-हानि दोनों को विचार कर हमको काम करना चाहिए।

मि० विपिनचन्द्र पाल कहते हैं कि हमको न सिर्फ विलायती वस्तुओं को ही त्यागना चाहिए, अपितु सरकार से किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं रखना चाहिए, लड़कों को सरकारी स्कूलों और कालेजों में नहीं पढ़ना चाहिए, किसी को सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिए, कोई अवैतनिक सरकारी पद (जैसा आनरेरी मैजिस्ट्रेटी, मुंसिफी, कौंसिल की मेम्बरी आदि) भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। यह अहितकर प्रलाप है। पहले तो हमारे देश और हमारे देश-भाइयों की वर्तमान अवस्था में यह करना सम्भव नहीं; और यदि हम ऐसा कर भी सकें तो इसके करने से भी गवर्नमेंट हमारी बातों को नहीं मान लेगी और हमारे अधिकार हमको प्राप्त नहीं हो जायेंगे। किन्तु हमको अपनी बुद्धि से काम करना चाहिए। सरकारी स्कूलों और कालेजों को हम क्यों छोड़ें? वर्तमान शिक्षा में दोष हैं, किन्तु उसमें कितने ही गुण भी हैं। हमको स्मरण रखना चाहिए कि हमारे वर्तमान देश-हित के विचार बहुत-कुछ उसी शिक्षा के फल हैं जो हमने सरकारी स्कूलों और कालेजों में पायी है। ये स्कूल और कालेज हमारे ही धन से चलाये जा रहे हैं। जो लाभ उनसे हमको हो सकता है, वह हमको पूरी रीति से लेना चाहिए। उनके दोषों को दूर करने के लिए यत्न करना चाहिए और उसके साथ-साथ जितने अधिक नये स्कूल और कालेज हम स्थापित कर सकें, उनके लिए यत्न करना चाहिए। जो धन सरकारी स्कूलों और कालेजों के द्वारा हम लोगों में शिक्षा के प्रचार के लिए व्यय हो रहा है, उसका लाभ खो बैठने का विचार बुद्धि-विरुद्ध और देश के लिए अहितकर है। अब तक हमारे देश के विद्वान् और बुद्धिमान् विद्या के प्रचार में गवर्नमेंट से हमारे कर का अधिक भाग व्यय कराने की प्रार्थना करते आए हैं, और जब तक हम इसमें सफलता न पावेंगे, देश में विद्या का पूरा प्रचार न होगा। यह शोक और आश्चर्य की बात है कि हमारी वर्तमान दशा में कोई विद्वान् पुरुष हमारे देश के लोगों को सम्मति दे कि गवर्नमेंट के स्कूलों-कालेजों का त्याग करो। कुशल यह है कि इस उपदेश को लोग सुनेंगे नहीं; नहीं तो गवर्नमेंट को विद्या के लिए व्यय बढ़ाने की अपेक्षा उसके घटाने का अच्छा बहाना मिल जायगा।

हम अपना यह सौभाग्य नहीं समझते कि हम ऐसी दशा में हैं कि हमको अपने स्वत्व और अधिकार माँगने की आवश्यकता है। हम बहुत प्रसन्न होते, यदि हमको वे सब स्वत्व और अधिकार प्राप्त होते, जो अँगरेजों को प्राप्त हैं। यह हमारे धर्म के क्षय और पापों के उदय का फल है जो हमको अपने देश में भी अपने शासन का अधिकार नहीं है। विदेशियों ने कहीं-कहीं हमारी दशा को

अधिक शोचनीय कर दिया है और कहीं-कहीं सुधार दिया है; किन्तु मूल में हमारी दशा का कारण हमारे ही बुरे कर्मों का संचय है और फिर अपने ही अच्छे कर्मों से हम ऊपर उठेंगे। उन कर्मों में एक कर्म यह है कि हम उन लोगों से, जिनके हाथ में अधिकारों का देना है, अधिकार माँगें। हमको स्मरण रखना चाहिए कि थोड़े दिन पहले तक हम इस योग्य भी नहीं थे कि हम इन अधिकारों को माँगते। यह बहुत दिन की शिक्षा का फल है कि हम में से कुछ लोगों ने समझा है कि गवर्नमेंट से अपने देश वा जाति के लिए अधिकार माँगना हमारा धर्म है। इसको जो हम छोड़ बैठें तो हमारे देश में सब छोटे-बड़े लोग अपने स्वत्वों को और अधिकारों को समझने लगें और गवर्नमेंट से उनको माँगने में हमारे साथ खड़े हों। तभी हमारा माँगना सफल होगा।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

अधिकारों की माँग

माँगने-माँगने में भेद है। हम भिक्षा नहीं माँगते; हम अपने स्वत्व और अधिकार माँगते हैं। हम एम्पेरर ऐडवर्ड के क्रीत दास नहीं हैं, उनकी प्रजा हैं। हम उन सब स्वत्वों के अधिकारी हैं जिनके पाने के इंग्लेंड के स्वतन्त्र लोग अधिकारी हैं। अपने स्वत्वों को न माँगना हमारे लिए शोच की बात होगी, माँगकर बैठ रहना हमारे लिए शोच और लज्जा की बात होगी और माँगते-माँगते लेकर बैठना हमारे लिए अभिमान और प्रशंसा की बात होगी। हमको अपने स्वत्वों का ज्ञान प्रबल करना चाहिए। हमको संकल्प करना चाहिए कि मर्यादा के अनुसार हम माँगेंगे, माँगेंगे और बिना लिये नहीं मानेंगे। स्वार्थ, आलस्य और अहंभाव को छोड़कर अभय, सत्य और न्याय का अवलम्बन कर, शुद्ध देश-भक्ति की पवित्र और प्राण को बल पहुँचाने वाली भावना से हृदय को भरकर, हमको उचित है कि हम अपने स्वत्वों के प्राप्त करने का व्रत लेकर खड़े हो जायँ और फिर बिना उनको प्राप्त किये न बैठें। व्रत वा तप तब पूर्ण होता है, तभी सफल होता है, जब "मन बच काम तिहून सों, रहै एक ही ध्यान"। यदि हम सफलता चाहते हैं तो हमको ऐसा ही करना होगा।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

जापानियों की हिन्दुस्तानियों के साथ सहानुभूति

एक हिन्दुस्तानी, जो जापान में विद्या सीखने को गया है, लिखता है कि हिन्दुस्तानी लोग यहाँ इण्डोजिन कहे जाते हैं। हिन्दुस्तानी को देखकर यहाँ लोग घेर लेते हैं—क्या औरत, क्या बूढ़े, क्या जवान—सब उससे मिलना चाहते हैं। जहाँ वह जाता है, सब लोग उसे देखने लगते हैं। लड़के लोग इण्डोजिन कहके उसके पीछे दौड़ते है। लोग सब तरह से उसकी मदद करते हैं। हिन्दुस्तानी को रंग से और चाल से लोग पहचानते हैं और सब जापानी उससे मित्रता किया चाहते हैं। पहले लोग उससे यही पूछते हैं क्या आप इण्डोजिन हैं।

थोड़े-से लोग हिन्दुस्तान को गौतम बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण स्वर्ग मानते हैं। जापानी लोग हिन्दुस्तानियों से बड़े आदर से बात-चीत करते हैं। हम बहुत-से हिन्दुस्तानी लड़कों के साथ, जो टोकियो में पढ़ते हैं, जापानियों की फ़ौजी क़वायद देखने गये, वहाँ पर जापानी लोग उस क़वायद को न देख कर हम लोगों की ओर देखने लगे। फ़ौज देखकर हमारे मुँह से निकल पड़ा—'कैसे अच्छे सिपाही हैं!' इस पर जापानियों ने हमसे पूछा—क्या हिन्दुस्तान में सिपाही नहीं होते? हमने उन्हें बताया कि सिपाही वहाँ भी होते हैं। इसके बाद वे लोग अपने यहाँ के सिपाहियों की प्रशंसा करने लगे। हमने कहा—"जापान देश छोटा है।" उन लोगों ने उत्तर दिया—"देश छोटा होने से क्या होता है, हमारा उत्साह छोटा नहीं है। हम लोग अपने राज्य को अँगरेज़ों के राज्य से भी बड़ा बनावेंगे।"

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

पूना का विधवाओं का आश्रम

इस बात को देखकर हमको हर्ष होता है कि दिन पर दिन उन मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है जो स्त्रियों की शिक्षा और अनाथ स्त्रियों की सहायता की ओर ध्यान देने लगे हैं। ऐसे मनुष्यों में एक सज्जन प्रोफ़ेसर कर्वे हैं। उन्हींके और उनकी स्त्री के प्रयत्न से पूना का हिन्दू विधवा-आश्रम सन् १८९६ में स्थापित हुआ था, जो इस समय अनाथ विधवाओं को उत्तम शिक्षा और

जीवन का सहारा दे रहा है। आश्रम में विधवाओं के अतिरिक्त अब बालिकाएँ भी शिक्षा पाने के हेतु भरती होने लगी हैं। सन् १९०६ में ३२८०० रुपये के लगभग हिन्दू विधवा-आश्रम की कमेटी के पास था। इस आश्रम का हाल 'मॉडर्न रिव्यू' की पहली संख्या में अच्छी तरह दिया गया है। उसमें से आश्रम में रहने वाली स्त्रियों की दिनचर्या का हाल थोड़ा-सा यहाँ पर लिखते हैं। जिन स्त्रियों की अवस्था कुछ अधिक होती है वे ५।। और ६ बजे के बीच, और जो कम अवस्था की हैं वे ६ और ६।। के बीच सवेरे उठती हैं। उठकर वे आश्रम का कुछ गृह-कार्य और स्नान करती है और अपने वस्त्र धोती हैं। इसके पीछे वे थोड़ी देर चुपचाप पूजा और वन्दना करती हैं। फिर १० बजे तक अपना पाठ याद करती हैं। १० बजे भोजन करती हैं। जिन बालिकाओं की अवस्था बहुत छोटी होती है उनको सवेरे भी कुछ दूध या जलपान करने को दिया जाता है। पाठशाला का कार्य ११ बजे आरम्भ होता है। पाठशाला में पौन घंटे के लगभग धर्म-दिक्षा दी जाती है। जो पढने में चैतन्य हैं, उनको गीता के श्लोक अर्थ-सहित सुनाये जाते हैं। जो कम पढ़ी हैं उनको आधुनिक साधुओं की बानी सुनायी और समझायी जाती है। पाठशाला शाम को ४।। बजे बन्द होती है। बीच में आध घंटे की छुट्टी भी मिलती है। पाठशाला बन्द होने के बाद सबों को गृह-कार्य करने और वार्तालाप के पीछे संध्या-समय भोजन मिलता है और फिर ७।। बजे वे पाठ याद करना आरम्भ करती हैं। छोटी बालिकाएँ ९ बजे सो जाती हैं, परन्तु सोने के पहले वे कुछ धर्म अथवा भक्ति के भजन गाती हैं। शेष आश्रमनिवासिनी ९ बजे गीत-मंदिर में इकट्ठे होकर भजन गाती हैं। इसके पीछे वे थोड़ी देर शास्त्र वा धर्म के विषय में कुछ पढ़ती हैं या किसी पुराने ग्रन्थ को देखती हैं। ९।। बजे घंटी बजने पर पढ़ना बन्द हो जाता है और १० बजे तक सब सो जाती हैं। इस आश्रम में इस रीति से रहने से इन दुःखिनी अबलाओं का दुःख कम हो जाता है और प्रतिष्ठा के साथ भोजन मिलकर उनका जीवन पवित्र रीति से बीतता है। ऐसे आश्रमों के सहायक वास्तव में बड़ा पुण्य उपार्जन करते हैं।

(फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी, सं० १९६३)

'पंजाबी' का मुकदमा

पंजाब के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'पंजाबी' के स्वामी, लाला जसवन्तराय और उसके सम्पादक मिस्टर आठवले पर जो मुकदमा गवर्नमेंट ने दफा १५३ अ के मुताबिक़ चलाया था, उसमें ला० जसवन्तराय की ओर से उनके बैरिस्टर मिस्टर कर्क पैट्रिक ने यह बहस की थी कि ला० जसवन्तराय को यह खबर मालूम हुई कि ऐसी अफवाह थी कि मि० स्पेंसर डिस्ट्रिक्ट सुपरिटेंडेंट पुलिस गुजरानवाला ने अपने एक नौकर रफ़ातअली को गोली से मार दिया था।

पूछ-जाँच से मालूम हुआ कि बिला-शक ऐसी अफ़वाह फैल रही थी। यह सच थी या ग़लत, इससे गरज़ नहीं। स्वयं मि० स्पेंसर की शहादत से यह मालूम होता था कि रफ़ातअली के मरने के चार दिन बाद उनके कान तक यह अफ़वाह पहुँच गई थी। डिपुटी कमिश्नर उस जगह पर गये थे जहाँ कि रफ़ातअली मरा पाया गया था, लेकिन उन्होंने ठीक तरह से तहक़ीक़ात नहीं की थी। लाला जसवन्तराय ने यह अफ़वाह सुनी; उन्हें यह भी मालूम हुआ कि डिपुटी कमिश्नर ने इस मामले की ठीक जाँच नहीं की और डिपुटी इंस्पेक्टर जनरल ने उस पर ध्यान नही दिया और उनको यह भी मालूम हुआ कि रफ़ातअली की बेवा ने एक अर्ज़ी लाट साहब को भेजी थी, वह डिपुटी इंस्पेक्टर जनरल के पास भेज दी गई। मिस्टर कर्क पैट्रिक ने कहा कि ऐसी दशा में मुलज़िम लाला जसवन्तराय का इस मामले को अपने पत्र में छापकर सर्व-साधारण के सामने लाना सब प्रकार से उचित था।

उन्होंने यह भी बहस की कि ताजीरात हिन्द की दफा १५३ अ के मुताबिक़ उनके मुवक्किल क़सूरवार नहीं थे। यह बात साबित नहीं हुई कि 'पंजाबी' के लेखकों की मंशा यह थी कि यूरोपियनों और हिन्दुस्तानियों में बैर बढ़े। आर्टिकल में जो वार की गई थी, वह यूरोपियन अफसरों पर थी, न कि यूरोपियन समाज पर।

लाला लाजपतराय ने 'पंजाबी' के सम्पादक मि० आठवले की तरफ़ से बहस की। उन्होंने भी कहा कि यूरोपियन आफिसर से समस्त यूरोपियन जाति का अर्थ नहीं निकल सकता। पंजाबी के लेख का जो बुरे से भी बुरा अर्थ लगाया जाय, तो उसका यह फल होगा कि वह गवर्नमेंट के ऊपर दोष का आक्षेप था, न कि प्रजा के एक विभाग के लोगों से दूसरे विभाग के लोगों में दोष एवं बैर बढ़ाना। इसलिए दफा १५३ अ का जुर्म सम्पादक पर नहीं लगाया जा सकता। फिर उन्होंने यह बहस की कि दफा १५३ अ का जुर्म क़ायम करने

के लिए भी यह देखना आवश्यक है कि लिखने वाले ने किस मंशा से लिखा था। उन्होंने जीन बर्न्स के मुकदमे का हवाला दिया, जिसमें बर्न्स के व्याख्यानों का यह परिणाम हुआ था कि लोगों ने खिड़कियाँ तोड़ डाली थीं, लेकिन बर्न्स पर जो मुकदमा क़ायम किया गया, उसमें वह इसलिए छूट गया कि उसकी यह मंशा नहीं थी कि लोग ऐसा करें। 'पंजाबी' के लेख से कोई उपद्रव नहीं हुआ। 'पंजाबी' की शिकायत यही थी कि रफ़ातअली के ऐसे मुकदमों में ठीक तहक़ीक़ात नहीं की जाती। 'पंजाबी' ने यह नहीं कहा कि वह गोली से मारा गया। मि० लाजपतराय ने कहा कि अब तक यह साफ़ नहीं हुआ कि रफ़ातअली कैसे मरा। 'पंजाबी' ने जो लेख निकाले थे, उनके लिखने वाले के मन की दशा को भी ख़याल करना चाहिए। उसका एक देश-भाई मरा था और उस मामले में ठीक तहक़ीक़ात नहीं हुई थी। रफ़ातअली की बेवा को उसकी मौत का मुआवज़ा सिर्फ ५० रुपया दिया गया था। ऐसी दशा में सम्पादक ने अपना लेख लिख करके सर्वसाधारण का ध्यान उसमें दिलाया। यदि ऐसे मुकदमे में सज़ा हुई तो समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता को बड़ी बाधा पड़ेगी।

मि० पैटमेन ने गवर्नमेंट की तरफ से लाला लाजपतराय की बहस का जवाब दिया कि लेख में जो यह 'शासन करने वाली जाति' शब्द लिखा था, उसका स्पष्ट प्रयोजन यूरोपियनों से था और 'पंजाबी' में जो लिखा गया था, लिखने वाले ने उस पर न शोक-प्रकाश किया, न उसको वापस लिया। मैजिस्ट्रेट ने १५ ता० को फैसला सुनाया, जिसमें पत्र के स्वामी और सम्पादक, दोनों को इस बात का दोषी ठहराया कि उन्होने दो जातियों में द्वेष का भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया और लाला जसवन्तराय को दो बरस की सख्त सज़ा और एक हज़ार रुपया जुर्माना और मि० आठवले को ६ महीने की सज़ा और दो सौ रुपया जुर्माना किया।

इस समाचार को पढ़कर हम को दुःख हुआ है, किन्तु उसी के साथ कुछ संतोष भी हुआ है। ला० जसवन्तराय और मि० आठवले की तरफ़ से अपील दायर हो गई है। इसीलिए जब तक अपील पर फ़ैसला न हो, तब तक फ़ैसले के न्याय के अनुकूल या विरुद्ध होने के विषय में हम अपनी राय नहीं लिख सकते। फैसला हो जाने पर हम अपना मत प्रकाश करेंगे।

सन्तोष हमको इस बात से है कि समाचारपत्र से सम्बन्ध रखने वाले हमारे दो भाइयों ने अपने कर्त्तव्य को करने में जिस बात को लिखना अपना कर्त्तव्य समझा, उसके पीछे उन पर मुक़दमा दायर होने पर भी वे सब प्रकार

से निडर और दृढ़ रहे। उनसे अपने कर्त्तव्य के करने में कोई भूल बन पड़ी या नहीं, इसके विचार करने का हमको अभी अधिकार नहीं। किन्तु अपने कर्त्तव्य को, जैसा उन्होंने उसको समझा, करने में उन्होंने किसी बुरे परिणाम के विचार से अपने चित्त को दुर्बल नहीं किया और बुरा परिणाम होने पर भी उसको दृढ़ता और निर्भयता से सहने को तैयार रहे। इस बात को देखकर सब देश का हित चाहने वालों को सन्तोष होना चाहिए।

'पंजाबी' के लेख से मालूम होता है कि जब ला० जसवन्तराय और मि० आठवले को सज़ा सुनायी गई, उसके थोड़ी देर बाद वे गाड़ी में बन्द कर जेलख़ाने पहुँचाये गए और वहाँ बहुत जल्द उनके कपड़े उतरवा दिये गए तथा उनको क़ैदियों की मैली-कुचैली वर्दी पहनायी गई। इसके पहले कि जेल के नियम के अनुसार डाक्टर उनको देखकर यह सार्टिफिकेट दे कि वे सख़्त मेहनत करने के लायक़ हैं या नहीं, ला० जसवन्तराय एक कोठरी में बन्द कर दिये गए, जहाँ एक चक्की और मकई रक्खी हुई थी और उनसे कहा गया कि वे उसको पीसें; और मार न खाना चाहें तो महीन पीसें। जसवन्तराय को बन्द करके जेलर मि० आठवले को दूसरी कोठरी में बन्द करने के लिए ले जा रहा था कि इतने में जेल का डाक्टर आया और उसने जेलर से पूछा कि बिना उनकी परीक्षा कराये किसके हुक्म से वह उनको काम में लगा रहा था। तब डाक्टर ने इन लोगों को तौलवाया। इतने ही में ज़मानत पर छूटने का हुक्म आ गया और ये लोग जेल से बाहर आये। इनके स्वागत के लिए बड़ी भीड़ इकट्ठा थी और लोगों ने इनको मालाएँ पहनायीं और इन पर फूलों की वर्षा की और कई आदमियों ने बड़े प्रेम से इनको गले लगाया। यह इस बात का सूचक है कि जिनके विषय में लोगों को विश्वास है कि उन्होंने सर्वसाधारण के हित के लिए कोई काम किया है या करते हैं उन पर विपत्ति आने पर वे, अपनी विपत्ति के कारण, लोगों को पहले से भी अधिक प्यारे हो जाते हैं।

(फाल्गुन-शुक्ल सप्तमी, सं० १९६३)

स्त्री-शिक्षा

शिक्षा-विभाग के ९ अक्टूबर, सन् १९०६ के रिज़ोल्यूशन में संयुक्तप्रान्त की गवर्नमेंट ने स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा की थी कि स्त्रियों की पाठ-

शालाओं के लिए गवर्नमेंट उदारता के साथ सहायता देगी। हमारा देश, विशेष-कर संयुक्तप्रान्त, स्त्री-शिक्षा के विषय में बहुत पिछड़ा हुआ है और गवर्नमेंट और साधारण लोगों का भी यह धर्म है कि वे स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए जिस प्रकार हो सके, यत्न करें। सर जान ह्यू एट से हम आशा करते हैं कि वे स्त्री-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देंगे और पुरानी पाठशालाओं को सहायता देकर एवं नयी पाठशालाओं को स्थापित कर स्त्री-शिक्षा की सब प्रकार से उन्नति करेंगे।

सन् १६०५ में संयुक्तप्रान्त की गवर्नमेंट ने स्त्री-शिक्षा की उन्नति के विचार के लिए एक कमेटी, जिसमें हमारे प्रान्त के कई प्रतिष्ठित सज्जन थे, नियुक्त की थी। उस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में, जो अति उत्तम विचारों से पूर्ण है, यह सलाह दी थी कि हर नगर के मुहल्लों की कन्याओं की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ स्थापित करनी चाहिए और कुछ अध्यापिकाएँ ऐसी नियुक्त की जानी चाहिए जो उन स्त्रियों को जो पाठशालाओं में नहीं जा सकतीं, उनके घर जाकर शिक्षा दें। गवर्नमेंट ने इन विचारों को पसन्द किया था और उस रिपोर्ट पर यह कहा था कि इस प्रान्त के सरकारी खजाने में अभी इतना रुपया नहीं है कि कमेटी के सब प्रस्ताव बर्ताव में लाये जा सकें, परन्तु गवर्नमेंट जहाँ तक होगा, सहायता करेगी। ६ अक्तूबर, १६०६ के रिज़ोल्यूशन में, जिसका ज़िकर हम ऊपर कर आये हैं, यह कहा गया है कि स्त्री-शिक्षा की माँग बहुत कम है। यह बात सत्य है कि हमारे यहाँ के लोग स्त्री-शिक्षा के विषय में उतने उत्साही नही हैं, जितना कि उनको होना चाहिए और इसमें उनको उतना भी उत्साह नहीं, जितना बालकों की शिक्षा में है। परन्तु गवर्नमेंट यदि नगरों के मुहल्लों में पाठशालाएँ खोलेगी और उनका प्रबन्ध लोगों की रुचि के अनुकूल करेगी, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि एक-एक पाठ-शाला में सैकड़ों बालिकाएँ पढ़ने को आवेंगी। इस समय प्रयाग में चार पाठ-शालाएँ स्त्री-शिक्षा के लिए हैं, उनमें से दो ऐसी हैं जिनको गवर्नमेंट या म्यूनिसिपैलिटी से कुछ भी सहायता नहीं मिलती; परन्तु, यद्यपि उनके पास बहुत द्रव्य नहीं है, वे अच्छा काम कर रही हैं। यदि गवर्नमेंट कुछ उत्साह से काम करेगी, तो यह कभी न होगा कि पाठशालाओं में बालिकाएँ पढ़ने न आवें। यदि हमारी प्रान्तीय गवर्नमेंट के पास काफ़ी रुपया नहीं है, तो उसको चाहिए कि आगे से अपने वार्षिक बजट में भारतवर्ष की गवर्नमेंट से अधिक रुपया ले और शिक्षा के निमित्त लगावे।

(फाल्गुन-शुक्ला सप्तमी, सं० १६६३)

पार्लमेण्ट में भारत की चर्चा

भारत के भाग्य में कुछ फेर-फार ज़रूर होने वाला है। अब इसके कुछ-कुछ चिह्न दिखलायी पड़ने लगे हैं। भारत की शुभ कामना की बाबत अब तक विलायतवासी कुछ भी ध्यान नहीं देते थे, परन्तु अब जिस तरह धीरे-धीरे भारत जाग रहा है, उसी तरह विलायत वालों की भी आँखें खुल रही हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत बहुत ठीक है। गुसाँईजी ने भी कहा है कि 'भय बिन होय न प्रीति'। जब से भारतवासियों ने स्वदेशी के मंत्र का जप करना आरम्भ कर दिया है, तब से विलायत वाले भी चौंक पड़े हैं। कोई तो हमें खरी-खोटी सुनाते हैं और सरकार को यह सलाह देते हैं कि भारतवासियों को गुलामी के पंजे में जकड़े रखना चाहिए। और कोई-कोई हमारी भलाई की भी चिन्ता करते हैं। हम इस समय इसी बात को ग़नीमत समझते हैं कि विलायत में भारत के लिए दो दल तो हो गए हैं। एक तो हमारे पक्ष का समर्थन करते हैं और दूसरे राज-पक्ष की डींग हाँकते हैं। अब से कई वर्ष पहले भारत की बहुत कम चर्चा पार्लमेण्ट में सुनायी पड़ती थी। यदि कोई मेम्बर भारत के विषय में कुछ कहता भी था, तो और मेम्बर उसकी बात को सुनी-अनसुनी करके वहाँ से उठ जाते थे। परन्तु अब वह बात नहीं है। स्वयं हमारे राजराजेश्वर महाराज ने अपने श्रीमुख से भारत की भलाई के लिए कुछ शब्द मुँह से निकाले। चाहे उन शब्दों में कुछ सार हो अथवा नहीं, उसके अनुसार कार्य हो सके अथवा न हो सके, परन्तु चर्चा तो होने लगी है। जिस बात का पहले कुछ पता भी न हो, यदि उसके कुछ चिह्न दिखलायी देने लगें तो कुछ न कुछ हमारी आशा-लता लहलहा उठती है। अब दब कर बैठ रहने का समय नहीं है। जो कार्य उत्तमत्तापूर्वक सच्चाई के साथ आरम्भ किया जावेगा, उसमें सफलता ज़रूर होगी। हमें अपने विचार और कार्य पर दृढ़ रहना चाहिए। विलायतवासी हमारे बारे में जो कुछ थोड़ी-बहुत चर्चा करने लगे हैं, वह सब हमारे ही कार्यों का फल है। विवेकी पुरुष को भविष्य की बातें बहुत सूझती हैं। विवेकी पुरुष आगा-पीछा सोच-समझ कर काम करता है। अतएव विलायतवासी विवेकी पुरुष सदैव हमारे कामों की ओर ध्यान रखते हैं। वे लोग हमारी दशा को बखूबी समझते हैं। हम उन्नति कर रहे हैं अथवा अवनत्ति, इस बात को वे खूब अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिए वे अपने जाति-बान्धवों को समझा कर सावधान करना चाहते हैं। परन्तु इससे हमको यह नतीजा न निकालना चाहिए कि बिना साहस अथवा उद्योग किये ही वे ख्वाहम-ख्वाह हमारे

पक्ष का समर्थन करेंगे, हम जितनी दृढ़ता के साथ अपना कार्य करेंगे, उतनी ही वे लोग हमारे साथ सहानुभूति प्रगट कर सकेंगे और हमें अपने कार्य में सफलता प्राप्त होगी। इसके लिए हम उदाहरण भी दे सकते हैं। इस वर्ष कांग्रेस के समय काशीजी में मालवीयजी ने एक नेशनल विश्व-विद्यालय खोलने का प्रस्ताव किया था और इसके लिए कुछ धन भी इकट्ठा हुआ, उस विद्यालय में लोगों को मुफ्त शिक्षा दी जावे, ऐसी भी चर्चा हुई थी। बंगाल में एक जातीय विद्यालय खुल भी गया है। भारतवासी अब अपनी सन्तान को स्वयं शिक्षा देना चाहते हैं और अपने भाइयों को मुफ्त शिक्षा देने का भी विचार कर रहे हैं। इसी बात का ख़याल करके भारत सरकार के दिल में खलबली मच गई। उसने तुरन्त स्थानिक सरकारों से इस बारे में लिखा-पढ़ी करके सलाह पूछी। इतना ही नहीं, वरन् पार्लमिण्ट में भी इस बाबत मि० रीस ने मार्ली साहब से प्रश्न किया है। हालांकि मार्ली साहब ने जैसा चाहिए वैसा इस सवाल का जवाब नहीं दिया, परन्तु तो भी उन्होंने यह कहा कि भारत में आरम्भिक शिक्षा मुफ्त दी जावे, इस बारे में भारत सरकार ने कागज़-पत्र मेरे पास भेजे हैं, मैं उनको बहुत जल्द पेश करूँगा। इसी तरह लेजिस्लेटिव कौंसिल के सुधार की बाबत सर हैनरी कॉटन साहब ने मार्ली साहब से प्रश्न किया। उसका उत्तर भी मार्ली साहब ने गोल-मोल ही दिया। उन्होंने कहा कि कौंसिलों के सुधार का विचार सरकार कर रही है। इस काम के लिए जो एज़ीक्यूटिव कमेटी नियुक्त हुई थी, उसकी रिपोर्ट पर विचार हो रहा है। उस रिपोर्ट में क्या लिखा है, इस बात को उन्होंने प्रगट नहीं किया। न मालूम क्या मसलहत समझकर इस बात को उन्होंने गुप्त रक्खा है। ये उदाहरण देने से हमारा यह मतलब है कि हमको अपना कार्य दृढ़ता के साथ करते रहना चाहिए। जितने अधिक हम दृढ़ रहेंगे, उतना ही हमें लाभ होगा। हमारे दृढ़ निश्चय रखने पर सरकार हमारी बातों को ज़रूर सुनेगी और हमें भी दृढ़ता और धैर्य द्वारा कार्य करने की शक्ति प्राप्त होगी। चाहे अभी सरकार हमारी बात को सुने अथवा न सुने, परन्तु हमारी योग्यता और दृढ़ता को देखकर सरकार को हमारी बात एक न एक दिन माननी ही पड़ेगी।

(चैत्राधिक-कृष्ण १२, सं० १९६४)

लाला लाजपतराय के पिता का पत्र

लाला लाजपतराय के वृद्ध पिता लाला राधेकिशन ने एक लेख 'आर्य-गज़ट' में लिखा है। लालाजी ने वेदान्ती होकर भी आर्यसमाज के साथ उचित सहानुभूति प्रगट की है। कई लोग समझते हैं कि लाला लाजपतराय के ही कारण आजकल गवर्नमेंट आर्यसमाज की ओर वक्रदृष्टि से देख रही है; परन्तु लाला राधेकिशनजी के लेख से जान पड़ता है कि असल बात इसके विरुद्ध है। आपका कथन है कि हिन्दुस्तान में आर्यसमाज ही एक ऐसी सोसायटी है जिसने मिशनरियों के पैर नहीं जमने दिए। पंजाब में समाज और पादरियों के बीच में प्रबल विरोध है। इन्हीं पादरियों ने आर्यसमाज के विरुद्ध ज़िला-हाकिमों के कान भर दिए थे, इसीलिए आर्यसमाज को इस आपत्ति का सामना करना पड़ा है। जिन सनातनधर्मी समाचारपत्रों ने इस विषय में हर्ष प्रकट किया है, उनसे लालाजी पूछते हैं, "अकाल के समय जिन हज़ारों हिन्दू अनाथों को लाजपतराय ने बचाया था, क्या वे आर्यसमाजी थे ? जिन पाठशालाओं तथा कालेजों में लाजपतराय सहायता देता था, क्या उनमें केवल आर्यसमाजी बालकों को ही शिक्षा दी जाती है ? काँगड़ा के भूकम्प के समय जिन निराश्रितों की रक्षा के लिए लाजपतराय ने इतनी शक्ति और धन व्यय किया था, क्या वे सब आर्य-समाजी थे ? जो मुसलमान इस समय, उनकी इस आपत्ति के समय, खुशी मना रहे हैं, क्या वे उनका एक भी ऐसा लेख या कथन प्रकट कर सकते हैं, जिसमें उन्होंने मुसलमानों के धर्म पर आक्षेप किया हो ?" अपने लेख के अन्त में लाला राधेकिशन लिखते हैं : "लाजपतराय का सबसे बड़ा अपराध यही था कि उन्होंने अपने देशवासियों की उन्नति करने में सहायता दी। यदि इसे अपराध कह सकते हैं तो मैं अपने प्यारे पुत्र के वियोग का दुःख सहन करने के लिए तैयार हूँ। परन्तु मैं इसे अपराध नही कह सकता। मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि मेरा पुत्र न तो राज-विद्रोही है, और न गवर्नमेंट के विरुद्ध कोई कार्य करने का अपराधी है। परन्तु अपने देशवासियों के लिए ही उसने अपना जीवन अर्पण किया है। यदि वे देशवासी उसकी सेवा का बदला न दें, तो भी कोई चिन्ता नहीं; ईश्वर उसके हृदय को अवश्य शान्ति देगा, और समय उसका बेक़सूर होना खुद सिद्ध कर देगा। झूठी रिपोर्टों से इस समय गवर्नमेंट की आँखों पर जो पर्दा पड़ा हुआ है, वह शीघ्र ही उठ जायगा। मैं गवर्नमेंट का कृतज्ञ हूँ कि उसने लाजपतराय को दण्ड तो दिया, परन्तु उसके शरीर को कोई कष्ट नहीं पहुँचाया। यदि जोश में आकर गवर्नमेंट देश से निकालने की

अपेक्षा और कुछ ज्यादती करती, तो इस बेचारे देशभक्त की कौन सहायता करता ?"

क्या लाला राधेकिशन के इस पत्र को पढ़कर भी उन लोगों को लज्जा न लगेगी, जिन्होंने धर्म-सम्बन्धी मत-भेद के कारण लाजपतराय की आपत्ति में सन्तोष प्रगट किया है ? लालाजी का यह लेख इन देशभक्त पिता और पुत्र, दोनों को सर्वसाधारण की आंखों में अधिक आदरणीय बनायेगा।

(ज्येष्ठ-शुक्ल ७, सं० १९६४)

विद्यार्थी और सरकार

यद्यपि हमारा यह दृढ़ मत है कि विद्यार्थियों को राजनैतिक आन्दोलन में नहीं पड़ना चाहिए, तथापि जैसा हम पहले लिख चुके हैं, हमारी राय में गवर्नमेंट के इस विषय में दखल देने से और वैसे कड़े नियमों के जारी करने से, जैसे 'रिज़ली सर्क्युलर' में लिखे गए हैं, सम्भावित भलाई से अधिक बुरे फल होने की सम्भावना है। हमको यह देखकर अत्यन्त खेद होता है कि उस सर्क्युलर के अनुसार इस प्रान्त में भी कार्यवाही होने लगी है। हमको यह मालूम हुआ है कि एक कालेज से दो विद्यार्थी इस दोष में निकाल दिये गए हैं कि उन्होंने राजनैतिक सभा में शामिल होकर या राजनैतिक वक्तृता देकर अपने कालेज की बदनामी करायी है। एक और कालेज से एक विद्यार्थी इसी अपराध में निकाला गया है। दो स्कूलों से दो विद्यार्थी ऐसा ही दोष लगाकर निकाले गए हैं। यह कार्यवाही न्याय और विवेक दोनों के विरुद्ध है। गवर्नमेंट के अधिकारी, कालेजों और स्कूलों के अध्यापक, शिक्षा-विभाग के प्रधानों को यह बहुत दिनों से मालूम था कि कुछ महीनों से कुछ विद्यार्थी राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होने लगे हैं। उनको मालूम था या मालूम होना चाहिए था कि उनमें से कुछ विद्यार्थी कहीं-कहीं व्याख्यान भी देने लगे हैं। जब तक 'रिज़ली सर्क्युलर' जारी नहीं हुआ था, तब तक न शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने, न किसी इंस्पैक्टर वा कालेज के प्रिंसिपल ने विद्यार्थियों को राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होने या राजनैतिक व्याख्यान देने को मना किया। इसमें हम गवर्नमेंट को दोष नहीं देते। जैसा उस सर्क्युलर में लिखा था, "गवर्नमेंट का यह विश्वास था कि विद्यार्थियों के माँ-बाप, अध्यापक और अधिक समझदार

या जल्दी बहकाने में न आने वाले विद्यार्थी इस बात को अवश्य समझ जायेंगे कि इस प्रकार युवकों में नियम-विरुद्ध काम करने और अधिकारियों से विरोध करने का भाव उत्पन्न होने से परिणाम में सच्ची शिक्षा की अवनति होगी और विद्यार्थियों की सांसारिक समृद्धि में बाधा पड़ेगी······। इसी विश्वास से इन हानिकारक परिणामों को दूर करने के लिए गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने कोई विशेष उपाय नहीं किया।" हमारी राय में यदि गवर्नमेंट इसी विश्वास में दृढ़ रहती और 'रिज़ली सर्क्युलर' जारी न करती, तो जिन बुराइयों का दबाना उचित है, वे शीघ्र दब जातीं। किन्तु इस बात का विचार दूर कर यह स्पष्ट है कि कई महीने तक कुछ विद्यार्थियों को उस मार्ग पर जाते देखकर भी, जिसको गवर्नमेंट कुमार्ग समझती है, उसने मना करने का यत्न नहीं किया; तो अब 'रिज़ली सर्क्युलर' के जारी होने के पीछे जो गवर्नमेंट और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की ओर से विद्यार्थियों को राजनैतिक आन्दोलन से अलग रखने के लिए पहला उपदेश और क़ानून है, विद्यार्थियों को यह दोष लगाकर कालेज या स्कूल से निकालना कि वे सर्क्युलर जारी होने के पहले किसी राजनैतिक आन्दोलन में शामिल हुए थे या उन्होंने कोई राजनैतिक व्याख्यान दिया था, सरासर अन्याय है। कोई शिष्ट पुरुष इस कृत्य का समर्थन नहीं कर सकता।

इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना या राजनैतिक व्याख्यान देना विद्यार्थी के लिए भी स्वतः कोई पाप नहीं। यदि उसमें कोई बात न्याय के विरुद्ध हो, तो उसके लिए शामिल होने वाला या व्याख्यान देने वाला दोष-भागी अवश्य होगा। किन्तु राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना या व्याख्यान देना ही न साधारण व्यावहारिक धर्म और न गवर्नमेंट के न्याय के विपरीत है। इससे कोई चरित्र पर कलंक नहीं लगता। इसलिए ऐसे आन्दोलन में शामिल होने या व्याख्यान देने मात्र के कारण कोई विद्यार्थी कालेज या स्कूल से किसी प्रकार निकाले जाने के योग्य नहीं। विवेकी जन विद्यार्थियों को, उन्हीं के हित के लिए, जब तक वे विद्यार्थी-अवस्था में हैं, राजनीति के बवंडर से अलग रखना चाहते हैं। और इसके लिए जब उनके माता, पिता, गुरु या अध्यापक उनको राजनीति में हाथ डालने को मना कर दें, तब उनको उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना एक अपराध है। किन्तु इनको ऐसी आज्ञा या उपदेश मिलने से पहले किये गए कामों के लिए, विशेषकर जब कि गवर्नमेंट और सर्वसाधारण सब जानते हैं कि उन अपक्वबुद्धि नवयुवकों ने कुछ राजनैतिक वक्ताओं के व्याख्यानों को सुनकर उसके प्रभाव में देश की सेवा की भावना से राजनैतिक बातों में हस्तक्षेप प्रारम्भ किया था, उनको दण्ड देना

सर्वथा अन्याय है। इस अन्याय का असर न सिर्फ विद्यार्थियों पर, अपितु उनके माता-पिताओं पर भी अच्छा नहीं होगा। और इससे, गवर्नमेंट का जो उद्देश्य है, उसके विपरीत फल पैदा होगा।

हम नहीं विश्वास कर सकते कि जो लड़के स्कूलों और कालेजों से निकाले जा रहे हैं, वे सर जान ह्यूएट की आज्ञा या जानकारी से निकाले जा रहे हैं। हम आशा करते हैं कि श्रीमान् इनमें से हर एक उस विद्यार्थी के विषय के, जिसके ख़िलाफ डिटेक्टिव पुलिस ने रिपोर्ट की हो, काग़ज़ात मँगवाकर स्वयं जाँच करेंगे, और जहाँ ज़रूरी हो, बालकों को जवाब का अवसर देकर उनको अन्याय से बचावेंगे। चेतावनी पाने से पहले विद्यार्थियों ने जो कुछ किया हो, उसपर ध्यान न देना ही न्याय और राजनीति है।

(आषाढ़-शुक्ल १३, सं० १९६४)

पराधीनता

हज़ारीबाग के डिप्टी कमिश्नर ने अपने ज़िले में कुछ शेरों के मारने के लिए शिकारी अँगरेज़ों को बड़ी ख़ातिर से बुलाया था। रेलवे स्टेशन पर पालकी भेजी गई थी, रास्ते के सारे डाक-बंगले और अँगरेज़ पाहुनों को प्रसन्न करने वाले विशनगढ़ के महन्त तक का पता दे दिया था। कुछ शेरों ने तीन आदमी और पाँच पशु मार डाले और प्रति शेर पर पाँच सौ रुपया इनाम रखा गया। इधर आगरे के पास एक खड्ड में एक शेर निकल आया। एक गँवार ने उस पर एक ईंट फेंकी। उसे भी शेर ने मार डाला। उसका लड़का लाठी लेकर गया था, वह भी मारा गया। पुलिस हल्ला-गुल्ला सुनकर आयी और अन्धाधुन्ध फायर करने लगी। शेर ने एक कांस्टेबिल का जबड़ा तोड़ दिया। इस पर आँख मीच कर फायर किया जाने लगा, जिससे एक गाँव वाले के गोली लगकर वह भी जान खो बैठा। इस पर भी शेर न मरा। वह ग्वालियर राज्य में भाग गया और अफ़सर उसके पीछे लगे हैं। ये दोनों खबरें २९ अगस्त के 'पायोनियर' से ली गई हैं। इन्हें पढ़ कर चित्त में बड़ी भारी ग्लानि और दुःख होता है कि अँगरेज़ी राज्य ने प्रजा को इतना कमजोर और निकम्मा बना दिया है कि किसी दिन उन्हें कुत्ते-बिल्ली भगाने के लिए भी पुलिस के हाथ जोड़ने पड़ेंगे और मज़ा यह कि इन बिना मौत मरने वालों के भाइयों की सेना लेकर

लाजपतराय लाहौर का क़िला खाली कराने चले हैं ! ऐसी गप्प अँगरेज़ों के दिमाग़ को पागल कर सकती है। गाँव वालों के पशुओं की बात दूर, खुद गाँव वालों को भी शेर बीन-बीन कर खा जाय—पर बचाव तब ही हो जब 'अफ़सर' जामाता की तरह मान करके बुलाये जायँ ! ओफ ! पराधीनता का कैसा नीचा स्वरूप है !!

(भाद्रपद-कृष्ण १४, सं० १६६४)

बा० बालमुकुन्द गुप्त

इस दु.ख के समाचार को लिखते हमारा हृदय विदीर्ण होता है कि हमारे प्रिय मित्र, हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध और लोकप्रिय लेखक, हिन्दी समाचार-पत्रों में रत्न 'भारतमित्र' के सम्मानित सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त, जिनके चुटीले और गम्भीर, सरस और कठोर, व्यंग से भरे और प्रौढ़ लेखों को पढ़कर हिन्दी भाषा के प्रेमी आनन्दित होते थे, २७ सितम्बर को देहली में थोड़ी ही अवस्था में समाप्त हो गए। कलकत्ता के दोषी जलवायु से हमारे मित्र का स्वास्थ्य कुछ दिनों से ख़राब हो गया था। अभी पन्द्रह ही दिन हुए, वे स्वास्थ्य सुधारने के विचार से दिल्ली आये थे। किन्तु औषधियों ने गुण नहीं किया, और वे अपने प्रिय पुत्रों को, अपने कुटुम्ब को और अनेक मित्रों और प्रशंसा करने वालों को दुःखी छोड़कर संसार से विदा हो गए।

बाबू बालमुकुन्द ने जिस प्रकार से समाचार-पत्रों द्वारा अपने देश की सेवा की है, वह बहुत लोगों को विदित है। जहाँ तक हम लोगों को मालूम है, इस समय कुल हिन्दुस्तान में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ही एक ऐसे पुरुष थे जो उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में समान योग्यता के साथ लेख लिखते थे। पहले वे 'अवध-पंच' और 'हिन्दुस्तानी' में लेख लिखा करते थे। अब पिछले समय में भी उर्दू के 'मख़ज़न' और 'ज़माना ऐसे प्रतिष्ठित रिसालों में उनके लेख छपा करते थे। वे उर्दू में भी वैसी ही सरल और सरस कविता करते थे, जैसी हिन्दी में।

जब से 'भारतमित्र' को बाबू बालमुकुन्द ने अपने हाथ में लिया, तब से उस पत्र की दिन-दिन उन्नति होती गई, और अब हिन्दी के समाचार-पत्रों में

भाषा के सरल, सरस और शुद्ध होने में कोई पत्र 'भारतमित्र' की बराबरी नहीं करता था। गवर्नमेंट की कार्यवाही पर बुद्धिमानी और निडरता, किन्तु सज्जनता के साथ, समालोचना करते थे। मनुष्यों को गम्भीरता और उपहास मे उनके दोषों को सुझाते और उनके छोड़ने का उपदेश करते थे। अभिमानी, पाखंडी और स्वार्थी जनों का निर्दयता के साथ भंड खोलते थे और उनकी चाल और जाल से प्रजा को सचेत करते थे।

बाबू बालमुकुन्द ने बड़ी सच्चाई, योग्यता और प्रतिष्ठा के साथ २५ वर्ष तक सम्पादकता का कार्य किया है। उनके लेखों का एक अच्छा उदाहरण प्रसिद्ध 'शिवशम्भु का चिट्ठा' है, जिसमें उन्होंने लार्ड कर्ज़न के अनुशासन और सचाई की ऐसी समालोचना की थी, जिसके प्रकाश होने पर धूम मच गई थी, और जिसका अँगरेज़ी में भी अनुवाद हुआ था। ऐसी विशिष्ट योग्यता के लेखक और सच्चे देश-हितैषी का थोड़ी अवस्था में हम लोगों के बीच में से चला जाना हिन्दी भाषा और देश का अभाग्य है!

बाबू बालमुकुन्द के कुटुम्ब के साथ हम बड़े दुःख के साथ सहानुभूति प्रकाश करते हैं।

(आश्विन-कृष्ण ६, सं० १९६४)

बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ......

विद्यार्थियों को राजनैतिक आन्दोलनों में पड़ने से रोकने के लिए जो 'रिज़ली सर्क्युलर' निकला था, उसमें यह स्पष्ट वाक्यों में लिखा हुआ था कि कालेज के विद्यार्थी राजनैतिक सभाओं में जा सकते हैं। केवल स्कूल के विद्यार्थी राजनैतिक सभाओं में जाने से रोके गए थे। उस सर्क्युलर का अभिप्राय कालेज के विद्यार्थियों को रोकने का नहीं था। यह अभिप्राय ऐसे स्पष्ट वाक्यों में प्रकाशित किया गया था कि इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। इस पर भी यहाँ म्योर सैण्ट्रल कालेज के प्रिंसिपल मि० जेनिंग्स ने यह आज्ञा-पत्र निकाला है:

In continuation of the order No. 153 dated the 16th August 1907, the undergraduate members of this College are informed that they must not attend any public meeting without the

previous permission of the Principal. Boarders must apply through their Superintendent who will use his discretion in recommending the applications and other students through their parents or guardians.

(Sd.) J. G. Jennings,
Principal,
Muir Central College.

इसमें कहा गया है कि बिना बी० ए० पास हुए कोई विद्यार्थी, जो बोर्डिंग-हाउस में रहने वाला है वह बिना बोर्डिंग-हाउस के सुपरिंटेडेंट की अनुमति लिये, और जो बोर्डिंगहाउस में नहीं रहते, वे बिना अपने माँ-बापों या अपने रक्षकों की अनुमति लिये, और अन्त में बिना प्रिंसिपल की आज्ञा के, किसी प्रकार की सभा में न जाने पावेंगे। हुक्म में यह भी लिखा गया है जो इन नियमों का उल्लंघन करेंगे, उनके साथ सख्त कार्यवाही की जायगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जेनिंग्स साहब का यह हुक्म गवर्नमेंट के हुक्म के विरुद्ध है। यदि गवर्नमेंट कालेज के विद्यार्थियों को भी राजनैतिक सभाओं में जाने से रोकना चाहती, तो इस बात को 'रिज़ली सर्क्युलर' में लिखने से उसे कौन रोक सकता था?

रिज़ली सर्क्युलर में केवल राजनैतिक सभाओं का ज़िक्र किया गया था, किन्तु मि० जेनिंग्स ने विद्यार्थियों को सब तरह की सभाओं में जाने से रोका है। क्या विद्यार्थी लोग बिना उनकी आज्ञा के साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक सभाओं में भी न जा सकेंगे?

लड़कों के चाल-चलन और उनके पढ़ने-लिखने के बारे में जितना लड़कों के माँ-बाप देख-भाल कर सकते हैं, उतना प्रिंसिपल नहीं कर सकते; और उनकी भलाई की जितनी चिन्ता उनके माता-पिताओं को होती है, उतनी प्रिंसिपल को नहीं हो सकती। प्रिंसिपल और विद्यार्थियों का सम्बन्ध उनके पास होकर कालेज छोड़ देने से टूट जाता है; किन्तु माता-पिताओं के साथ लड़कों का आजन्म सम्बन्ध है। इसलिए उनकी भलाई में उनके माता-पिताओं से अधिक चिन्ता करना अनावश्यक है। यही नहीं, अपितु यह सन्देह भी उत्पन्न करता है। कालेज के बाहर लड़कों की फ़िक्र करना उनके माता-पिताओं का ही काम है और उन्हीं के लिए सम्भव भी है। और लड़कों पर जितना अधिकार उनके माता-पिताओं का है, उतना प्रिंसिपल का कभी नहीं हो सकता। मान लीजिये कि कोई प्रसिद्ध वक्ता आये हैं, लड़का अपने पिता से उनका व्याख्यान सुनने के

लिए आज्ञा माँगता है। पिता आज्ञा दे देते हैं; किन्तु जब प्रिंसिपल साहब से आज्ञा माँगी जाती है तो प्रिंसिपल साहब इन्कार कर देते हैं। ऐसी अवस्था में लड़के और पिता दोनों को कितना बुरा लगेगा? लड़के का चित्त स्वभावतः प्रिंसिपल से खिन्न हो जायगा और वह उनकी आज्ञा के उल्लंघन करने का यत्न करेगा। ऐसे हुक्म से लाभ के बदले हानि ही होने की सम्भावना है।

(आश्विन-कृष्ण ६, सं० १९६४)

विकराल अकाल

पिछले दस वर्ष में हिन्दुस्तान की अभागी प्रजा में से सरकारी रिपोर्टों के अनुसार ५५ लाख प्राणी प्लेग के कलेवा बन चुके हैं। किन्तु इतने पर भी इस देश पर दव का कोप शान्त होता नही दीख पड़ता। पानी के कम बरसने से देश में एक बड़ा भयंकर अकाल उपस्थित है। एक फ़सल तो मारी ही जा चुकी है, किन्तु यदि अब भी पानी बरस जाय तो आगे की फ़सल की कुछ आशा हो जायगी। अँगरेजी राज्य इस देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से प्रारम्भ हुआ और वह शासन नब्बे बरस तक रहा। उस बीच में हिन्दुस्तान के किसी न किसी भाग में बारह बार अकाल पड़ा और चार बार बहुत महँगी की व्यथा भी हुई। किन्तु उन दिनों में अकाल की पीड़ा कम करने का कोई यत्न कम्पनी की ओर से नहीं हुआ। जब से इंग्लैंड की रानी ने हिन्दुस्तान का शासन अपने हाथ में लिया, तब से हिन्दुस्तान के किसी न किसी भाग में आठ बार अकाल पड़ा है। और एक बार बड़ी महँगी हुई थी, जिसकी दशा अकाल से थोड़ी ही कम थी। गवर्नमेंट ने सन् १८८० में एक फ़ैमिन-कमीशन नियुक्त किया और उस कमीशन ने इस बात को पूरी तरह पर स्वीकार किया कि गवर्नमेंट का यह धर्म है कि अकाल के समय में उन सब लोगों को सहायता दे, जिनको सहायता की आवश्यकता है। १८९७-९८ में जब बड़ा भयंकर अकाल पड़ा था, उस समय इस सिद्धान्त के अनुसार सर ऐण्टोनी मैकडानल ने इन प्रान्तों में अकाल से पीड़ित प्राणियों की सहायता का बहुत उत्तम प्रबन्ध किया। १८७३ के बिहार के अकाल के समय लार्ड नार्थब्रुक ने उदारता से प्रजा के बचाने का जो प्रबन्ध किया था, उसके उपरान्त सर ऐण्टोनी मैकडानल का प्रबन्ध ही सबसे उत्तम हुआ था। समस्त देश की प्रजा गवर्नमेंट का उस प्रबन्ध के लिए पूर्ण रीति से

धन्यवाद कर चुकी है। उसके उपरान्त १८९९-१९०० में जो मध्यप्रदेश, बरार, बम्बई, अजमेर, पंजाब में बहुत बड़ा अकाल पड़ा, उसमें इण्डिया फैमिन-कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार गवर्नमेंट ने पन्द्रह करोड़ के लगभग रुपया प्रजा की सहायता में व्यय किया। अब जो अकाल देश के सामने उपस्थित है, उसके लिए भी हम लोग आशा करते हैं कि प्रत्येक प्रान्त की गवर्नमेंण्ट जहाँ-जहाँ अकाल है, वहाँ-वहाँ प्रजा की सहायता के लिए उदार उत्तम प्रबन्ध करेगी। हमको यह देख कर सन्तोष होता है कि संयुक्तप्रान्त की गवर्नमेंट ने प्रजा को सहायता देने का प्रबन्ध प्रारम्भ कर दिया है। इस सबके लिए हम गवर्नमेंट का धन्यवाद करते हैं और करेंगे, किन्तु हम यह कहना अपना धर्म समझते हैं कि यद्यपि ऊपर लिखे उपाय प्रशंसनीय हैं, तथापि वे प्रजा को अकाल की आहुति होने से बचाने के लिए पूरे नहीं हैं। सर ऐण्टोनी मैकडानल का अति-प्रशंसित प्रबन्ध होने पर भी १८९७ के अकाल से मि० डिग्बी के अनुसार, ६० लाख से ऊपर प्राणी कम हुए थे। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि असंख्य मनुष्यों को भूख की आग में झुलस कर मरने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि गवर्नमेंट अकाल के समय देश से अन्न का विदेश जाना रोक दे। हम जानते हैं कि आज कल के इंग्लैंड के कुछ अर्थशास्त्र के पंडित हमारे इस प्रस्ताव का उपहास करेंगे; किन्तु प्रजा की रक्षा का भार गवर्नमेंट आफ इण्डिया के ऊपर है और उसके अधिकारियों का यह धर्म है कि वे इस प्रस्ताव को हिन्दुस्तान की प्रजा की गवर्नमेंट की आँख से देखें, न कि इंग्लैंड और योरुप के उन अर्थशास्त्र के पंडितों की आँख से, जिन्होंने हिन्दुस्तान की विशेष अवस्था पर विचार नहीं किया। यदि वे ऐसा करेंगे तो उनको यह निश्चय हो जायगा कि अकाल के समय में देश के अन्न को विदेश जाने से रोकना उनका प्रथम कर्तव्य है। रेलों के बनने से देश को बहुत लाभ हुआ है। एक प्रान्त में अकाल पड़ने से दूसरे प्रान्त से जो अन्न सहज मे पहुँचा दिया जाता है, यह रेलों के बनने का एक बड़ा अनमोल लाभ है। किन्तु जो रेलों का बनना एक अंश में प्रजा के लिए हितकारी है, वही दूसरे अंश में उनके लिए अत्यन्त अहितकर हो रहा है। यह रेलों ही का सुभीता है जिसके कारण रैली ब्रादर्स के समान अन्न के व्यापारी हिन्दुस्तान के गाँव का अन्न खींचकर अपने स्वार्थ के लिए विलायत को भेजते हैं। इसका एक विषमय फल यह हुआ है कि अब इस देश में, जहाँ अन्न बहुतायत से होता है, बारह महीने अकाल का सा भाव छाया रहता है और सबसे अधिक हृदय को बेधने वाली बात यह है कि जब कि एक विकराल अकाल देश के सामने खड़ा हुआ है, उस समय भी प्रति सप्ताह लाखों मन अन्न हिन्दुस्तान से विलायत को ढोया चला जाता है। हम विश्वास के साथ

यह कह सकते हैं कि यदि गवर्नमेंट हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रजा की सम्मति पूछे, तो थोड़े-से गिने-चुने पुरुषों को छोड़कर, जो अन्न को देश के बाहर भेज कर और अपने जाति-भाइयों को पीड़ा पहुँचा कर लाभ उठाते हैं, सब लोग एक स्वर से यह कहेंगे कि अन्न का निष्कंटक देश से बाहर जाना बन्द करना प्रजा के प्राण की रक्षा के लिए पहली आवश्यकता है।

यह मत जो हमने ऊपर प्रकाश किया है, इसके समर्थन में हम मिस्टर हारेसवेल के उस व्याख्यान का स्मरण दिलाते हैं, जो उन्होंने १९०१ में लन्दन की 'सोसाइटी ऑफ आर्ट्स' के सामने पढ़ा था। उनका मत जितना आदर पाने के योग्य था, उतना उसने उस समय नही पाया। किन्तु बार-बार पड़ते हुए अकाल और गवर्नमेंट का सहायता पहुँचाने का प्रबन्ध होने पर भी उनसे होती हुई असंख्य प्राणियों की प्राण-हानि, मिस्टर वेल के प्रस्ताव का पूर्ण रूप से समर्थन करती है। हम यह नही कहते कि अन्न का विदेश जाना सब दिन के लिए बन्द कर देना चाहिए। हम केवल यही कहते हैं कि अन्न के विदेश जाने के विषय में वैसे विवेकयुक्त क़ानून बनाये जाँय जैसे कि इंग्लैंड में उस समय जारी किये गए थे, जब वहाँ उनकी आवश्यकता थी। सन् १७७१ के क़ानून के अनुसार इंग्लैंड में ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि जब गेहूँ ४४ शिलिंग का एक क्वार्टर तक बिकने लगे, तब गेहूँ का देश से बाहर भेजना बन्द कर दिया जाय। १७९१ में अन्न का दूसरा क़ानून इंग्लैंड मे बना था, उसके अनुसार जब गेहूँ ४६ शिलिंग का एक क्वार्टर बिकने लगता था, तब उसका बाहर भेजना बन्द कर दिया जाता था। इस नीति से इंग्लैंड के निवासियों को कितना लाभ पहुँचा, इस बात को लैकी ने अपने 'इंग्लैंड के इतिहास' के छठे भाग में बहुत अच्छी तरह दिखाया है। इसी उदाहरण को लेकर यदि गवर्नमेंट ऐसा क़ानून बना दे कि जब गेहूँ देश में रुपये का बारह सेर बिकने लगे, तब गेहूँ का विदेश जाना बिल्कुल बन्द कर दिया जाय और जब पन्द्रह सेर तक बिकता रहे तब तक बाहर जाने वाले गेहूँ पर टैक्स लगा दिया जाय, तो ऐसा करने से गेहूँ के उपजाने वालों को कोई हानि नही पहुँचेगी और प्रजा बारह महीने महँगी की व्यथा से और दुर्भिक्ष के समय अकाल-मृत्यु से बचेगी। इसी प्रकार से चावल तथा अन्य भोजन के पदार्थों के विषयों में नियम बनाना चाहिए। हम आशा करते हैं कि मनुष्य जाति के हित के लिए हमारे इस प्रस्ताव पर गवर्नमेंट उचित गौरव के साथ विचार करेगी।

(कार्तिक-कृष्ण ४, सं० १९६४)